प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक : महताबराय, नागरी मुद्रण, काशी
संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण, १५०० प्रतियाँ
संवत् २०१४ वि०, मूल्य ५||)

भूमिका

आचार्य श्री चंद्रबली पांडेय जी की विशिष्ट कृति 'तुलसीदास' का प्रकाशन करते हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इसका पहला संस्करण शक्ति कार्यालय, ७६३ दारागंज, प्रयाग से प्रायः नौ दश वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत द्वितीय संस्करण में पांडेय जी ने प्रथम संस्करण के पश्चात् गोस्वामी तुलसीदास पर प्रकाशित पुस्तकों तथा अपने विस्तृत अध्ययन और निरंतर गंभीर चिंतनमनन के परिणामस्वरूप पर्याप्त संशोधन और परिवर्द्धन कर दिया है। तुलसीदास जी के जीवनवृत्त के संबंध में पांडेय जी की एक स्वतंत्र पुस्तक 'तुलसी की जीवनभूमि' नाम से प्रायः तीन चार वर्ष पूर्व ही सभा से प्रकाशित हो चुकी है; अस्तु, उसके प्रकाश में प्रस्तुत पुस्तक के 'जीवन वृत्त' शीर्षक पहले अध्याय में संशोधन और परिवर्द्धन स्वाभाविक ही था। तीसरे अध्याय का नाम पहले संस्करण में 'संवाद' था जो प्रस्तुत संस्करण में 'मानस की विशिष्टता' हो गया है और इस अध्याय में भी पांडेय जी ने पर्याप्त संशोधन और परिवर्द्धन किया है। अन्य अध्यायों में भी यत्रतत्र संशोधन और परिवर्द्धन कर दिया गया है जिससे प्रस्तुत पुस्तक अद्यतन और सर्वांगपूर्ण बन गई है और तुलसी के अध्येताओं के लिये बड़ी उपयोगी प्रमाणित होगी।

इधर पिछले कुछ वर्षों से रामचरितमानस के संबंध में यह विवाद उठ खड़ा हुआ है कि मानस वस्तुतः पुराणकाव्य है या महाकाव्य। पांडेय जी को इस विवाद में कुछ सार नहीं दिखाई पड़ा और उन्होंने अपना दो टूक मत व्यक्त कर दिया कि—

'शिव पार्वती के कारण जहाँ मानस आगम ग्रंथ है वहीं याज्ञवल्क्य, भारद्वाज और कागभुसुंडि गरुड़ के कारण पुराण भी; तुलसी के कारण वह काव्यग्रंथ है ही; फिर उसकी रचना में इतनी ऊहा क्यों?' [पृ० ८७]

बात बिल्कुल ठीक है, परंतु इतना ऊहापोह केवल इसी कारण है कि कतिपय विद्वान् मानस के आगम तत्व और पुराण तत्व को या

तो देख नहीं पाते अथवा जानबूझकर आँख से ओझल हो जाने देते हैं और उसमें केवल काव्य तत्व ही देख पाते अथवा देखना चाहते हैं। पांडेय जी ने मानस के तीनों तत्वों आगम तत्व, पुराण तत्व और काव्य तत्व को स्पष्ट रूप से देख लिया था, इसीलिये तो वे इतने निःसंशय भाव से कह सके कि 'फिर उसकी रचना में इतनी ऊहा क्यों!' उन्होंने ठीक ही अनुमान लगाया है कि 'अभी तक तुलसी के (की) संवादयोजना पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है।' (पृ० ८७) और उन्होंने मानस की संवादयोजना पर बड़े ही विस्तार से गवेषणा-पूर्ण सूक्ष्म विवेचन किया है।

हिंदी के कितने ही विद्वान् समालोचकों ने रामचरितमानस को शुद्ध काव्य प्रमाणित करने के लिये उसमें शास्त्रसंमत सभी रसों की स्थिति दिखाने का प्रयास किया है। पांडेय जी का इस विषय में भी अपना निश्चित मत है कि—

'रस की दृष्टि से इसमें (रामचरित मानस में) सर्वसुलभ रस नहीं, इसमें तो 'रसविशेष' ही है जो अपने सच्चे रूप में किसी रामभक्त को ही प्राप्त होता है।' [पृ० १०२]

यहाँ सर्वसुलभ रस से पांडेय जी का तात्पर्य काव्यशास्त्र संमत नव रस से ही है और 'रस विशेष' से तात्पर्य भक्ति भावना के रस से है जो केवल भक्त ही प्राप्त कर सकता है।

तुलसी के मानस के संबंध में एक दूसरी भ्रांति का निराकरण भी पांडेय जी ने बड़े स्पष्ट ढंग से किया है। मानस के प्रारंभ में ही गुसाईं जी ने लिखा है।

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषानिबद्धमतिमंजुलमातनोति ॥

इस सूत्र को पकड़कर कतिपय विद्वानों ने निश्चय किया कि कवि ने मानस की रचना किसी विशेष उद्देश्य, अपने सिद्धांत के प्रतिपादन के लिये नहीं की, वरन् कवि के अंतर से यह रचना शुद्ध काव्य के रूप में अपने आप फूट निकली है जिसमें उनके विचार और सिद्धांत भी प्रतिबिंबित हो गए हैं। पांडेय जी ने स्पष्ट शब्दों में इसका प्रतिवाद किया है। वे लिखते हैं—

'तुलसीदास की कोई भी रचना मनमानी नहीं हुई है और न हुई है किसी मंदिर में बैठकर केवल कीर्तन करने के लिये ही। उनकी सभी रचनाओं का कोई न कोई उद्देश्य है और किसी न किसी लक्ष्य को भेदने के निमित्त ही उनकी लेखनी उठी तथा वाणी फूटी है।' [पृ० ६६]

पांडेय जी का यह विचार उनकी पिछली धारणा से पूर्णतः संगत है कि मानस आगम भी है, पुराण भी है और काव्य भी है। परंतु जो विद्वान् मानस के आगमतत्व और पुराणतत्व को स्वीकार करने में असमर्थ हैं, उनके लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि मानस को वे 'स्वांतःसुखाय' मानें और किसी विशेष उद्देश्य अथवा विशेष सिद्धांत के प्रतिपादन के लिये किया गया प्रयास न मानें। पांडेय जी ने स्पष्ट ढंग से इसका निराकरण कर दिया है।

तुलसीदास जी ने भाषा से भाव और भाव से भक्ति को अधिक महत्व दिया है। इस बात से किसी भी विचारशील विद्वान् का विरोध नहीं हो सकता, परंतु जब इसी तथ्य को लेकर पांडेय जी मानस के प्रारंभ में ही आदिकवि बाल्मीकि की वंदना में कहे गए इस सोरठे

बंदहुँ मुनिपद कंज, रामायण जेहि निरमयउ।
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित॥

के अंतिम अंश 'दोषरहित दूषन सहित' का यह अर्थ लेते जान पड़ते हैं कि बालमीकि रामायण दूषण (दोष) से युक्त होते हुए भी दोपरहित है और रामायण के दोषरूप में उसमें भक्तिभावना का अभाव लेते हैं तो सहसा चमत्कृत रह जाना पड़ता है। इस सोरठे का जो सामान्य अर्थ किया जाता है कि आदि कवि का रामायण दूषण (रावण के भाई खरदूषण में से एक) का उल्लेख करते हुए भी दोष-रहित है, पांडेय जी को संभवतः अमान्य नहीं है; परंतु जैसे वे यह भी संकेत कर देना चाहते हैं कि दूपण का अर्थ यदि दोप भी लिया जाय तो गोसाईं तुलसीदास की दृष्टि से रामायण में एक दोष भी है— उसमें भक्ति का अभाव है। स्वयं पांडेय जी के शब्दों में देखिए—

यहाँ 'दूपन सहित' में जो दोष देखा गया है, वह यही है कि इसमें भाषा और भाव तो अपूर्व है पर वह भक्ति नहीं जो भगवान् से झट

मिला दे। भक्ति के कारण तुलसीदास की इस अनूठी रचना में जो रस आ गया है वह सर्वसुलभ नहीं; सच्चे रामभक्त अधिकारी को ही प्राप्त है। यही कारण है कि रामचरितमानस की कविता की सहज गति में यह भक्ति बहुतों को खटक जाती है और तुलसी का यह विधान उनको भली भाँति भा नहीं पाता। [पृ० १७३–७४]

यदि रामभक्तों को वाल्मीकि के काव्य में भक्ति का अभाव खटक सकता है तो मानस की रचना में यदि यह भक्ति बहुतों (काव्य प्रेमियों) को खटके तो फिर उसकी शिकायत हो क्यो। परंतु सच तो यह है कि वाल्मीकि की रचना में भक्ति का यह अभाव अभी तक किसी को भी खटका न था और उसमें खटकने की कोई बात भी नहीं है।

दुर्भाग्य की बात है कि ऐसे गंभीर अध्येता और विद्वान आचार्य चंद्रबली पांडेय जी आज हमारे बीच नहीं रहे। प्रायः एक मास पूर्व २४ जनवरी, १९५८ को वे अपनी इहलीला समाप्त कर परलोक सिधारे। पांडेय जी का पार्थिव शरीर चाहे चिता में भस्म हो गया परंतु उनका यशःशरीर उनकी विद्वत्तापूर्ण रचनाओं में सर्वदा अमर रहेगा। आज सभा की ओर से, अपने सहयोगियों और मित्रों की ओर से उन कृती साहित्यकार को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मैं विनयावनत हो रहा हूँ। भगवान उनकी आत्मा को अमर शांति दे।

२१–२–१९५८
दुर्गाकुंड, वाराणसी-५

श्रीकृष्ण लाल
साहित्य मंत्री

दुइ आखर

तुलसी के अध्ययन की बात मन में कब बसी इसे ठीक ठीक नहीं कह सकता। तो भी इतना तो जानता ही हूँ कि बचपन में ही इसका सूत्रपात हो गया था। गाँव के बूढ़ों को अँगुली से टो टो कर जब रामचरितमानस को पढ़ते देखता तो अपने मन में भी कुछ ऐसा ही करने की भावना होती। कुछ पढ़ लिख जाने पर देखता क्या हूँ कि कुछ अहीर के बालक भी इसी लालच से एक सज्जन के पास 'ककहरा' सीखने आते और रात में घंटे दो घंटे अपना समय अ आ और क ख में लगाते। और सयाना होकर तुलसी के गुणगान में लगा तो, पर उसकी सच्ची छाप उस दिन स्वर्गीय आचार्य पंडित रामचंद्रजी शुक्ल से सुना यह कि जी में होता है कि अवसर प्राप्त करने पर चित्रकूट में रहूँ और संध्या समय 'रामचरितमानस' की कथा कहूँ—व्यासों की भाँति नहीं, सीधे सीधे शब्दों में 'मानस' का मर्म समझाने के लिये। इतने दिन बीत गए पर तुलसी के अध्ययन की साध पूरी न हुई। पढ़ने का अवसर भी इतना न मिला कि कुछ ठौर ठिकाने से लिखता और किसी प्रकार मन को संतोष देता। यदा कदा कुछ अवलोकन करते रहते तथा लुक-छिप कर विद्यार्थियों के पूछते रहते का परिणाम उन्हीं के हित से जनता के सामने है। इसकी समय समय पर जो प्रेरणा श्रीरामबहोरी शुक्ल की ओर से मिली है उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं, पर श्रीज्ञान-वती त्रिवेदीजी की लेखनी ने जो काम किया है उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती। वास्तव में यह उन्हीं के हाथ का प्रसाद है जो तुलसी की उपासना में बँटा है। यदि उनका हाथ मेरी वाणी को रूप न देता तो यह 'तुलसीदास' भी आपके सामने न होता। श्री पद्माजी का योग भी इसमें कुछ न कुछ रहा है। अतः उनका भी कृतज्ञ हूँ। अंत में अपने प्रिय पाठकों से कहना यही है कि वस्तुतः यह अध्ययन नहीं 'दुइ बोल' है जो 'परीक्षा' और 'शोध' को दृष्टि में रखकर अपने स्थान से निकल पड़ा है और अब आपकी आँख में जा बसा है। इसमें त्रुटियाँ अनेक और भूलें भी बहुत हैं। दोष का भी अभाव नहीं। परंतु

विश्वास है कि भाव की शुद्धता, अनुशीलन की चेष्टा और जीवन के उद्योग के कारण लेखक और छापक का श्रम वृथा न जाएगा और जो मन लगाकर देखेगा उसके पल्ले तो भी कुछ अवश्य पड़ेगा—खरा या खोटा इसका निर्णय उसका राम जाने। अपना राम तो यही कहता है कि इसी बहाने इतना हो गया यही क्या कम है। महँगी के जमाने और कागद के दुकाल में यदि पुस्तक का रंग भी बदलता रहा तो 'घाट' क्या पड़ी ! इस जन को तो सदा 'दुइ आखर' का ही बल रहा है न ?

गुरु पूर्णिमा
संवत् २००५ विक्रम
काशी

स्व० आचार्य पं० चंद्रबली पांडेय

विषय सूची

२—रचना

३—मानस की विशिष्टता

४—चरित्र चित्रण

१०—वर्ण्य विचार

———

तुलसीदास

जीवन-वृत्त

विश्व-साहित्य में महात्मा तुलसीदास का चाहे जो स्थान हो पर हमारे हृदय में उनका जो स्थान है वह किसी भी देश में किसी भी कवि के प्रति किसी का क्या होगा ! नाभादास जैसे संत पारखी ने कुछ सोच समझकर ही इनके संबंध में लिख दिया है—

अवतार

> कलिकुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि "तुलसी" भयो।
> त्रेता काव्य निबंध करिय सत कोटि रमायन।
> इक अक्षर उद्धरैं ब्रह्महत्यादि परायन।
> अब भक्तनि सुख दैन बहुरि लीला बिस्तारी।
> राम चरन रस मत्त रहत अह निसि ब्रतधारी।
> संसार अपार के पार को सुगम रूप नवका लयो।
> कलिकुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि "तुलसी" भयो॥

श्री भक्तमाल, पृ० ७६२

'बाल्मीकि तुलसी भयो' में जो बात कही गई है उसकी चर्चा तो आगे चल कर होगी। बताना तो यहाँ यह है कि प्रियादास ने इसकी टीका में तुलसीदास के रूप की व्याख्या न कर उसके जीवन के विषय में कुछ बता कर, इसकी पूर्ति भर की है। प्रियादास का कथन है—

> तिया सो सनेह, बिनु पूछे पिता गेह गई,
> भूली सुधि देह भजे, वाही ठौर आये हैं।
> बधू अति लाज भई, रिसि सा निकसि गई,
> प्रीति राम नई, तन हाड़ चाम छाये हैं।
> सुनी जब बात मानौ होइ गयौ प्रात,
> वह पाछे पछितात, तजि काशीपुरी धाये हैं।
> कियौ तहाँ बास, प्रभु सेवा लै प्रकास कीनौ,
> लीनौ दृढ़ भाव, नैन रूप के तिसाये हैं।

सौच जल सेस पाय, भूतहू विशेस कोऊ,
बोल्यो सुख मानि, हनुमान जू बताये हैं।
'रामायन' कथा, सो रसायन है काननि कौ,
आवत प्रथम, पाछे जात, घृना छाये हैं।
जाय पहिचानि, संग चले डर आनि,
आये वन मधि, जानि, धाय, पायँ लपटाये हैं।
करैं तिरस्कार, कही "सकौगे न टारि, मैं तो,
जाने रससार" रूप धर्यौ जैसे गाये हैं।
"मांग लीजै वर" कहीं "दीजै राम भूप रूप,
अति ही अनूप नित नैन अभिलाखियै।
कियौ लै संकेत वाही दिन ही सो लाग्यो हेत,
आई सोई समै चेत "कब छबि चाखियै।"
आए रघुनाथ, साथ लछिमन, चढ़े घोरे,
पट रंग बोरे हरे कैसे मन राखियै।
पाछे हनुमान आय बोले 'देखे प्रान प्यारे'?
"नेकु न निहोर मैं तो भलें फेरि भाखियै"
हत्या करि विप्र एक तीरथ करत आयौ,
कहै मुख "राम, भिक्षा डारियै हत्यारे कौं।"
सुनि अभिराम नाम धाम मैं बुलाय लियौ,
दियौ लै प्रसाद कियौ सिद्ध गायौ प्यारे कौं।
भई द्विज सभा कहि बोलि कै पठाये आप,
कैसे गयौ पाप, संग लैके जेंयें, न्यारे कौं।
"पोथी तुम बांचौ हिये सार नहीं सांचौ,
अजू ताते मत कांचौ दूर करै न अंध्यारे कौं॥"
देखी पोथी बांच, नाम महिमा हूँ कहीं साँच,
ऐपै हत्यै करै कैसें तरै कहि दीजिये।
"आवै जौ प्रतीति कहौ", कही याके हाथ जेवैं,
शिव जू कौ बैल तब पंगति मैं लीजियै।"
थार मैं प्रसाद दियौ चले जहाँ पन कियौ,
बोले "आप नाम कै प्रताप मति भीजियै।
जैसी तुम जानो तैसी कैसे कै बखानो अहो"

सुनि कै प्रसन्न पायौ जै जै धुनि रीझियै ॥
आये निसि चोर, चोरी करन हरन धन,
देखे श्यामघन हाथ चाँप सर लिये हैं।
जब जब आवैं बान साधि डरपावैं,
ऐसौ प्रीत मँड़रावैं ऐपै बली दूर किये हैं।
मोर आय पूछैं "अजू! सावरो किशोर कौन ?"
सुनि करि मौन रहैं, आँसू डारि दिये हैं।
दै सबैं लुटाय, जानी चौकी राम राय दई,
लई उन्हौं दिच्छा सिच्छा सुद्ध भए हिये हैं ॥
कियौ तन विप्र त्याग तिया चली संग लागि,
दूरहीं ते देखि कियो चरन प्रणाम है।
बोले यों "सुहागवती", मर्यौ पति होऊँ सती"
"अब तौ निकसि गई ज्याऊँ सेवौ राम है।"
बोलिकैं कुटुंब कही "जो पै भक्ति करौ सही,
गही तब बात जीव दियौ अभिराम है।
भये सब साधु व्याधि मेटी लै विमुखता की,
जाकी बास रहै तौ न सूझै श्याम धाम है ॥
"दिल्लीपति पातसाह अहदी पठाये लैन ताकौ,
सो सुनायौ सूबै विप्र ज्यायौ जानियै।
देखिबे कौं चाहै नीकै सुख सो निबाहै,
आय कही बहु बिनै गही चले मन आनियै।
पहुँचे नृपति पास, आदर प्रकास कियौ,
दियौ उच्च आसन लै, बोल्यो मृदु बानियै।
दीजै करामात जग ख्यात सब मात किये,
कही "झूठ बात एक राम पहिचानियै ॥
"देखैं राम कैसौ" कहि, कैद किये, किये हिये,
"हूजिये कृपाल हनुमान जू दयाल हो।"
ताही समै फैलि गये, कोटि कोटि कपि नये,
लोचैं तन खोंचै चीर भयो यों विहाल हो।
फोरैं कोट, मारैं चोट, किए डारैं लोट पोट,
लीजै कौन ओट जाय मान्यौ प्रलय काल हो।

भई तब आँखैं, दुख सागर कौं चाखैं
अब वेई हमैं राखैं भाखैं वारो धन माल हो ॥
आय पाय लिये "तुम दिये हम प्रान पावै,"
आप समझावैं "करामात नैकु लीजिये।"
लाज दबि गयौ नृप, तब राखि लयौ, कह्यौ,
"भयौ घर राम जू कौ बेगि छोड़ दीजिये।"
सुनि तजि दयौ और कर्यौ लैं कै कोट नयौ
अबहूँ न रहै कोऊ वामैं, तन छीजियै।
काशी जाय, वृंदावन आय मिले नाभा जू सो,
सुन्यो हो कवित्त निज रीझ मति भीजियै ॥
मदन गोपाल जू कौ दरसन करि कही,
"सही राम इष्ट मेरे दृष्टि भाव पागी है।"
वैसे ही सरूप कियौ, दियौ लै दिखाइ रूप,
मन अनुरूप छवि देखि नीकी लागी है।
काहू कही, "कृष्ण अवतारी जू प्रसंस महा
राम अंस," सुनि बोले "मति अनुरागी है।
दशरथ सुत जानौ, सुन्दर अनूप मानौ,
ईशता बताई रति बीस गुनी जागी है॥"

वही, प्रियादास की टीका

प्रियादास ने तुलसीदास के जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसको कुछ इतिहास के साथ देखना हो तो 'पद प्रसंगमाला' के इस अवतरण को लें—

नागरीदास की साखी

"एक समय तुलसीदास जू काशी नगर रहैं, तहां सहज ही एक ओर बहिर भूमि कौं गयो करते, अवसेष जल रहतो सो नित्य ही एक वृक्ष के मूल मैं डार्यो करते, तामैं एक प्रेत रहतो, सो जल करि तृप्त होतो, वह एक समैं उनकौं प्रतच्छ भयौ, अरु कह्यौ कि मैं प्रेत हूँ, तुम मोकौं जल करि तृपत करत हौ सो बड़ो गुन करत हौ, मैं हूँ तुमसों गुन करूंगौ, या ओर कौं रामायण की कथा होय हैं, तहां हनूमान जू आवै हैं, यह उनकी परीक्षा हैं, घोरे दुर्बल वृद्ध ब्राह्मन के स्वरूप, सब श्रोतनि के पहिलै तो आवैं हैं, अरू पाछैं जाये हैं, तुलसीदास जू यह सुनि अरू वे कथा सुनि जात हे, तहां उनके पांवनि सीस दैकैं पांव गहि रहे, हनूमान जू बहुत नटे कह्यो मैं वृद्ध ब्राह्मन हूँ,

मोसूं कहा कहैं, इनिन पाव नाहीं छांडे तब हनूमान जू ने कही, तू चाहत है सो मांगि, अरु मेरो पैंडो छोडि, तब तुलसीदास जू कही, मोकूं श्री राम लक्ष्मण जू को दरसन करावो, तब हनूमान जू कही बहुत चिंता करि कह्यो, तैं बहुत दुर्लभ वस्तु मांगी भला कहा कीजे, इच्छा उनहीं की, तब बहिर एक वन मैं टीवा बतायो, तू या परि जाय बैठि, इहां तोकूं दरसन होयगो, तहां तुलसीदास जी बैठे, सहित आरत देषत रहे, इते ही मैं श्रीराम लक्ष्मण जू मनुष्य को स्वरूप या भांति किये आगें आय निकसे, मलीन तौ वस्त्र हैं, हाथ मैं धनुहीं अरु तीर हैं, एक मृग मार्यो हैं, ताकौं उलटायें लियें जायहैं, लोही गिरत जाय हैं, तब तुलसीदासजू उनतैं निजर टारि भूमी की ओर देखीरहे, चित्त मैं कह्यो असे निर्दइन मनुष्यौं कों मैं कहा देषुं, अब वेग निकस जाहिंगे सो या भांति श्रीराम जी तो निकसि गये, अरु ए तिनके पाछैं बहुत वेर लौं बैठे, श्रीराम जू के आयबे को मारग देष्यो करे, फेर तहां हनूमान जू को दरसन वाही भांती होत भयो, तिनसौं इन कहीं मोकूं श्रीराम जी को दरसन कह होइगो, मैं बहुत बेर को बैठ्यौं, तब हनूमान जूनैं कहीं, वे मृगयावा-रेनि को स्वरूप कियैं श्रीराम लक्ष्मण ही हे, तब तुलसीदास जू रोवन लगे, बहुत पश्चाताप कियो, अरू वाही समय को तब ही एक पद बनायो। सो वह यह पद—

लोचन रहे बैरी होय।
जानि पूछ अकाज कीनौं दये भुव मैं गोय।
अवगति जू तेरी गति न जानू रह्यो जागत सोय।
सबै रूप के अवधि मेरे निकस गये दिग होय।
कर्महीनहिं पाय हीरा दयो पल में षोय।
तुलसीदास श्रीराम विछुरैं कहो कैसी होय॥ १॥

पुनः अन्य पद प्रसंग—वैष्णव श्री तुलसीदास जी श्री राम उपासिक रहे, तहां कोई एक स्त्री हुती, सो सती हौन कौं जात ही, तानैं मारग मैं तुलसीदास जू सौं दंडौत करी, तब इन कह्यो सौभाग्यवती होहु, यह कहत ही वाको पति जीय उठ्यो, यह बात सुनी पातसाह जहांगीर तुलसीदास जू सौं बुलाय कही, कछु करामात दिषावो, तब इन कही हम करामात तो कछू जानैं नहीं, तब इनकौं कैद करि राषे, ता समै राजा अनीराय बड़गूजर तुलसीदास जू के पास आये, बीनती

कीनी, जु महाराजा ऐसौ कीजियैं हिंदवन के मारग की घटती न दीसैं अरू आगै तैं कोई वैष्णवन कौं संतावैं नहीं, तापर इननि एक नयो पद बनाय वाकौं गांवन लगे, ताही समै अगनित बांदर उपद्रव करत पातिसाह की दृष्टि परे, तब पातिसाह भय मानि इनके पाइनि आनि परिकै छमा करवाइ सीषदई, चलतीबेर तुलसीदास जी नैं यह आग्या कीनीं कि यहां श्रीराम जी के सेवक हनुमान को परकर आयो सो यह ठौर उनकी भई, तुम और ठौर जाय रहो, यहां तुम्हारे ही कुटुंब के बंदीवान ह्वै रहैंगे, यह सुनि पातिसाह ने सलेमगढ़ छोड़ि दयो सो अब तक भी पातिसाह के कुटुम्ब के उहां कैद रहतु हैं सो जा पद कौं बनाय गाये तैं यह लीला भई सो वह यह पद—

तुम्हहिं न ऐसी चाहिये हनुमान हठीले।
साहिब सीताराम से तुमसे जु वसीले।
तुमरे देखत सिंघ के सिसु मैंडुक लीले।
जानति हूँ कलि तेरेऊ मनु गुन गन कीले।
हांक सुनत दसकंध के भये बन्धन ढीले।
सो बल गयो किधौं भये अब गरब गहीले।
सेवक को परदा फटैं तुम समरथ सीले।
सांसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले।
तिहूँ काल तिनको भलो जे राम रंगीले ॥ २ ॥

पुनः अन्य पद प्रसंग—वैष्णव तुलसीदास जू सो श्रीरामचंद्र जू के उपासिक महा अनन्य, ऐसे जू और अवतारी अवतारनि के गुन बर्नन न करैं न औरनि के गुन सुनैं, स्वइछा सौं न औरनि के स्वरूप को जाय दरसन करैं, अरु और महानुभाव बड़े जो प्रीति करि दरसन कूं ले जांहिं, तो उनको अनादर हूँ कैसैं करैं, पाछैं जांहि परंतु बिना श्रीरामचंद्र जू के स्वरूप औरनि कौं दंडवत नाहीं करैं, एक समय श्री गोवर्धन आय निकसे, तहाँ श्री गुसाईं तुलसीदास जू कौं, श्री गोवर्द्धन नाथ जू के दरसन कौं लैं गये तहां दरसन करि तुलसीदास जू यह दोहा कह्यो—

॥ दोहा ॥

कहा कहौं छबि आजु की भले बने हौ नाथ।
तुलसी मस्तक जब नमै, धनुष बान ल्यौ हाथ ॥ १॥

सो श्रीठाकुर तो भक्ति आधीन वाही समय धनुषबाँन हाथ लियैं सबिन की दृष्टि परे, तब तुलसीदास जू ने दंडवत करी, अरु सबनि के मन मैं इनकी ओर को बड़ो उत्कर्ष आयो, अरु सबनि कही, जो भक्तिनि के विषैं आश्चर्य कहा, आगैं तो ठाकुर अपनी प्रतग्या हू मेटि भक्त भीषम जू की प्रतग्या राषी ही, सो ऐसी औट पाई अनन्यता तो इनहीं सैं बनि आवैं, अरु या बारता परि जो कोऊ सन्देह उठावैं जु अवतारनि के बिसैं भेदाभेद क्यौं चाहिये, सो याकी यह बार्ता हैं जु सास्त्र ही की तो आज्ञा हैं, अरु अनन्यता की अरु सास्त्र ही की आज्ञा है, भेदाभेद न राषिबे की, सो दोऊ ही सत्य हैं ऐश्वर्ज बुद्धि मैं तो भेद नहीं अरु आसक्ति उपासना भेद त्रिन क्यौ बनैं ताको दृष्टांत जो जा राजा के नगर के लोग तथा देस के लोग हौंहिं तिनकौं तो राजा के त्रिषैं तथा राजा के पुत्र के त्रिषैं तथा मंत्रीस्वरनि कैं विषैं एक राजा ही के सरीर तुल्य जांनिबे की बुद्धि चाहियैं, यह जानैंजु यह सब राजा ही को स्वरूप हैं, अरु राजा की स्त्रीनि कौं यह बुद्धि न चाहिये, वे यह बुद्धि राषै तो दोष लगैं, यातैं सास्त्र कही सो जथापात्र दोऊ ही सत्य हैं, सो तुलसीदास जू ऐसे महा-अनन्य हे तिन सौं काहू वैष्णव मित्र नै बहुत कही, जो महाराज तुम्हारी ऐसी कबिता अरु तुम श्री कृष्ण चन्द्र को कोऊ एक हू पद बनायो नाहीं, सो ऐसैं कहत कई दिन तो निकासे फिर उनकौ बहुत आग्रह जानि एक पद बनायो, तामैं हूं श्री रामचंद्र जू की मिश्रतता छांडी नाहीं, सो यह पद सुनि कितेक रसिकनि कौं बहुत चाह भयो, पद बहुत प्रसिद्धता पाई, सो वह यह पद—

बरनौं अवधि गोकुल ग्राम।

उत विराजत ज्यानकी बर इतहि स्यामा स्याम।
उहां सरजू बहत अद्भुत इहां जमुना नीर।
हरत कलिमल दोऊ मूरत सकल जन की पीर।
मनि जटित सिर क्रीट राजत संग लक्ष्मनि बाल।
मोर मुकटरु बैन कर ह्या निकट हलधरि ग्वाल।
उहां षेवट सखा तारे बिहसि कैं रघुनाथ।
इहां नृग जदुनाथ तारस्यो कूप गहि निज हाथ।
उहां सिबरी स्वर्ग दीनौं सील सागर राम।

इहां कुबजा ल्याय चंदन किये पूरन काम।
भक्ति हित श्रीराम कृष्ण सु धर्‍यो नर अवतार।
दास तुलसी दोऊ आसा कोऊ उतारो पार।

नागर समुच्चय, पृष्ठ २००-२०५

नागरीदास ने स्थिति को स्पष्ट करने का जैसा प्रयत्न किया है वैसा ही हाथरस के तुलसी साहिब ने भी। तुलसी साहिब अपने आपको गोस्वामी तुलसीदास का अवतार बताते हैं पर

तुलसी का नवीन रूप

उनका अवतार वैसा नहीं जैसा कि महात्मा तुलसीदास का वाल्मीकि का अवतार है। उनका पक्ष तो कुछ और ही है और लक्ष्य भी कुछ और ही। देखिए, उनका पक्ष है—

"मैं अब अपनी आदि बताओं। अपनी बिथा आदि गति गाओ॥
जग व्यौहार जगत जग राही। तब उपजा विधि कहौं बुझाई॥
राजापुर जमुना के तीरा। जहँ तुलसी का भया सरीरा॥
विधि बुन्देलखंड वोहि देसा। चित्रकोट बीच दस कोसा॥
संबत पंद्रासै नावासी। भादौ सुदी मंगल एकादसी॥
भया जनम सोइ कहौं बुझाई। बाल बुद्धि सुधि बुधि दरसाई॥
तिरिया बरत भाव मन राता। त्रिधि बिधि रीत चित्त संग साथा॥
ज्ञान हीन रस रंग संग माता। कान्हकुब्ज बाम्हन मोरी जाता॥
जगत भाव ऊँचा सब भाँते। कुल अभिमान मान मदमाते॥
मोटा मन कछु चीन्ह अचीन्हा। ज्ञान मत्ते मत रहौं मलीना॥
एक विधी छित रहौं सम्हारे। मिलै कोइ संत फिरौं तेहि लारे॥
संत साथ मोहि नीका भावै। ज्ञान अज्ञान एक नहिं आवै॥
अब आगे का सुनौ बिधाना। ताकी बिधी कहौं परमाना॥
संवत् सोलासै थे चौदा। ता दिन भया अगम का सौदा॥
सावन सुदी नौमी तिथि बारी। आधी रात भई गति न्यारी॥
बिजुली चमक भई उजियारी। कड़का घोर सोर अति भारी॥
मन में बहु बिधि भर्म समाया। यह अजगुत कहौ कहँ से आया॥
राति बीति गइ भयउ बिहाना। मन अचरज सोइ कहौं बिधाना॥
पुनि प्रति रोज रोज अस होई। एक दिवस सूरति चढ़ि जोई॥
नील सिखर गुरुद्वारे नाहीं। निरखा अचरज कहा न जाई॥

कहँ लगि कहौं बिधि बिधि डंडा। पुनि सब निरखि परा ब्रह्मंडा ॥
गंगा जमुना और त्रिबेनी। कंवल माहि सतयुग की सैनी ॥
पद्म प्रयाग अगमपुर बासा। सतगुरु कंज सुरति पद पासा ॥
तीनि लोक भीतर सब देखा। कहौं कहां लगि बिधि बिधि लेखा ॥
जो ब्रह्मंड भरा जग मांई। सो देखा अब घट में जाई ॥

× × × ×

अब आगे बिधि सुनौ विधाना। ताकी बिधी कहौं परमाना ॥
ऐसे कइ दिन बीति सिराने। राजापुरी जगत सब जाने ॥
लोग दरस को नित नित आवैं। दास भाव सबको उपजावैं ॥
नर नारी सब आवै भारी। दरसन करैं सिपारस भारी ॥
हिरदे अहीर कासी का बासी। रहै राजापुर नौकर पासी ॥
वोहु प्रतिदिन दरसन को आवै। प्रीति बडी हित कहा न जावै ॥
राति दिवस दिन दिन रहै पासा। तुलसी बिना और नहिं आसा ॥
एक दिवस भई ऐसी रीति। कासी गये बहुत दिन बीति ॥
हमरा चित हिरदे में बासी। हम चलि गये नग्र जहँ कासी ॥
संवत सोलसै रहे पंद्रा। चैत मास बारस तिथि मंगरा ॥
पहुँचे कासी नगर मंझाई। हिरदे सुनत दौड़ि चलि आई ॥
आये चरन लीन्ह परसादी। बिधि बिधि रहन कुटी की साधी ॥
कुटी बनाय कीन्ह अस्थाना। कासी में हम रहे निदाना ॥
गंगा निकट कुटी जहँ कीन्हा। हिरदे नित आवै लौलीना ॥
सतसंग रंग राइ रस पीना। हम पुनि वस्तु अगम की दीन्हा ॥
अस अस कछु दिन कासी माईं। रहे तहाँ पुनि सहज सुभाई ॥
सोलासै सोला मै सोई। कातिक बदी पंचमी होई ॥
आये पलक राम इक संती। रहे कासी में नानक पंथी ॥
गुष्टि भाव बिधि उनसे कीन्हा। खुसी भये मारग को लीन्हा ॥
घट रामायन ग्रन्थ बनावा। ताकी बिधी दिवस सब गावा ॥
सम्मत सोलासै अट्ठारा। उठी मौज ग्रन्थ कियौ सारा ॥
भादौं सुदी मंगल एकादशी। आरंभ कियो प्रथम मत भासी ॥
सुनि कासी में अचरज कीन्हा। सोर नगर में भयो अलीना ॥
पंडित जग्त जैन अरु तुरका। भयौ झगरा आइ कासीपुर का ॥
पंडित भेद जग्त मिलि सारा। घट रामायन परी पुकारा ॥

जो कुल झगरा रीति जस भाँती। जस जस भया दिवस अरु राती॥
ता से ग्रंथ गुप्त हम कीन्हा। घट रामायन चलन न दीन्हा॥
या से संत मते की रीती। जग्त अजान न जानै प्रीती॥
संमत सौलासै इकतीसा। राम चरित्र कीन्ह पद ईसा॥
ईस कर्म औतारी भावा। कर्म भाव सब जगहिं सुनावा॥
जग में झगरा जाना भाई। रावन राम चरित्र बनाई॥
पंडित भेष जग्त सब भारी। रामायन सुनि भये सुखारी॥
अंधा अंधे बिधि समझावा। घट रामायन गुप्त करावा॥
अब कहौं अंत समय अस्थाना। देह तजी बिधि कहौं बिधाना॥

॥ दोहा ॥

सम्मत सोलासै असी, नदी बरुन के तीर।
सावन सुकला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर॥"

'घट रामायन', पृष्ठ ४१४-४१८

तुलसी का जन्म

तुलसी साहिब ने इस प्रकार अपने अतीत का जो इतिहास कहा है वह राजापुर से काशी तक ही रह गया है और उसमें उनके अतिरिक्त केवल दो मूर्तियों का नाम आया है—एक हृदय अहीर और दूसरा पलकराम नानकपंथी का। इन व्यक्तियों से शोध के क्षेत्र में किसी प्रकार का कार्य अभी तो नहीं लिया जा सकता, आगे की राम जाने। हाँ, इसमें जो तिथियाँ दी गई हैं उनसे कुछ काम अवश्य लिया जा सकता है। उनमें भी दो तिथियाँ संवत् १६३१ और संवत् १६८० तो अति प्रसिद्ध हैं। शेष के विषय में अवश्य छानबीन करने की आवश्यकता है। इनमें से पहली तिथि है संवत् १५८९ भादौं सुदी एकादशी मंगलवार। श्री माताप्रसाद गुप्त का कहना है कि विगत संवत् वर्ष प्रणाली से यह तिथि ठीक है इसके अतिरिक्त दो तिथियाँ और हैं जिनके संबंध में उन्होंने अपना निर्णय दिया है। काशी-आगमन की तिथि और 'घट रामायण' की रचनातिथि भी ठीक नहीं उतरती। इनके अतिरिक्त अन्य तिथियों का ठीक ठीक ब्योरा नहीं दिया गया है जिससे उनकी भी ठीक ठीक जाँच हो सके। तुलसी साहिब के अवतार की बात कुछ विचित्र सी प्रतीत होती है; किंतु तो भी यह तो कहा नहीं जा सकता कि उन्होने जो कुछ लिखा है यों ही लिख

दिया है। नहीं उसका भी कुछ न कुछ आधार तो होगा ही। तुलसीदास की निधन-तिथि वस्तुतः क्या थी इस पर आगे चलकर विचार होगा। यहाँ ध्यान देने की बात 'सावन सुकला सप्तमी' नहीं 'नदी बरुन के तीर' है। अभी तक तुलसीदास का निधन 'असी गंग के तीर' ही माना जाता था। तो क्या इसमें कुछ तुलसी साहिब से भूल हुई है ?

तुलसी साहिब ने हाथरस में बैठकर जो तुलसीदास का जन्म राजापुर में लिख दिया तो राजापुर को इससे और भी महत्व मिल गया। प्रायः लोग परंपरा (?) से राजापुर को ही तुलसीदास का जन्मस्थान मानते आ रहे हैं। पर इधर कुछ दिनों से 'सोरों सामग्री' की कृपा से कुछ लोग सोरों को तुलसीदास का जन्मस्थान मानने लगे हैं। 'सोरों सामग्री' ऐसी नहीं कि उसको आँख मूँदकर मान लिया जाय। सच तो यह है कि 'मूल गोसाईं चरित' और 'सोरो-सामग्री' एक ही चट्टेबट्टे की सूझ हैं। अंतर उनमें केवल इतना ही है कि 'मूल गोसाईं चरित' एक पोथी के रूप में है और 'सोरों-सामग्री' अनेक पोथियों के पत्रों में। 'सोरों-सामग्री' के बारे में बहुतों ने बहुत कुछ लिखा है—पक्ष में भी, विपक्ष में भी। परिणाम यह हुआ है कि धीरे-धीरे लोगो का विश्वास उससे उठ चला है। इसमें संदेह नहीं कि तुलसी के कुछ प्रेमियों ने तुलसी के लिये जब तब कुछ जाल भी कम नहीं रचा है। जो हो, कहना हमें यह है कि 'सोरों-सामग्री' और 'मूल गोसाईं चरित' को प्रमाण के रूप में नहीं पक्षविशेष के आग्रह के रूप में ही ग्रहण करना चाहिये।

सोरों का संकेत

सोरों के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि बाँदा के 'गजेटियर' में तुलसीदास को सोरों का निवासी कहा गया है और श्रीनंदलाल दे ने भी इसको ठीक समझा है। परंतु विचार से देखा जाय तो 'गजेटियर' का पक्ष भी पुष्ट नहीं ठहरता। उसका कहना है—

"कहा जाता है कि अकबर के शासनकाल में (सं० १६१३ से १६६२ तक) एक संत, जिसका नाम तुलसीदास था, और जो सोरों, तहसील कासगंज, जिला एटा का निवासी था, यमुनातट के उस जंगल में आया जहाँ इस समय राजापुर आबाद है और वहाँ पर ईश्वर-प्रार्थना और ईश्वरध्यान में दत्तचित्त रहने लगा। उसके पुनीत आचरण से

प्रभावित होकर अनेक उसके अनुयायी हो गए, जो उसके समीप रहने लगे, और जब उनकी संख्या और बढ़ी वे व्यापार और धर्माचरण में लगे।

यह वही तुलसीदास थे जिन्होंने रामायण की रचना की और कसबे में उनका मकान अब भी दिखाया जाता है। यह वस्तुतः एक कच्ची इमारत थी, किंतु अब पुनर्निर्मित हुई है और इसमें एक स्मारक और एक किंचित् खंडित प्रति रामायण की है। स्मारक के साथ थोड़ी सी मुआफी प्राप्त है, किंतु इस समय के मुआफीदार अनपढ़ और झगड़ालू हैं और आदरणीय कवि की धार्मिक पवित्रता तथा उदारता की उन भावनाओं को प्रसार देने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करते जिनका उपदेश कवि किया करता था। उक्त स्मारक में एक प्रस्तरमूर्ति भी है जो कवि की प्रतिमूर्ति कही जाती है, और जिसकी उत्पत्ति दिव्य बताई जाती है, और यह कहा जाता है कि यह मूर्ति राजापुर के निकट बालू में गड़ी हुई प्राप्त हुई थी। स्थानीय जनश्रुति कहती है कि तुलसीदास का परिचय राजापुर से उस महेवा गाँव के एक ब्राह्मण घर में विवाह के कारण हुआ जो (तहसील सिराथू जिला इलाहाबाद में है।) राजापुर में कुछ ऐसी विचित्र प्रथाएँ प्रचलित हैं जो तुलसीदास के उपदेशों से निकली हुई हैं कोई भी पत्थर या ईंट का मकान बनाने नहीं पाता, धनी से धनी लोग भी कच्चे मकानों में रहते हैं, केवल मंदिर ईंट के बनते हैं, नाई कस्बे में आबाद नहीं होने पाते और बेड़िनियों के अतिरिक्त दूसरी किसी नर्तकियों की जाति उसमें रहने नहीं पाती। कुम्हारों को भी मकान बनाकर रहने के विषय में प्रतिबंध है और तमाम घड़े और मिट्टी के बर्तन बाहर से आते हैं। यह नियम अब अवश्य ही इतने ढीले पड़ गये हैं कि केवल तुलसीदास के मकान के पास पड़ोस तक ही सीमित माने जाते हैं।"

तुलसीदास, पृष्ठ १२८–२६

इस अवतरण में ध्यान देने की बात यह है कि जो अंश कोष्ठ में है वह सं० १९६६ का है और शेष सं० १९३१ का।

इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'गजेटियर' लेखक ने सोरों का पता अपने आप ही दिया होगा अथवा उस लेख से लिया होगा जिसके आधार पर उसने उसका निर्माण किया है—मूल में सोरों किंवा

सूकर खेत का नाम रहा होगा और लेखक ने उसका निर्देश तहसील कासगंज, जिला एटा में अपनी ओर से कर दिया होगा। जो हो, दूसरे संस्करण में कुछ और भी तुलसीदास के संबंध में उसमें जोड़ दिया गया है और अब गजेटियर में उसको यह रूप मिल गया है। ध्यान रहे, श्री नंदलाल दे ने भी इस सोरों को तुलसी का निवास ही माना है, कुछ जन्मस्थान नहीं। जन्मस्थान तो उन्होंने भी राजापुर को माना है, उनका कहना है कि तुलसीदास जो संवत् १५८६ में राजापुरी में उत्पन्न हुए थे और बचपन में ही त्याग दिए गए थे सोरों में ही संन्यासी नृसिंहदास के द्वारा पाले पोसे गए। अस्तु, इतना और भी स्मरण रहे कि तुलसी साहिब सोरों के निकट ही थे, पर सोरों को तुलसीदास का जन्मस्थान नहीं मानते। मानते क्या, उसका उल्लेख तक नहीं करते। तो क्या राजापुर की जनश्रुति किसी और सोरों को तुलसीदास का जन्मस्थान बताती है?

जन्मस्थान

स्मरण रहे, तुलसीदास ने अपने जन्म के विषय में तो कुछ न कुछ प्रसंगवश जैसे तैसे कह भी दिया है पर अपने जन्मस्थान के बारे में कहीं कुछ भी नहीं कहा है, और यदि कहीं कुछ कहा भी है तो सूकरखेत के बारे में इतना ही—

"मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहि तस बालपन तब अति रहेउँ अचेत।"

इससे इतना तो प्रकट होता है कि बालपन में तुलसीदास ने अपने गुरु से सूकर खेत में कथा सुनी थी, किंतु इससे यह प्रकट नहीं होता कि तुलसीदास का जन्म भी सूकरखेत में ही हुआ था।

तुलसीदास के जन्मस्थान की चिंता अभी छोड़ देखना यह चाहिए कि तुलसीदास ने अपने जन्म के विषय में कुछ कहा है अथवा नहीं। सो सौभाग्य की बात है कि तुलसीदास ने अपने जन्म के विषय में बार बार कहीं न कहीं, कुछ न कुछ कहा है। कहते हैं—

"जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।

तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनत सिहात सोच बिधि हू गनक को।
नाम राम रावरो सयानो किधौं बावरो जो,
करत गिरी तें गरु तन ते तिनक को।
कवितावली, उत्तरकांड–७३

इस 'कुल मंगन' की जानकारी के लिये इतना और जान लें कि

माता-पिता

तुलसीदास अपने माता-पिता के विषय में भी कुछ विशेष ही बात बताते हैं। उनका कहना है—

मातु पिता जग जाय तज्यो बिधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर कूकर टूकन लागि ललाई।
राम सुभाउ सुन्यो तुलसी प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई।
स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सों साहब खोरि न लाई।
कवितावली, उत्तरकांड–५७

एवं—

नाम राम रावरोई हित मेरे
स्वारथ परमारथ साथिन सों भुज उठाइ कहौं टेरे।
जननी जनक तज्यो जनमि करम बिन बिधिहू सृज्यो अवडेरे।
मोहुँ से कोउ कोउ कहत रामहि को सो प्रसंग केहि केरे?
फिर्यौ ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहि हेरें।
नाम-प्रसाद लहत रसाल-फल अब हौं बबुर बहेरे।
साधत साधु लोक परलोकहि, सुनि गुनि जतन घनेरे।
तुलसी के अवलंब नाम को एक गांठि कई फेरे।
विनयपत्रिका, २२७

तुलसीदास के इस 'तज्यो' का अर्थ क्या है, इसका ठीक ठीक समाधान आज तक न हो सका। तुलसीदास ने अन्यत्र भी कहा है—

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद, परि पाहूं।
हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख-दोष-दलन-छम, कियो न संभाषन काहूं।
तनु-जन्यो कुटिल कोट ज्यो तज्यो मातु पिता हूं।
काहे को रोस दोष काहि धौं मेरे ही अभाग मोसों सकुचत छुई सब छाहूं।

दुखित देखि संतन कह्यौ सोचै जनि मन माहूं।
तोसे पसु पांवर पातकी परिहरे न सरन गये रघुबीर ओर निबाहूं।
तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिना हूं।
नाम की महिमा सीलनाथ को मेरो भलो बिलोकि अवतें सकुचाहु सिहाहूं॥

विनयपत्रिका, २७५

इस पद में 'ज्यों' से कुछ आशा बँधी तो देखा कि 'कुटिल-कीट ज्यों' और भी विकट हो गया। पहले लोगों ने संभवतः 'अभुक्त-मूल' की प्रेरणा से 'कुटिक-कीट' का अर्थ किया था सर्पिणी, परन्तु अब कुछ लोग सोरों-सामग्री के आधार पर इसका अर्थ लगाते हैं 'केंकड़ा', और कहते हैं कि केंकड़ा को सोरों के आस पास कुटिला कहते हैं। कुटिला का निधन जनमने से हो जाता है। बिच्छू के बारे में तो प्रसिद्ध ही है—

"केरा बिच्छी बांस, अपने जनमले नास।"

तो क्या इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि माता का निधन तो तुलसीदास के जन्म से ही हो गया और पिता का कुछ दिन बाद। यदि 'हूं' का संकेत केवल पिता से हो तो इस अर्थ की संगति बैठ जाती है और 'भयो परिताप पाप जननी जनक को' के 'परिताप' और 'पाप' का रहस्य भी क्रमशः खुल जाता है। माता को 'परिताप' हुआ तो पिता को 'पाप'। पाप का अर्थ पाप कर्म लगाना उचित नहीं प्रतीत होता। नहीं, इसका अर्थ 'अहो पापं' का पाप ही है जो हो 'हूं' का संकेत माता-पिता दोनों के लिये समझ पड़ता है इसकी पूरी जानकारी के लिये 'तुलसी की जीवनभूमि' नामक पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए।

तुलसीदास ने अन्यत्र भी कहा है—

तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरो।
सुनहु राम, बिनु रावरे, लोकहुं, परलोकहुं कोउ न कहुं हित मेरो।
अगुन अलायक आलसी जानि अधम अनेरो।
स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक-औचट उलटि न हेरो॥

विनयपत्रिका, पद-२७२

तुलसीदास ने यहाँ 'स्वारथ के साथिन' का उल्लेख किया है और यह भी स्पष्ट कह दिया है कि 'तिजरा' के 'टोटक' की भाँति उन्हें छोड़ दिया गया और फिर उनकी ओर मुड़कर कभी देखा भी नहीं गया। कारण, अपनी अयोग्यता बताते हैं। इससे प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने 'स्वारथ के साथिन' का संकेत माता-पिता के अतिरिक्त अन्य संबंधियों के लिये किया है। तुलसीदास ने अपनी अयोग्यता का जहाँ तहाँ जो परिचय दिया है वह इतना अतिरंजित है कि उसकी यथार्थ व्याप्ति का ठीक ठीक पता लगाना अत्यंत कठिन है। तुलसीदास ने अपने आप ही कह भी दिया है कि बिना विनय के राम नहीं मिलते। गरीबी के बारे में उनका कथन है—

स्वारथ के साथी

नाथ गरीबनिवाज हैं मैं गही न गरीबी।
तुलसी प्रभु निज ओर तें बनि परै सो कीबी।

विनयपत्रिका, पद–१४८

साथ ही अपने आप ही इतना और भी कहते हैं—

पुर पाँउ धारि हैं उधारि हैं तुलसी हूँ से जन,
जिन जिन जानि के गरीबी गाढ़ी गही है।

गीतावली, अयोध्या पद–४१

इन विरोधी बातों की ओर ध्यान दिलाने का उद्देश्य यह है कि हम तुलसीदास की स्वकथित जीवनी पर विचार करते समय विशेष सावधानी से काम लें और उससे कुछ निष्कर्ष निकालने में सदा सतर्क रहें। निदान कहना पड़ता है कि तुलसीदास ने अपनी दीनता का जो चित्रण किया है वह चाहे जितना अति की ओर मुड़ा हो पर है वस्तुतः कुछ न कुछ यथार्थ ही। तुलसी को अपने स्वार्थी संबंधियों ने ऐसा छोड़ दिया कि फिर कभी उनकी ओर भूलकर देखा नहीं। उनके हृदय में इसका जो संताप था उसको दूर करने के लिये उनको संतों का आश्वासन मिला और उनको विश्वास हो गया कि राम की शरण में जाने से सब संकट दूर हो जाता है। तुलसी ने इसका भी उल्लेख किया है। कहते हैं—

द्वार हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा आरि और न कौर ही तें काज ॥१॥

कलि कराल दुकाल दारुन सब कुभाँति कुसाज।
नीच जन, मन ऊंच, जैसी कोढ़ मे की खाज ॥२॥
हहरि हिय मैं सदय बूझ्यो जाइ साधु समाज।
मोहु से कहुँ कतहुँ कोऊ तिन्ह कह्यो कोसलराज ॥३॥
दीनता-दारिद दलै को कृपा-बारिधि बाज।
दानि दसरथराय के तुम बानइत सिरताज ॥४॥
जनम को भूखो भिखारी हौ गरीब-निवाज।
पेट भरि तुलसिहिं जेवाइय भगति सुधा सुनाज ॥५॥

विनयपत्रिका, पद–२१६

संत-शरण

इस पद में जो 'हहरि हिय मैं सदय बूझ्यो जाय साधु समाज' की घटना प्रस्तुत हुई है उसको और भी निकट से देखने के लिये तुलसीदास का यह कथन लें—

राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यौ राम,
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।
रोटी लूगा नीके राखैं, आगे हू की बेद भाखैं,
भलो ह्वैहे तेरो ताते आनंद लहत हौं।
बाँध्यौ हौ करम जड़ गरब गूढ़ निगड़,
सुनत दुसह हौ तौ साँसति सहत हौं।
आरत-अनाथ नाथ कौशल-पाल कृपाल,
लीन्हीं छीनि दीन देख्यो दुरित दहत हौं।
बूझ्यो ज्योंही कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वैहो रावरो जू
मेरो कोऊ कहूँ नाहि, चरन गहत हौं।
मींजी गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक-सुखद सदा बिरद बहत हौं।
लोग कहैं पोच सो न सोच न संकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे,
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं।

विनय पद ७६

तुलसीदास की लोकरीति पर विचार करने के पहले ही इतना और जान लेना चाहिए कि तुलसीदास का सम्बन्ध 'रामचरितमानस' के 'एक तापस' से भी कुछ है वा नहीं। सो प्रसंग है—

एक तापस

तेहि अवसरु एक तापस आवा। तेज पुंज लघु बयस सुहावा।
कवि अलषित गति वेषु बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी।

सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेव पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि।

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंकु जनु पारस पावा।
मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तनु कह सब कोऊ।
बहुरि लषन पायन सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमँगि अनुरागा।
पुनि सिय चरन धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा।
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेहु मुदित लखि राम सनेही।
पियत नयन पुट रूप पियूखा। मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा।

और इस पर काशी के प्रसिद्ध रामायणी श्री विजयानंद त्रिपाठी की यह टीका—

"इस अंश को प्रक्षिप्त कहना अनुचित नहीं है क्योंकि—

(१) तीरवासियों की बातचीत में अकस्मात तापस का आ पड़ना, ग्रन्थकर्ता का, अपनी परिपाटी के विरुद्ध, उस वार्ता को अधूरी छोड़कर, तापस का मिलन वर्णन करने लगना, तत्पश्चात् उसकी विदाई बिना दिखाये ही उक्त वार्ता का शेष अंश कहने लगना।

(२) तापस को सीताजी का आशीर्वाद देना।

(३) उसकी बिदाई कहीं भी न कहना और रामायण भर में उसका उल्लेख फिर कहीं न आना। ये सभी बातें असमंजस हैं।

(४) अयोध्याकांड भर में यह नियम है कि २४ दोहे के बाद, पचीसवें दोहे के स्थान पर एक छंद और एक सोरठा रहते हैं। यह क्रम इन चार चौपाइयों और एक दोहे के बढ़ जाने से बिगड़ जाता है, और छब्बीसवें दोहे के स्थान पर छंद और सोरठा आ पड़ते हैं।

(५) बाबू रामदास गौड़ के मत से यह प्रसंग ५१०० चौपाइयों के बाहर जा पड़ता है।

परन्तु सिवा इन युक्तियों के और कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है जिससे कि इसे प्रक्षिप्त कह सकें। सभी प्राचीन प्रतियों में यह अंश मौजूद है। संदेह तो सभी प्रेक्षावानों को इस स्थल पर होता है, पर इसकी प्राचीनता के नाते किसी को यह साहस नही हुआ कि इसे क्षेपक की भाँति मूल से अलग कर दे, केवल बाबू रामदास गौड़ ने इसे मूल में स्थान नहीं दिया है।

मैं बाबू साहिब से सहमत होते हुए भी इसे मूल से पृथक् करने का साहस नहीं कर सकता और ऐसा न करने की अपनी युक्तियाँ लिखकर निर्णय पाठको पर छोड़ता हूँ, यदि वे संतुष्ट हों तो इसे मूल का अंश मान सकते हैं।

(१) एक तो यह वाणी गोसाईं जी की मालूम पड़ती है।

(२) दूसरे यह प्रसंग उस समय का है जब रामजी प्रयागराज से चित्रकूट जा रहे हैं। रास्ते मे यमुना मिलीं। वहीं से बटुओं को बिदा करके भगवान यमुना पार उतरे। यह स्थान गुरौली घाट के आसपास रहा होगा। कवि की जन्मभूमि राजापुर यहाँ से निकट है। कौन कह सकता है कि अपनी जन्मभूमि के निकट अपने इष्टदेव का आना वर्णन करते करते भाव के आवेश में कवि के लिये भूत वर्तमान में परिणत न हो गया हो, और आप···अपने इष्टदेव के चरणकमलों में 'परेउ दंड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि' की दशा को न प्राप्त हो गये हों। 'कवि अलाषत गति वेष विरागी।' से भी यही ध्वनित होता है। यहाँ का कवि शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है और कहीं उल्लेख न आना, बिदाई न कहना आदि शंकाओं का समाधान सहज मे ही हो जाता है।

(३) तीसरे यह भी संभव है कि कवि ने पीछे से इसे रामचरित-मानस के बाहर की बात समझकर, मूल का गिनती में न रक्खा हो।

(४) चौथी बात यह है कि अपनी रचना में गोस्वामी जी ने किसी नियम को निभने नहीं दिया है। सब कांडों के आरंभ में श्लोक हैं, लंकाकांड में श्लोकों के भी पहले दोहा है। इसी भाँति अयोध्या-कांड के भी नियम नहीं निभे हैं।"

इसमें तो संदेह नहीं कि इस तापस के प्रसंग से सीधे रामचरित की कोई विधि नहीं बैठती और इससे रामकथा में कोई योग भी नहीं

चरितमानस में जो तापस हमारे सामने आया था वही तापस ग्राम-बधूटियों के प्रेमप्रसाद से 'लोकरीति' में पड़ गया और कुछ काल के लिये अपने इष्टदेव से थोड़ा विमुख भी हो गया, जिसकी ग्लानि उसके जीवन में बराबर बनी रही। स्मरण रहे राजापुर की जनश्रुति राजापुर के उस पार मेहवा गाँव को ही उनकी ससुराल बताती है। गजेटियर का प्रमाण यही है। यहाँ तक कि उसने बुढ़ापे की यातना को भी इसी का परिणाम समझा। लीजिये उसका स्वयं विषाद है—

असन-बसन-हीन विषम-विषाद-लीन,
देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को।
तुलसी अनाथ सो सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सील-सिन्धु आपने सुभाय को।
नीच यहि बीच पति पाय भरुआइ गो,
बिहाय प्रभु भजन बचन मन काय को।
ताते तनु पेखियत, घोर बरतोर मिस,
फूटि फूटि निकसत लोन रामराय को।

हनुमानबाहुक, छन्द-४१

तुलसीदास ने यहाँ 'पति पाय भरुआइगो' का उल्लेख किया है तो इसके पहले 'तुलसी गुसाईं भयो' का निर्देश जिससे प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने 'लोकरीति' में पड़ना और गोसाईं होना दोनों को राम-विमुख होना ही समझा है और इसी कुकर्म का परिणाम बुढ़ापे के रोग को भी मान लिया है। तुलसीदास की प्रेम और नेम के सम्बन्ध में क्या धारणा थी, इसको भी देख लें। कहते हैं—

बढ़ि प्रतीति गठबन्ध ते, बड़ो जोग ते क्षेम।
बड़ो सुसेवक साईं ते, बड़ो नेम तें प्रेम।

दोहावली, ४७२

एवं—

गठिबँध ते परतीति बढ़ि जेहि सब कोउ सब काज।
कहब थोर समुझब बहुत गाड़े बढ़त अनाज।

वही, ४५२

और सुतिय के विषय में है उनका यह उपदेश—

सिष्य, सखा, सेवक, सचिव, सुतिय सिखावन साँच।
सुनि समुझिय मुनि परिहरिय पर मन रंजन पाँच।

फलतः हम देखते हैं कि तुलसीदास को पत्नी से उपदेश भी यही मिलता है—

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहिं मेलि कै विमल विवेक विराग।

दोहावली, २५५

और तुलसीदास आचरण भी इसके अनुकूल ही करते हैं। अर्थात् 'खरिया' छोड़कर 'विमल विवेक विराग' में मग्न हो जाते हैं और निदान सब को यह उचित सिखावन दे जाते हैं—

घर कीन्हे घर जात है, घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेम पुर छाइ॥

दोहावली, २५६

आश्चर्य नहीं कि यही राम-प्रेम-पुर राजापुर हुआ हो और तुलसीदास के जीवन के इस अंश को आज भी प्रगट कर रहा हो। राजापुर की प्रस्तर-मूर्ति 'खरिया खरी कपूर' से भी और

वंश

आगे वेषभूषा में बढ़ी चढ़ी है, और उनके 'बिमल बिवेक बिराग' की द्योतक नहीं प्रत्युत कुछ और ही है। तुलसीदास के गृह-त्याग की जो कथा कही जाती है वह कथा अनेक संतो के बारे में सुनी जाती है। उसका अर्थ केवल इतना ही है कि तुलसीदास की अपनी पत्नी में आसक्ति बहुत अधिक थी और उसकी फटकार से ही सच्चा नेत्रलाभ किंवा विराग मिला। गोस्वामी तुलसीदास के गुसाईंपन से राजापुर का जो लगाव है वह कुछ इससे भी स्फुट होता हुआ दिखाई देता है कि राजापुर के किसी मुन्नीलाल जी उपाध्याय के पास दो तीन पुराने कागद जीर्णशीर्ण दशा में पड़े हुए हैं, जिनमें से एक में कहा गया है कि—

"आमिलान हाल इस्तकबाल परगनै गहोरा सिरक कालींजर सूबे इलाहाबाद के ··आगे प (ण्डित) मदारीलाल ··(गो) साईं तुलसीदास के (बं) समै का महसूल साइर वा तिहवा विहाव···जी वा कलारी वा गुजर श्री जमुना जी राजापुर अमलै पर बामूजब सनद

में भी इसी रामनामी जीवन का वर्णन है, कुछ बालक तुलसी का नहीं। 'रामबोला राख्यो राम' की ध्वनि भी कुछ यही है। तात्पर्य यह कि रामबोला संत तुलसीदास का नाम प्रतीत होता है, कुछ बालक तुलसी का जन्मनाम नहीं।

तुलसीदास के पिता के नाम का तो, उनकी रचना में किसी को आज तक, कोई संकेत नहीं मिला; परंतु माता के संबंध में यह प्रसिद्धि कितने दिनों से चली आ रही है कि उनकी माता का नाम हुलसी था। इस 'हुलसी' के पक्ष में एक दोहा भी प्रस्तुत किया जाता है जिसका पूर्वार्द्ध तुलसी का और उत्तरार्द्ध खानखाना रहीम का कहा जाता है। दोहा यह है—

हुलसी

सुर-तिय, नर-तिय, नाग-तिय अस चाहत सब कोय।
गोद लिये हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय॥

'हुलसी' शब्द का प्रयोग तुलसी ने भी बहुत किया है। 'रामचरित-मानस' में जो हुलसी का प्रयोग हुआ है वह और भी विचारणीय है। कारण कि पहले तो—

शंभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी, रामचरित मानस कवि तुलसी।

में 'हुलसी' क्रिया के रूप में है और फिर—

रामहिं प्रिय पावन तुलसी सी, तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।

में यदि 'हुलसी' संज्ञा है तो इसका संबंध तुलसी से क्या है? संदेह नहीं कि इसमें 'हुलसी' का प्रयोग जिस ढंग पर हुआ है उसको देखते हुए तो 'हुलसी' को माता की अपेक्षा पत्नी समझना ही उचित प्रतीत होता है। कारण यह कि तुलसी के जन्म के पहले ही उनकी माता 'तुलसी सो सुत होय' की कामना कैसे कर सकती हैं। यह कामना तो तुलसी की ख्याति के पश्चात् ही हो सकती है? 'हुलसी' का प्रयोग तुलसीदास ने 'गीतावली' में भी किया है और 'विनय-पत्रिका' में भी। 'गीतावली' में आया है—

जुग जुग कोटि कोटि करतब करनी न कछू करनी नई।
राम-भजन महिमा हुलसी हिय तुलसी हू की बनि गई॥

गीतावली, सुंदर-३७

और 'विनयपत्रिका' में—

रहनि रीति राम रावरी नित हिय हुलसी है।
ज्यो भावै त्यौं करु कृपा तेरो तुलसी है॥

अस्तु, इस 'हुलसी' को लेकर इससे तुलसीदास का कोई पारिवारिक सबंध जोड़ लेना ठीक नहीं लगता। हाँ, यदि कोई संबंध रहा हो तो आश्चर्य भी नहीं है। किंतु झुकाव हिय की ओर ही अधिक है, और तुलसीदास ने सर्वत्र 'हिय-हुलास' के रूप में ही इसे अंकित किया है।

कुल

तुलसीदास के गोत्र और आस्पद के विषय में भी जहाँ तहाँ कुछ न कुछ कहा गया है। तुलसीदास का एक पद भी इसके प्रमाण मे प्रस्तुत किया गया है, और उसके आधार पर कहा गया है कि तुलसीदास 'सुकुल' वा शुक्ल थे—

राम सनेही सो तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनि हूँ सो तन तोहिं दियो॥
दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को॥
यह भरत खंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलप-बल्ली चहति विष फल फली॥

विनयपत्रिका, १३५

'दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर' में जो 'सुकुल' आया है वह 'सु, कुल' के रूप में ही है। क्योंकि इसी से अर्थ की संगति ठीक बैठती है। इसको भली भाँति हृदयंगम करने के लिये तुलसीदास का यह सवैया लीजिये—

भलि भारत भूमि-भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहि कै,
करषा तजि कै परुषा बरषा हिम मारुत घाम सदा सहि कै।
जु भजैं भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यो गहि कै,
न तु और सबै विष बीज बये हर हाटक कामदुहा नहि कै॥

कवितावली, उत्तर—३३

थोड़ा ध्यान देने से आप ही खुल जाता है कि 'कवितावली' में जो बात सामान्य रूप से कही गई है वही 'विनय' में विशेष रूप से और कवितावली का 'भले-कुल-जन्म' ही विनय में 'सुकुल जनम' हो गया है। अतः इस सुकुल को शुक्ल बनाने के लिये कोई विशेष आग्रह की आवश्यकता नहीं। हाँ, प्रसंगवश इतना अवश्य कह देने की बात है कि तुलसीदास वास्तव में थे श्रेष्ठ कुल के बालक ही, उनका जन्म ऐसे कुल में हुआ अवश्य था जिससे उनको उच्च से उच्च कुल के सभी अधिकार प्राप्त थे। इसी को यों भी कहा जा सकता है कि तुलसीदास उच्च कुल के ब्राह्मण थे। उनका अन्यत्र भी कहना है—

नाहिन कछु औगुन तुम्हार अपराध मोर मैं माना।
ज्ञान भवन तनु दियहु, नाथ, सोउ पाय न मैं प्रभु जाना॥

विनय०, ११४

इस ज्ञान भवन का संकेत भी यही है और तुलसीदास के अध्ययन से यही सिद्ध भी होता है और प्रायः सभी लोग मानते भी यही हैं। फिर भी इतना इसलिये कह दिया गया है कि इधर कुछ लोग 'जायो कुल मंगन' का अर्थ कुछ और ही करना चाहते हैं, और उसी के बल पर तुलसीदास को किसी पापकर्म का परिणाम समझना चाहते हैं। किंतु उनकी समझ में इतना भी नहीं आता कि ऐसी संतान के जन्म में बधावा नहीं बजता। निदान, इसका सीधा संकेत है, दरिद्र ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न होना ही, और कोई आश्चर्य नहीं कि 'भयो परिताप पाप जननी जनक को' में कुछ इसी का संकेत हो। इतने पर भी जो लोग यही समझते हैं कि तुलसीदास ने जो अपनी जाति पाँति का उत्तर स्पष्ट नहीं दिया तो उसका कारण भी कुछ न कुछ गुह्य अवश्य होगा, उनको क्या कहा जाय? कहते हैं—

मेरे जाति पांति न चहौ काहू की जाति पांति,
मेरे कोई काम को न हौं काहू के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को॥
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
साहिब को गोत गोत होत है गुलाम को।

साधु कै असाधु कै भलो कै पोच सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को ॥

कवितावली, उत्तर-१०७

सचमुच अब भी ऐसे 'अति ही अयाने' लोग हैं जो यह भी नहीं जानते कि साधु संत का गोत्र नहीं होता। उनको गोत्र की चिंता नहीं रह जाती। उनका तो अलग संप्रदाय बन जाता है, और तुलसी का संप्रदाय था प्रत्यक्ष ही रामावत। फिर तुलसी खीझ कर ऐसे 'अति ही अयाने' महात्माओं को दो टूक उत्तर नहीं देते तो और करते क्या? फिर भी यदि इतने से संतोष न हो तो इतना और भी जान लें कि साधु होने से तुलसी की जाति-पाँति बढ़ी नहीं, प्रत्युत घट ही गई। कारण कि—

रटत रटत लट्यौ जाति-पाँति भांति घट्यौ,
जूठिन को लालची चहौं न दूध नह्यौ हौं।

विनय २६०

गुरु

माता की भाँति ही तुलसीदास के गुरु का नाम भी उनके 'मानस' से निकाला जाता है। तुलसीदास की गुरु-वंदना है—

बंदौं गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हर,
महा मोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर।

रामचरितमानस, बालकाण्ड-५

'कृपासिंधु नर रूप हर' का प्रचलित पाठ 'कृपासिंधु नर रूप हरि' पाया जाता है और इसी के आधार पर यह बताया जाता है कि तुलसीदास के गुरु का नाम था नरहरि। इस नरहरि का नाता सोरों तथा सूकरखेत, एटा तथा गोंडा, दोनों स्थानों से जोड़ा गया है। 'नरहरि' और 'नरहर' पाठ से नाम में कोई विशेष अंतर नहीं आता, परंतु तुलसी की भावना में बहुत भेद पड़ जाता है। हमें भूलना न होगा कि तुलसीदास ने गुरु के रूप में शंकर को ही लिया है और शंकर ही वास्तव में 'रामचरितमानस' के रचयिता भी हैं। तुलसीदास ने उसको जो कुछ रूप दिया है वह शंभु के प्रसाद से ही। अतः

निर्विवाद होना चाहिये कि तुलसी ने 'हर' को ही नर रूप में अपना गुरु बनाया है। संक्षेप में तुलसीदास का पक्ष है—

सीतापति साहिब सहाय हनुमान नित।
हित उपदेस का महेस मानो गुरु कै॥

हनुमानबाहुक, ४३

हनुमान से जो सहायता तुलसी को मिली वह क्या थी, इसको सभी जानते हैं। तुलसीदास का हनुमान के प्रति क्या भाव था, यह भी किसी से छिपा नहीं है। कहा जाता है कि हनुमान जी की कृपा से ही तुलसी को राम का दर्शन हुआ और उन्हीं के प्रताप से बंदीगृह से मोक्ष भी। तुलसी के अध्ययन से इस कथन की पुष्टि होती है। तुलसीदास का एक पद लीजिए और देखिये कि उससे स्थिति को समझने में कितनी सहायता मिलती है। कहते हैं—

जयति निर्भरानंद संदोह कपिकेसरी, केसरी-सुवन भुवनैक भर्ता।
दिव्य - भूम्यंजना - मंजुलाकर - मणे, भक्त - संताप - चिन्तापहर्ता॥
जयति धर्मार्थ - कामापवर्गद विभो, ब्रह्मलोकादि - वैभव - विरागी।
बचन - मानस - कर्म - सत्य - धर्मव्रती, जानकीनाथ - चरनानुरागी॥
जयति विहगेस - बलबुद्धि-वेगाति-मद-मथन, मनमथ - मथन ऊर्ध्व-रेता।
महानाटक-निपुन-कोटि-कपिकुल-तिलक, गानगुन-गरव गन्धर्व जेता॥
जयति मंदोदरी-केस-कर्षन विद्यमान, दसकंठ भट-मुकुट मानी।
भूमिजा-दुख - संजात - रोषांतकृत जातना जंतु कृत जातुधानी॥
जयति रामायन-स्रवन-सजात-रोमांच, लोचन सजल, शिथिल बानी।
राम पदपद्म-मकरंद-मधुकर पाहि दास तुलसी सरन सूलपानी॥

विनय २६

स्मरण रहे कि तुलसीदास ने जहाँ 'महानाटक-निपुन कोटि कपि-कुल-तिलक' कहा है वहाँ "रामायन श्रवन संजात रोमांच लोचन सजल शिथिल बानी" भी, और 'दास तुलसी सरन सूल पानी' में 'सूलपानी तो है ही। सारांश यह कि तुलसीदास को जिस 'गुरु' की आवश्यकता थी वह सभी प्रकार से हनुमान में उपलब्ध हैं, और कोई कारण नहीं कि इसको क्यों न यथार्थ माना जाय कि रामायण के वृद्ध श्रोता ब्राह्मण-वेषधारी घृणित हनुमान से ही उनको रामचरित का रहस्य मिला।

हाँ, विचारणीय बात यह हो जाती है कि यह घटना घटी कहाँ ? परंपरा काशी के पक्ष में है, किंतु तुलसीदास के किसी पद से इसकी पुष्टि नहीं होती, और यदि होती है तो राम की राजधानी अयोध्या में ही। देखिये—

जयति विश्व-विख्यात बानैत बिरुदावली, विदुष बरनत बेद बिमल बानी।
दास तुलसी-त्रास समन सीतारमन, सग सोभित राम राजधानी॥

विनय, २५

एवं—

जयति सिंहासनासीन सीतारमन निरखि निर्भर हरष नृत्यकारी।
राम-संभ्राज सोभा-सहित सर्वदा तुलसिमानस-रामपुर बिहारी॥

विनय, २७

हाँ, यहाँ इतना और जान लेना चाहिए कि काशी के वर्णन में कहीं किसी हनुमान मंदिर का उल्लेख नहीं हुआ है और न कहीं उनकी चर्चा ही हुई है। तुलसीदास का काशी में आना कब हुआ इस पर भी अभी तक पूरा पूरा विचार नहीं हुआ है। जो हो, तुलसीदास का सहज संबंध साकेत से ही है और इसे वहीं का मानना ठीक समझ पड़ता है।

चित्रकूट दर्शन

तुलसीदास ने चित्रकूट को जो महत्त्व दिया है वह किसी भी दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं है। तुलसीदास ने विनय में लिखा भी है—

तुलसी तोको कृपालु जो कियो कोसलपाल।
चित्रकूट को चरित्र चेतु चित्त करि सो।—२६६

'चित्रकूट को चरित्र' से तुलसी का क्या अभिप्राय है, इसका ठीक ठीक बोध कराना अत्यंत कठिन है। इस चरित्र का सीधा संबंध कोसलपाल से है कुछ हनुमान से नहीं, यह तो स्पष्ट ही है; किंतु इसी के आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि इसमें हनुमान का कोई हाथ ही नहीं। कहा जाता है कि हनुमान के कथनानुसार जब तुलसी को राम का दर्शन हुआ तब उनको यह प्रतीत न हुआ कि सचमुच

यही उनके राम हैं। अपनी इस बुद्धि पर जब उन्हें गहरी ग्लानि हुई तब राम ने फिर प्रगट होकर उनके चंदन का तिलक लगाया—

चित्रकूट के घाट पर भइ सन्तन की भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसैं तिलक देत रघुवीर ॥

में इसी की व्यंजना बताई जाती है। साथ ही यह भी विदित है कि तुलसी को राम के जिस रूप का दर्शन पहले हुआ था वह अहेरी राम का ही रूप था। तुलसीदास ने चित्रकूट को अहेरी माना भी है और स्पष्ट कहा भी है—

"खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे।"

गीतावली, अरण्य-२

अथवा—

सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि, बसै तुलसि उर आछे।

गीतावली, अरण्य-३

और यह भी स्मरण रहे कि तुलसी की दृष्टि में—

देखु राम सेवक, सुनु कीरति रटहि नाम करि गान गाथ।
हृदय आनु धनुबान पानि प्रभु लसै मुनिपट कटि कसे भाथ।

विनय, ८४

तुलसी धनुष-बाणधारी, मुनिवेषी राम के भक्त थे इसमें तो कुछ संदेह नहीं; हाँ, संदेह उनकी अहेरी राम की उपासना में हो सकता है। सो, तुलसी दुष्कृतो के विनाश के पक्षपाती थे और राम जिस मृगया में मग्न दिखाई देते हैं वह हेम हरिन अथवा कपटमृग किंवा राक्षस मारीच का वध है; और उसका स्थान है पंचवटी, कुछ चित्रकूट नहीं। चित्रकूट के प्रति तुलसीदास का जो अनुराग है वह केवल राम के नाते ही नहीं, अपितु प्रकृति की पावनता के कारण भी। उनका वचन है—

जहाँ बन पावनो सुहावनो विहंग मृग
देखि अति लागत अनन्द खेद खूँट सो।

सीता-राम-लखन निवास बास मुनिन को,
सिद्ध साधु साधक सबै बिबेक-बूट सो।
भरना भरत झारि सीतल पुनीत बारि
मदाकिनी मंजुल महेस जटाजूट सो।
तुलसी जौ राम सो सनेह साँचो चाहिये,
तौ सेइयै सनेह सो विचित्र चित्रकूट सो।

कवितावली, उत्तर–१४१

तात्पर्य यह कि तुलसीदास के साक्षात्कार का स्थान चाहे जो रहा रहा हो, परंतु चित्रकूट की महिमा के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इसी के आसपास कहीं उनको किसी प्रेत के प्रसाद से हनुमान का दर्शन भी हुआ था। यहाँ इतना और भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस घृणित वेष में तुलसी को हनुमान मिले थे, नागरीदास की दृष्टि में उसी वीभत्स रूप मे अहेरी राम भी। हमारी समझ में सीधे ढंग से इसे सरलता से यों भी कह सकते हैं कि तुलसीदास भी उसी प्रकार राम की प्राकृत लीला में मोह गए थे जिस प्रकार कि उनके मानस के सभी श्रोता पात्र। इससे अधिक इस प्रसंग को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। तुलसीदास ने हनुमान की सहायता से राम का साक्षात्कार किया, इतना ही पर्याप्त है। कब, कहाँ और किस रूप में किया यह विवाद का विषय है। इससे तुलसीदास को परखने मे कोई विशेष सहायता भी नहीं मिलती, अतः इसे छोड़ देखना यह चाहिए कि हनुमान के द्वारा उनका उद्धार कैसे हुआ। हनुमान पर तुलसी की जो दृष्टि है वह सहायक की ही है। तो भी तुलसी स्थल स्थल पर यह कहते हुए पाए जाते हैं कि उनका पालन-पोषण हनुमान ने किया। और कहने को तो इसी के सहारे यहाँ तक कह दिया गया है कि संभव है तुलसी को किसी हनुमान जी के मंदिर से खूब लड्डू और रोट की प्रसादी भरपेट मिलती रही हो; किंतु वस्तु-स्थिति कुछ और है—

पालन-पोषण

समरथ सुअन समीर के रघुबीर पियारे।
मोपर कीबं' तोहि जा करि लेहि भिया रे।

तेरी महिमा तें चलैं चिंचिनी चिया रे।
अँधियारो मेरी बार क्यों त्रिभुवन-उजियारे।
केहि करनी जन जानि कै सनमान किया रे।
केहि अघ-औगुन आपनौ करि डारि दिया रे।
खाई खोंची माँगि मैं तेरो नाम लिया रे।
तेरे बल, बलि, आजु लौं जग जागि जिया रे।
जो तोसो होतौ फिरौं मेरो हेतु हिया रे।
तौ क्यो बदन दिखावतो कहि बचन इया रे।
तो सों ग्यान निधान को सर्वग्य बिया रे।
हौं समुझत साईं-द्रोह की गति छार छिया रे।
तेरे स्वामी राम से, स्वामिनी सिया रे।
तहँ तुलसी के कौन को काको तकिया रे?

विनय, ३३

'खाई खोंचो माँगि' से तो यह ध्वनित होता है कि तुलसीदास के टूक का हनुमान से कोई इतना लगाव न था कि उनको भरपेट भोजन प्रसादी के रूप में प्राप्त हो जाता। तो भी लोग इसका निष्कर्ष यही निकालना चाहते हैं। हाँ, यह संभव है कि तुलसी का संबंध किसी हनुमानगढ़ी से रहा हो और वह खोंचो माँगकर अपनी जीविका चलाते रहे हों।

साँसति और संकट

तुलसी ने 'विनयपत्रिका' में जो हनुमान से विनय की है वह 'हनुमानबाहुक' की प्रार्थना से कुछ भिन्न है। विनय में 'साँसति' और 'संकट' का नाम तो बारबार लिया गया है पर कहीं यह नहीं कहा गया है कि वह संकट और वह 'साँसति' है क्या। 'हनुमानबाहुक' में इसको खोल कर कह दिया गया है और इसका लक्षण भी बता दिया गया है। इतना ही नहीं, एक बात और भी बड़े महत्त्व की है। विनय में हनुमान की 'वंदिछोर' की दुहाई जितनी दी गई है उतनी कहीं नहीं। तुलसी किस दृढ़ता और अभिमान के साथ कहते हैं—

ताकि है तमकि ताकी ओर को ।
जाको है सब भाँति भरोसो कपि केसरी किसोर को ।
जन-रंजन अरिगन-गंजन मुख-भंजन खल बरजोर को ।
वेद पुरान प्रगट पुरुषारथ सकल सुभट सिरमोर को ।
उथपे-थपन, थपे उथपन, पन बिबुध बृन्द बन्दिछोर को ।
जलधि लाँघि,दहि लंक,प्रबल दल दलन निसाचर घोर को ।
जाको बाल विनोद समुझि जिय डरत दिवाकर भोर को ।
जाकी चिबुक चोट चूरन किय रद-मद कुलिस कठोर को ।
लोकपाल अनुकूल बिलोकिबो चहत बिलोचन-कोर को ।
सदा अभय, जय मुदमंगलमय जो सेवक रन रोर को ।
भक्त कामतरु नाम राम परिपूरन चन्द चकोर को ।
तुलसी फल चारो करतल जस गावत गई-बहोर को ।

विनय, ३१

तुलसीदास ने प्रकृत पद में जो बिबुध-बृंद-बंदिछोर कहा है तो अन्यत्र—

बंदिछोर बिरुदावली, निगमागम गाई ।
नीको तुलसीदास को तेरियै निकाई ।।

विनय, ३५

केवल 'बंदिछोर' की बिरुदावली! अब इस बंदिछोर का संबंध तुलसीदास के निज 'बंदिछोर' से है अथवा नहीं, इसका निर्णय होना भी खेल नहीं। तथापि इसको देखकर इस प्रकार की भावना स्वयं हो जाती है और जी चाहता है कि इसका संबंध तुलसीदास के बंदी जीवन से जोड़ लिया जाय। तो क्या गोस्वामी तुलसीदास सचमुच कभी बंदी हुए थे? साहित्यिकों की परंपरा से तो यही सिद्ध होता है, किंतु क्या साहित्य इस क्षेत्र में प्रमाण माना जाएगा और तुलसीदास के चमत्कार को इतिहास समझा जाएगा?

हाँ, तुलसीदास के जीवन की सबसे बड़ी विलक्षण घटना है उनका बंदी होना; और उनके संबंध में उस समय के इतिहासग्रंथों में

बंदी

कहीं कुछ भी नहीं पाया जाना। तुलसी जैसे कवि के विषय में मुगल इतिहास में कुछ भी न मिलना इस बात का पक्का प्रमाण है कि हमारा यह इतिहास किस दृष्टि से लिखा जाता था और इसका उद्देश्य भी क्या होता था। यह तो कहा नहीं जा सकता कि दीन इलाही का प्रवर्तक पादरियों और पारसियो का सत्संगी उदार अकबर तुलसी को जानता ही नहीं था, और नहीं जानता था चिद्रूप से बारबार मिलने वाला उसका आत्मज सलीम भी। सलीम जहाँगीर बना और उसकी दृष्टि हिंदुओ पर कुछ वक्र पड़ी तो उसने किसी संन्यासी के दो मुसलमान शिष्यों को दंड दिया। उसने पंडितों से शास्त्रार्थ किया। उसने मंदिर भी गिरा दिए। फिर भी कभी उसका तुलसी से सामना न हुआ, यह विश्वास में नहीं आता। माना कि जहांगीर, जहाँगीर होने पर कभी काशी नहीं आया, पर जहाँगीर बनने के पहले का कार्यक्षेत्र तो उसका इलाहाबाद का सूबा ही था? और वह रहा करता भी तो इधर ही था? फिर क्या तुलसी की ख्याति उसके कानो में न पड़ी होगी? अपने शासन के प्रथम वर्ष में ही जहाँगीर शेख सलीम चिश्ती के पोते शेख अलाउद्दीन को बेटे की पदवी प्रदान करता है और पंडितो से अवतार के विषय में शास्त्रार्थ करता है। वह अपनी 'तूजुक' में लिखता है—

"एक दिन मैंने पंडितों से कहा कि यदि ईश्वर का १० भिन्न भिन्न शरीरों में अवतार लेना तुम्हारे धर्म का परम सिद्धांत है तो यह बुद्धिमानों को प्रमाण नहीं। इस कल्पना में यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर जो सब उपाधियों से न्यारा है लंबाई, चौड़ाई और गहराई भी रखता है।

"यदि यह अभिप्राय है कि उसमें ईश्वर का अंश था, ईश्वर का अंश सब प्राणियों में होता है, उसमें होने की कोई विशेषता नहीं है। और जो ईश्वर के गुणो में से किसी गुण के सिद्ध करने का प्रयोजन है तो इसमें कोई मुख्य बात नहीं, किस वास्ते कि प्रत्येक धर्म और पंथ में सिद्ध पुरुष होते रहे हैं जो अपने समय के दूसरे मनुष्यों से समझ में बढ़ चढ़ कर थे।

"बहुत से वाद विवाद के बाद वह लोग उस परमेश्वर को मान गए जो रूप और रेखा से विभिन्न है। कहने लगे कि हमारी बुद्धि उस

परमात्मा तक पहुँचने में असमर्थ है और बिना किसी आधार के उसको पहचानने का मार्ग नहीं पा सकते, इसलिये हमने इन अवतारों को अपने वहाँ तक पहुँचने का साधन बना रखा है।

"मैंने कहा कि ये मूर्तियाँ कब तक तुम्हारे वास्ते परमात्मा तक पहुँचने का द्वार हो सकती हैं।"

जहाँगीरनामा, अनुवादक मुंशी देवीप्रसाद; भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता। सन् १९०५ ई०

गद्दी पर बैठने के साथ जहाँगीर ने जो मार्ग लिया वह तुलसीदास के कितना प्रतिकूल था, इसे कोई भी व्यक्ति समझ सकता है। हाँ, यहाँ पर कहने की बात यह है कि कभी जहाँगीर ने बनारस में कुछ मंदिरों के भ्रष्ट करने का भी विचार किया था पर राजा मानसिंह के दबाव के कारण वैसा न कर सका। तात्पर्य यह कि जहाँगीर की यह नीति तुलसी के सर्वथा प्रतिकूल थी। अब्दुल लतीफ के यात्रा विवरण के आधार पर श्रीराम शर्मा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मुगल बादशाहों की धार्मिक नीति'* में इसका उल्लेख तो कर दिया है किंतु समय बताने की चिंता नहीं की। अब्दुल लतीफ का यह भ्रमण संवत् १६६४-६५ में गुजरात से बंगाल तक हुआ था, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इससे पहले ही कभी जहाँगीर की यह चेष्टा हुई होगी। इधर गोस्वामी तुलसीदास की सं० १६६६ की जो प्रति 'रामगीतावली' की पाई जाती है उसमें उस हनुमानवंदना का रूप दिखाई देता है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। अतः हमारी धारणा है कि इस संवत् के पहले ही कभी तुलसीदास की जहाँगीर से मुठभेड़ हुई थी।

महामहिपाल

गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी कृतियों में जहाँ तहाँ जो नृपाल की निंदा की है उसका भी कुछ कारण है। कहते हैं—

बेद पुरान बिहाइ सुपन्थ कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल कराल नृपाल कृपाल न राज समाज बड़ोइ छली है।

---

* 'दि रिलिजस पालिसी आव दि मोगल एम्परर्स', श्रीराम शर्मा, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९४०।

वर्न विभाग न आश्रम धर्म दुनी दुख दोष दरिद्र दली है।
स्वारथ को परमारथ को कलि राम को नाम प्रताप बली है।'

कवितावली, उत्तर—७५

प्रसंगवश इतना और भी जान लें कि तुलसी के राम के जन्म-स्थान को मुगल बादशाह बाबर ने नष्ट किया और उसको 'मसीत' का रूप दे दिया। तुलसीदास ने राजसमाज और नृपाल में जो भेद किया है उसको कभी भूलना नहीं चाहिए। जहाँ तुलसीदास राजा को नृपाल बनाते हैं वहाँ इस नृपाल को महामहिपाल। उनका एक ोहा है—

गोड़, गँवार, नृपाल महि यवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद करि केवल दंड कराल।

सारांश यह कि अपने समय के 'राजसमाज' और 'यवन महा महिपाल' पर उनकी कृपादृष्टि नहीं। यदि चमत्कार की माया को छोड़कर हम नागरीदास के विचार पर ध्यान दें तो स्थिति कुछ और भी सुलझ जाती है। उन्होंने अपनी 'पद प्रसंग माला' में इतना और भी खोल दिया है कि राजा अनूपराय बड़गूजर ने तुलसी से वैष्णवों के महत्व की रक्षा की प्रार्थना की। अनूपराय जहाँगीर का निकटवर्ती था, यह उसकी 'तूजुक' से सिद्ध ही है। अतः इस घटना को तथ्य के रूप में ग्रहण करने में कोई विशेष अड़चन नहीं दिखाई देती। संभव है कि जहाँगीर ने तुलसीदास पर कड़ाई की हो और फिर अपनी विवशता के कारण इससे विरत हो गया हो। इसके लिये यह भी आवश्यक नहीं कि यह घटना दिल्ली में ही घटे। यह आगरे में भी घट सकती है। कहा जाता है, और नागरीदास ने भी यही कहा है कि तुलसीदास को सलेमगढ़ में बंद किया गया था। मुगल काल में ग्वालियर का गढ़ और सलेमगढ़ किला प्रसिद्ध बंदीगृह रहे हैं। सलेमगढ़ तो लालकिला के बन जाने पर मुगल वंश का बंदीगृह ही बन गया। इसी से प्रभावित होकर संभवतः नागरीदास ने ऐसा लिख दिया, अथवा स्वयं घटा ही ऐसा हो; क्योंकि संवत् १६६४ में चार दिन के लिये जहाँगीर वहाँ गया भी था। जो हो, वह काल ही ऐसा था कि लोग चमत्कारों पर विश्वास करते थे और किसी भी असामान्य घटना को चमत्कार ही समझ लेते

थे। इस चमत्कार की चर्चा उस समय के इतिहासों में भी भरी पड़ी है और स्वयं अकबर के अनेक चमत्कार लिखित मिलते हैं। तुलसीदास ने एक दोहे में उस समय के कराल अनय का अच्छा रूपक बाँधा है और उस समय की परिस्थिति को भली भाँति व्यक्त कर दिया है। देखिए—

काल तोपची, तुपक महि, दारू अनय-कराल।
पाप पलीता, कठिन गुरु गोला पुहमीपाल।

—दोहावली, ५१५

सच पूछिए तो इसी 'गोला पुहमीपाल' में सब कुछ आ गया है और फूट फूटकर उस बात का रोना सुना रहा है।

तुलसीदास की रचनाओं से जहाँ यह प्रगट होता है कि उनकी दृष्टि राजसमाज को छली की दृष्टि से देखती थी वहीं उनमें यह भी पाया जाता है कि वृद्ध तुलसीदास की पूजा राजा महाराजा भी करते थे। बचपन में उनको सर्वत्र उपेक्षा और अवहेलना मिली तो बुढ़ापे में आदर और सत्कार। तुलसीदास की जीवनयात्रा में यह सब कब, कहाँ और कैसे हुआ आदि जानने का सर्वमान्य साधन कोई उपलब्ध नहीं है। भवानीदास के 'श्री गोसाइँ चरित्र' में इसकी बहुत कुछ सामग्री है। उसके आधार पर इसका कुछ विचार 'तुलसी की जीवन भूमि' नामक पुस्तक में किया भी गया है। यहाँ संक्षेप में हमें निवेदन यह करना है कि स्वयं तुलसीदास की रचनाओं में चार ऐसे स्थानों का उल्लेख है जिनसे उनके जीवन का गहरा लगाव है और जिनका उनके जीवन के निर्माण मे संभवतः विशेष योग भी है। ये मुख्य स्थान हैं सूकरखेत, चित्रकूट, अयोध्या तथा काशी। इनमें से सूकरखेत विवाद का विषय बन गया है।

निवासस्थान

रामभक्तो का परंपरागत सूकरखेत अवध का सूकरखेत ही है और आज भी यहाँ अग्रदास का अखाड़ा, जिसे तुलसीदास के गुरु का स्थान बताते हैं, विद्यमान है। तुलसीदास का अग्रदास से जो लगाव है उसको अभी तक स्फुट नहीं किया गया किंतु इतना तो मानस के

सूकरखेत

टीकाओं से सिद्ध ही है कि तुलसीदास का सूकरखेत, गोंडा का सूकरखेत ही है। भवानीदास ने 'श्री गोसाईं चरित' में स्पष्ट लिखा है—

"अवध बास बहु काल करि लाहु जन्म को लीन्ह।
सह समाज निज गवन तब नीमषार कह कीन्ह॥

प्रथम रुन्हाई लखि अनादि थल बासा कीन्हो।
श्री रविकुल अंबरीक नृपति सुकृती जिन्ह चीन्हो॥
जासु तनै चक्कवै मानधाता जस राजत।
सुनि रावन चढ़ि गयौ दैत आयौ जइ गाजत॥

सुइ रावनादिक पच्छिन जित्यौ भयौ पराजय तासु जब।
सो बिजई अस्थान लखि धरौ रोन्हाई नाम तब॥
दुतिय बास अघ नास किय, पावन सूकरखेत।
त्रय जोजन जो अवध ते, दास दरस सुख हेत॥

जहाँ श्री गुरु नरसिंह सन, सुनी कथा लहि ज्ञान।
सो अनादि तीरथ बिदित, सगुन देव अस्थान॥"

हमारी समझ में यही इस देश की परंपरागत स्थिति है और हम इसी को फलतः मानते जानते भी हैं।

चित्रकूट चरित्र की दृष्टि से प्रसिद्ध है। प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी को चरित्र अथवा रामस्वरूप का साक्षात्कार यहीं हुआ था।

चित्रकूट

'बालपन' के उपरांत तुलसी का यौवन इसी प्रदेश में बीता था और यहीं उनको विशेषतः आगे का कार्यक्रम सूझा था। यह तुलसी की अनुभूति की भूमि है। इसमे उनका अचल अनुराग भी है। चित्रकूट की जो महिमा तुलसी के यहाँ गोचर होती है वह अन्यत्र सुलभ नहीं।

चित्रकूट के पश्चात् जिस स्थान को तुलसी ने सबसे अधिक महत्व दिया है वह उनकी इष्ट भूमि अयोध्या ही है। यहीं 'रामचरितमानस'

अयोध्या

का प्रकाश भी हुआ है किंतु कतिपय कारणों से तुलसी का रहना रहाँ कठिन हो गया और उनको काशी की शरण लेनी पड़ी। उनकी वेदना है—

"मुक्ति जन्ममहि जानि ज्ञानखानि अघ हानि कर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न॥"

भला इससे बढ़कर सुख संतोष की बात क्या हो सकती थी कि 'रामचरितमानस' का प्रणयन उस पावन पुरी में हो जहाँ उसके प्रमुख श्रोता और वक्ता विराजमान हों।

गोस्वामी जी ने काशीवास करने का संकल्प कब किया और कहाँ तक क्षेत्र सन्यास का बाना धारण कर वहाँ बसते रहे इसका ठीक ठीक पता लगाना साध्य नहीं। हाँ, इतना निर्विवाद है कि संवत् १६३१ के पश्चात् ही उन्होंने ऐसा संकल्प किया होगा। अपने काशीवास का उल्लेख उन्होंने बारबार किया है। अतएव इसमें कोई विवाद नहीं। उनका देहावसान यहीं माना जाता है।

काशी

केवल एक स्थान ऐसा रह गया जिसके संबंध में कुछ निवेदन कर देना अनिवार्य है। कारण यह कि अंग्रेजी शासन में उसको कुछ विशेष महत्व मिल गया है। उसका नाम है राजापुर। ध्यान देने की बात है कि हाथरस के तुलसी साहब जिनकी सत्ता में बहुतों को संदेह है और जो अपने को स्वयं तुलसीदास का अवतार मानते हैं, तुलसीदास का जन्मस्थान राजापुर ही मानते हैं। उनका स्पष्ट कथन है—

राजापुर

"राजापुर जमुना के तीरा। जहँ तुलसी का भया सरीरा।"

'जहँ तुलसी का भया सरीरा' से स्पष्ट है कि यहीं तुलसी का जन्म हुआ था किंतु विचारणीय यह है कि क्या यह सच भी है। रीवाँनरेश राजा रघुनाथ सिंह इसके विपरीत लिखते हैं—

"राजापुर जमुना के तीरा। तुलसी तहाँ बसै मतिधीरा।"
[रामरसिकावली 'भक्तमाल' पृ० ७८२]

इस "बसै" का अर्थ कुछ लोग "भये" ही लेते हैं किंतु हमारी समझ में यह ठीक नहीं है। "बसै" का परंपरागत अर्थ 'निवास करना' ही होता है, कुछ जन्म ग्रहण करना नहीं। सूरदास का एक पद है—

खंजन नैन सुरंग रस माते।
अतिशय चारु विमल, चंचल ये, पल पिंजरा न समाते।
बसे कहूँ सोइ बात सखी, कहि रहे इहाँ किहिं नातैं॥
सूरसागर, सभा संस्करण, ३२८५

'बसे' और 'रहे' का प्रयोग जिस अर्थ में हुआ है वह स्थिति को आप ही बहुत कुछ प्रगट कर देता है। तुलसीदास का भी स्पष्ट निवेदन है—

अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ, बसहुँ लषन सिय रामु बटाऊ ॥
रामधाम पथ पाइहि सोई, जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई ॥
तब रघुवीर अमित सिय जानी, देखि निकट बटु सीतलपानी ॥
तहँ बसि कंद मूल फल खाई, प्रात नहाइ चले रघुराई ॥

[रामचरित मानस, द्वि० सो०, १२४]

स्मरण रहे यह 'एक तापस' के बाद का प्रसंग है। इसमें 'बसि' का प्रयोग रात्रि मात्र के लिये हुआ है। यह प्रयोग तुलसी में कहीं भी देखा जा सकता है।

रघुराज सिंह के 'मतिधीरा' का प्रयोग भी विचारणीय है। यह भी स्मरण रहे कि गजेटियर के प्रमाणानुसार गृहस्थ तुलसीदास की वास-भूमि पर ही राजापुर विद्यमान है। हमको इससे अधिक और कुछ नहीं कहना है और यदि कुछ कहना भी है तो यही कि किसी 'अनन्य' कवि ने बहुत पहले कहा था—

"कोसल देस उजागर कीनौ। सबहिन को अद्‌भुत रस दीनौ।
छिन छिन उमगै प्रेम नवीनौ। उमड़ि घुमड़ि झर लाइ रंगीनौ।"

ब्रजनिधि ग्रंथावली, पृ० २७५-६

फलतः हम कोशल देश को ही तुलसी का जन्मक्षेत्र मानते हैं और इसी को तुलसीसंमत समझते हैं। इस प्रसंग में इतना और भी ज्ञातव्य है कि अनन्य कवि तुलसी को वृंदा सखी मानते हैं और हम इतना साधु समझते हैं कि 'गीतावली' में जो एक सखी है और 'मानस' में जिस एक तापस को सीताजी आशीर्वाद देती हैं वह एक ही प्राणी है—एक सखी वेश में, एक तापस वेश में। कदाचित् यही कारण है कि 'गीतावली' में तुलसी का रसिक रूप प्रत्यक्ष गोचर होता है।

२—रचना

तुलसीदास के जीवन की मुख्य घटनाओं पर विचार हो चुका। अब कुछ उनकी रचनाओं के कालक्रम के विषय में भी कह लेना चाहिए। सो, तुलसीदास की रचनाओं के कालक्रम के बारे में विद्वानों में गहरा मत-भेद है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' का रचनाकाल अपने आप ही दे दिया है, और दे दिया है 'पार्वती मंगल' के समय का भी सच्चा संकेत। श्री माताप्रसाद गुप्त की धारणा है कि 'रामाज्ञा प्रश्न' की तिथि भी उसके एक दोहे में दी हुई है और उसी के आधार पर उन्होंने रामाज्ञा प्रश्न का रचनाकाल संवत् १६२१ माना भी है। इनके अतिरिक्त और किसी प्रबंधकाव्य में किसी तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, 'कवितावली', 'दोहावली' और 'विनयपत्रिका' आदि रचनाओं में कुछ ऐसे स्थल अवश्य आते हैं जिनसे उनके समय का पता लगाया जा सकता है; परंतु साथ ही कठिनाई भी यह है कि 'दोहावली' और 'कवितावली' संग्रहग्रंथ हैं और अंशतः 'विनयपत्रिका' भी संगृहीत ही है।

वस्तुस्थिति

हाँ, तुलसीदास के ग्रंथों के कालक्रम निर्धारण में सबसे अधिक श्रम किया है श्री माताप्रसाद गुप्त ने। उन्होंने हमारी समझ में सबसे बड़ी भूल यह की है कि तुलसीदास की कृतियों में कथा को मुख्य ठहराया है, कुछ राम को नहीं। हमारी दृष्टि में तुलसी के अध्ययन और उनके जीवन के विकास में राम का जो स्थान रहा है वह राम की कथा का नहीं, और उन्होंने बीच बीच में अपने संबंध में जो कुछ कहा है वास्तव में वही वह सूत्र है जिसके द्वारा हम उनके जीवन के विकास और उनकी कृतियों के कालक्रम को भलीभाँति ठीक ठीक परख सकते हैं। तुलसी ने अपनी कृतियों में अपने विषय में थोड़ा नहीं, बहुत कुछ कहा है, और कहा है बहुत ही ढंग से। उनके ग्रंथों का जो रूप विद्यमान है वह उन्हीं का दिया हुआ है, ऐसा तो कहा नहीं जा सकता। पर इतना कहने मे तो कोई संदेह नहीं रहा कि उनकी रचना का

अधिकांश अपने सच्चे रूप में सामने आ गया है। अतः उसी को आधार मानकर रचनाओं के समय की कुछ थाह लगानी चाहिए और देखना यह चाहिए कि इस विचार से किस रचना को कौन सा समय प्राप्त है।

हाँ, तो तुलसीदास की रचनाओं में 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल' और 'रामलला नहछू' का लगाव स्त्री जाति से अधिक है।

पार्वती मंगल

इसका अर्थ यह है कि तुलसीदास ने इनकी रचना में स्त्रियों का विशेष ध्यान रक्खा है। 'पार्वती मंगल' का फल क्या है और किस प्रकार उसकी रचना हुई है, इसको तुलसीदास ने स्पष्ट कर दिया है और वह बहुत कुछ हमारे सामने उसी रूप में आए हैं जिस रूप में 'रामचरितमानस' में। देखिए—

कवित-रीति नहिं जानउँ, कवि न कहावउँ।
शंकर-चरित-सुसरित मनहिं अन्हवावउँ ॥ ३ ॥
पर-अपवाद विवाद विदूषित बानिहिं।
पावनि करउँ सो गाइ महेस भवानिहिं ॥ ४ ॥
जय सम्वत् फागुन सुदि पाँचै गुरु दिन।
अस्विनि बिरच्यौं मंगल सुनि सुख छिन छिन ॥ ५ ॥

इस कथन को ध्यान में रखते हुए उनका यह कहना भी सुन लीजिए—

प्रेम पाट पट डोरि गौरि हर गुन मनि।
मंगल हार रच्यो कवि मति मृगलोचनि ॥१६३॥
मृगनयनि बिधुबदनी रच्यो मनि मंजु मंगलहार सो।
उर धरहु जुवती जन बिलोकि तिलोक सोभा सार सो ॥
कल्यान काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं।
तुलसी उमा संकर प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं ॥

सुख और प्रमोद की यह फलश्रुति इस 'पार्वती मंगल' से प्राप्त है। तो भी सोचने और समझने की बात यह है कि इसमें कवि तथा कवि-मति का उल्लेख क्यों हुआ? और क्यों इसमें 'जुवती जन' का व्यवहार

हुआ है ? कुछ लोग 'जुवती जन' का अर्थ 'युवती और जन' लगाना चाहते हैं और इसमें नर नारी दोनों का विधान देखना चाहते हैं। किंतु हम जानते हैं कि तुलसीदास को यह इष्ट नहीं। उनका भाव 'युवती' मात्र से ही है। और स्त्री जाति को लक्ष्य में रखकर ही उन्होंने इस 'मंगल' की रचना की भी है। रचना करते समय अपना कवि रूप उनको कभी नहीं भूला और इसी से आदि तथा अंत में उसका उल्लेख भी हो गया।

जानकी मंगल

तुलसीदास की रचना बन तो गई पर इससे उनका इष्ट न सधा। इसी से उनको फिर 'जानकी मंगल' लिखना पड़ा। 'जानकी मंगल' की फलश्रुति यह है—

> बिकसहिं कुमुद जिमि देखि बिधु भइ अवध सुख सोभा मई॥
> यहि जुगुति राज बिवाह गावहिं सकल कवि कीरति नई॥
> उपवीत ब्याह उछाह जे सिय राम मंगल गावहीं।
> तुलसी सकल कल्यान ते नरनारि अनुदिन पावहीं॥

इसमें 'कवि कीरति नई', 'सकल राज विवाह', 'यहि जुगुति' और 'उपवीत' विशेष विचारणीय हैं। कवि की इस नवीन कृति में विशेषता क्या है ? यही न, कि इसमें जिस राम और सीता का विवाह गाया गया है उस राम सीता का जीवन व्यापक है और उसी प्रकार यह राजविवाह है जिस प्रकार उनकी भक्ति का मार्ग राजमार्ग। कहने का भाव यह कि शिव पार्वती के विवाह में कमी इस बात की है कि वह विशिष्ट रूप में संपन्न हुआ है और है वह विशेष व्यक्तियों का ब्याह। सामान्यतः उस ढंग का ब्याह नही होता। परंतु राम सीता का विवाह ऐसा नहीं है। गृहस्थी राम सीता की ही ठीक मानी जाती है। इसमें स्वयंवर भी है और पिता की रुचि तथा प्रतिज्ञा भी। इसको प्रमोद या भय के रूप में नहीं लिया गया है। इसे सकल कल्याण के रूप में ही अंकित किया गया है। अब रही 'यहि जुगुति' की बात। सो विदित ही है कि यह युक्ति इसीलिये निकाली गई है कि यह 'जानकी मंगल' घर घर का और सबका मंगल हो जाय; और यही कारण है कि इस रचना में काव्य की अपेक्षा सरलता और सुबोधता पर अधिक ध्यान दिया गया है। तुलसीदास ने कहा भी है

हाथ जोरि करि बिनय सबहिं सिर नावौं।
सिय रघुबीर बिवाह यथामति गावौं॥

इसमें 'यथामति' का प्रयोग जान बूझ कर यह दिखाने के हेतु किया गया है कि इसका वर्णन अपनी समझ के अनुसार हो रहा है, और हो रहा है अपने इष्ट की साधना के लिये ही। प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने जिस युक्ति से राजविवाह को 'जानकी मंगल' के रूप में जनता के सामने रक्खा वह भी पूरा न पड़ा। तुलसी ने रामभजन को राज डगर माना है और राम विवाह को 'राज विवाह'। है तो स्थिति यही, किंतु इस कृति का विस्तार इतना अधिक हो गया है और इसकी रचना भी इतनी रसीली और सरल नहीं हो पाई है कि इसको लोग सहज ही अपना कंठ बना लें, अतः तुलसीदास को इसके निमित्त कोई और ही मार्ग निकालना पड़ा। 'रामलला नहछू' इसी का फल है।

रामलला नहछू

'रामलला नहछू' की रचना किस दृष्टि से किस समय हुई, इसमें बड़ा मतभेद है। कोई तो इसकी रसिकता और कविता को देखकर इसको तुलसीदास की रचना मानने में संकोच करता है और कोई इसे चढ़ती जवानी की देन समझता है। कोई तो इसे बाद की रचना बताता है और कोई यह कहता है कि अश्लीलता से ग्रामीण जनता को बचाने के विचार से ही तुलसीदास ने इसकी रचना की। बात यहीं तक नहीं रह जाती। इस कल्पना और इस अनुमान से किसी का किसी से वैसा संघर्ष नहीं होता जैसा कि इस प्रश्न पर कि वस्तुतः यह नहछू रचा कब गया? विवाह पर या उपवीत के अवसर पर। नहछू मे विवाह का रूप सामने आता है। पर विवादी बोल उठता है कि इस अवसर पर राम अयोध्या में थे भी कि उनका नहछू ही वहाँ हो गया? इस छोटे से नहछू में जितनी त्रुटियाँ लोगों को दिखाई पड़ी हैं उतनी कदाचित् किसी भी दूसरे बड़े प्रबंधकाव्य में भी नहीं। अच्छा, तो इसका कारण है क्या जो विद्वानों में इतना मतभेद खड़ा हो गया है।

हमारी समझ में तो इसका एकमात्र कारण है तुलसी के सहारे न चलकर अपने आप ही कल्पना को अति प्रखर करना और निरे अनुमान को मुखर करना। हम देख ही चुके हैं कि 'जानकी मंगल' में प्रत्यक्ष 'उपवीत ब्याह उछाह' का नाम लिया गया है जिसका आशय

यह होता है कि यह मंगल विवाह में ही नहीं उपवीत में भी गाया जा सकता है। सकता क्या उसमें गाने के लिये ही बना भी है। इस दृष्टि से देखने से अवगत होता है कि तुलसी के सामने उपवीत और विवाह की कोई उलझन नहीं है। दोनों का मंगल और दोनों का नहछू भी एक ही हो सकता है। प्रश्न उठता है कि इन दोनों में प्रधानता किसकी है? विवाह किंवा उपवीत की। निवेदन है, समाधान सीधा और सरल है—विवाह की और केवल विवाह की ही। बात यह है कि संस्कारो की अवहेलना होते होते हुआ यह कि यज्ञोपवीत, समावर्तन और विवाह के संस्कार एक साथ होने लगे और कुलरीतियाँ भी सिमिट कर एक हो गईं। कुछ लोगो ने तो द्विज होने के नाते उपवीत की उपेक्षा न कर सकने के कारण विवाह के अवसर पर ही वर के गले में जनेऊ डाल देना ही यज्ञोपवीत के लिये पर्याप्त समझा; और कुछ लोगों ने इसे कन्या के यहाँ कराना ठीक न समझ कर अपने यहाँ ही, विवाह से एक दो दिन पहले, इसे करा लेना ठीक समझा। इस प्रकार यज्ञोपवीत विवाह से आ मिला और समावर्तन का सर्वथा अभाव हो गया। अभाव हुआ स्वतंत्र संस्कार के रूप में, अन्यथा स्मृति अथवा चिह्न के रूप में तो वह आज भी बना ही है। बटु जब ब्रह्मचारी के वेष में विद्याध्ययन के निमित्त घर से प्रस्थान करता है तब कोई सगा संबंधी अथवा ऐसा ही आगे बढ़ता और उसे मनाकर वापस लाता है और कहता है कि क्यों रूठे जा रहे हो, हम तुम्हारा विवाह करा देंगे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह विवाह न होने के कारण ही घर छोड़कर भागा जा रहा हो और विवाह का वचन देकर ही उसे लौटा लाना ठीक समझा जा रहा हो। कहने का तात्पर्य यह कि यहाँ विवाह और उपवीत का बखेड़ा उठाना व्यर्थ है। आज की स्थिति तो यह है कि विवाह और उपवीत में केवल 'सेंदुर दान' का भेद माना जाता है।

जो लोग कहा करते हैं कि विवाह के समय राम तो मिथिला में थे, फिर यहाँ यह कृत्य कैसे हुआ, उनको तुलसीदास का अध्ययन आँख खोल कर करना चाहिए। तुलसीदास ने जहाँ तहाँ यह बता दिया है कि अयोध्या में विवाह के लिये प्रस्थान करने के पहले क्या कुछ हुआ। 'गीतावली' में कहते हैं—

गुरु आयसु मंडप रच्यो सब साज सजाई।
तुलसीदास दसरथ बरात सजि
पूजि गनेसहिं चले निसान बजाई।

—बालकांड, १०१

इसी को 'जानकी मंगल' में कुछ विस्तार के साथ देखा जा सकता है—

गुनि गन बोलि कहेउ नृप मांडव छावन।
गावहिं गीत सुवासिनि बाज बधावन ॥१२७॥

सीय राम हित पूजहिं गौरि गनेसहिं।
परिजन पुरजन सहित प्रमोद नरेसहिं ॥१२८॥

प्रथम हरदि वेदन करि मंगल गावहिं।
करि कुल रीति कलस थपि तेलु चढ़ावहिं ॥१२९॥

× × ×

सुनि पुर भयउ अनंद बधाव बजावहिं।
सबहिं सुमंगल कलस बितान बनावहिं ॥१३२॥

राउ छाँड़ि सब काज साज सब साजहिं।
चलेउ बरात बनाइ पूजि गन राजहि ॥१३३॥

विवाह के अवसर पर अयोध्या में जो कुछ हो रहा है वह 'नहछू' के प्रतिकूल तो है नहीं; हाँ, सभी कुछ नहछू के अनुकूल ही कहा जा सकता है। अतः 'रामललानहछू' के प्रसंग में विवाह और उपवीत का विवाद उठाना व्यर्थ है। पाषाण में प्राणप्रतिष्ठा कर उसको देवता का रूप दे देना जिस जाति के लिये सुगम है, उसके लिये ऐसा कुछ उपाय रच लेना कठिन नहीं कि जिससे कोई कृत्य अथवा कुलरीति अधूरी न रह जाय। अस्तु, हमारा कहना है कि 'रामललानहछू' की रचना नहछू के लिये ही हुई है जो विवाह तथा उपवीत दोनों अवसरों पर होता है। अब रही काव्यगत कुछ त्रुटियों की चर्चा। सो यहाँ भी यदि विवेक से देखा जाय तो कोई संकट नहीं रहता और बात आप ही बन जाती है।

कहा जाता है कि 'रामललानहछू' में ऐसी त्रुटियाँ हैं जिन्हें प्रौढ़ कलाकार—सो भी तुलसी जैसा—कर ही नहीं सकता। जैसे नहछू में कौसल्या की जेठि का उल्लेख करना, और नाउन का फिर से बुलाना आदि। पहले, पहली बात को ही लीजिए और कृपाकर भूल न जाइए कि यह नहछू इतिहास नहीं। घर घर उछाह मनाने का गान है, जो गाया जाता है परम सिद्धि के लिये ही। तुलसीदास ने 'रामललानहछू' की रचना की है घर घर लला के नहछू के रूप में इसे फैलने के हेतु ही। और कोई कारण भी तो ऐसा नहीं दिखाई देता कि 'जेठि' का अर्थ सभी 'जेठि' ही लिया जाय। कुल की जेठि भी तो जेठि ही है। अरे! बड़े और छोटे का संबंध पेट तक ही नहीं रहता वह घर के बाहर पूरे वंश में क्या ग्राम भर में फैला रहता है और जिसका जो कृत्य है उसी को वह करना भी पड़ता है। स्मरण रहे, हिंदू परिवार में ही नहीं जातिपाँति में भी बँधा है और जाति में छोटे बड़े का बड़ा विचार है'। फिर 'जेठि' की आपत्ति कैसी ?

'जेठि' की भाँति ही 'नाउन' का तर्क भी निर्मूल है यह सच है कि तुलसीदास पहले लिखते हैं—

> नयन विसाल नउनिया भौं चमकावइ हो।
> देइ गारि रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो ॥ ८ ॥

और फिर कह जाते हैं—

> नाउनि अति गुनखानि तो बेगि बुलाई हो।
> करि सिंगार अति लोन तो बिहँसति आई हो ॥
> कनक चुनिन सो लसित नहरनी लिये कर हो।
> आनंद हिय न समाय देखि रामहिं बर हो ॥१०॥

इसमें विरोध की कोई बात कहाँ आ जाती है। 'बेगि बुलाई' का अर्थ यह तो हो नहीं सकता कि वह ठीक इसी अवसर पर घर से बुलाई जाती है। हो सकता है जो गाती रही हो वही अपना अवसर आने पर वहाँ से बुलाई गई हो और सज धज कर आ गई हो। दूसरे, यह दूसरी भी तो हो सकती है। राजा के घर नाउन की कमी क्या ? यहाँ इतना और भी समझ रखना चाहिए कि नहछू में नाउन ही मुख्य है।

जो लोग उसकी रसिकता से झिझकते हैं उनको नाउन की प्रकृति पर विचार करना चाहिए और यह न भूलना चाहिए कि तुलसीदास को क्या पड़ी थी और था क्या प्रलोभन कि उठती जवानी में 'रामललानहछू' की रचना करने चले और कहते कहते यहाँ तक कह गए कि—

राम-लला कर नहछू अति सुख गाइअ हो।
जेहि गाये सिधि होइ परम निधि पाइअ हो ॥१॥

दसरथ राउ सिंघासन बैठि बिराजहि हो।
तुलसिदास बलि जाइ देखि रघुराजहि हो॥

जे यह नहछू गावैं गाइ सुनावईं हो।
रिद्धि सिद्धि कल्यान मुक्ति नर पावईं हो ॥२०॥

इतना ही क्यों, तुलसीदास का तो मत है—

जो पगु नाउन धोवइ राम धोवावइँ हो।
सो पग धूरि सिद्ध मुनि दरसन पावईं हो॥

अतिशय पुहुप क माल राम उर सोहइ हो।
तिरछी चितवनि आनँद मुनि मुख जोहइ हो ॥१४॥

तात्पर्य यह कि यह नहछू तुलसीदास की ही रचना है और हैं भक्ति भाव से परिपूरित भक्त तुलसीदास की ही। यहाँ 'अतिशय' 'पुहुप' का विशेषण नहीं, 'सोहइ' का है। 'तिरछी चितवनि आनंद मुनि मुख जोहइ हो' में राम के जिस शील और जिस मर्यादा का दर्शन होता है वह निपुण तुलसी ही के राम हैं कुछ बालक तुलसी के कदापि नहीं। कहने का भाव यह कि 'रामललानहछू' की रचना 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' की रचना के पश्चात् हुई है और हुई है उस इष्टसिद्धि के हेतु जो उन मंगलों से सिद्ध न हो सकी थी। इसकी रसिकता भी कुछ तो नाउन की प्रधानता के कारण है और कुछ जन-सामान्य के मन लगाने के कारण। इसमें नाउन का परिहास भी विदग्धता से भरा है और कुछ अजब नहीं कि लक्ष्मण को चिढ़ाने के हेतु ही ऐसा किया गया हो। नाउन के परिहास पर ध्यान दें और परिस्थिति के मूल में बैठने का कष्ट करें। वह कहती है—

काहे राम जिउ सॉवर लछिमन गोर हो।
की दहुँ रानि कौसिलहिं परिगा भोर हो॥
राम अहहिं दसरथ कै लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाइ तौ श्री रघुनाथ क हो॥ १२॥

इसमें सीधा लक्ष्य 'लछिमन' को ही बनाया गया है और उनको कहा भी गया है खुलकर 'आन क हो'। चिढ़चिढ़े बालकों को इस प्रकार का चिढ़ाना स्वाभाविक ही है और उधर परिहास का लक्ष्य क्रमशः कौशल्या और सुमित्रा को बनाना भी बड़े ढब का है। ऐसे विदग्ध परिहास को अश्लील नहीं कहा जा सकता और न सामान्य कवि की लेखनी से ऐसा परिहास निकल ही सकता है। और भी पते की बात तो यह है कि इस परिहास में कैकयी अछूती रह गई है। यहाँ भी वह त्याज्य हो गई है अतएव हमारी दृष्टि में 'नहछू' की रचना 'जानकी मंगल' के उपरांत ही हुई और हुई जनसमाज में घर करने के विचार से ही।

बरवै रामायण

नहछू की भाँति ही 'बरवै रामायण' में भी शृंगार की अधिकता है जिससे कुछ लोग उसे भी तुलसीकृत नहीं मानते। 'बरवै रामायण' के बारे में यह भी कहा जाता है कि तुलसीदास ने इसे रहीम के बरवै से प्रभावित होकर रचा। परंतु इसको मानने का कोई ठोस आधार नहीं दिखाई देता। इसकी संभावना तो तभी हो सकती है जब 'बरवै रामायण' को बहुत इधर की रचना माना जाय। तुलसी और रहीम का मिलन अवश्य हुआ होगा और एक दूसरे से कुछ न कुछ प्रभावित भी अवश्य हुए होंगे। रहीम काशी की ओर कभी रह भी चुके थे और चित्रकूट के प्रशंसक भी कुछ कम न थे। तो भी हमको यह कहने में संकोच नहीं होता कि तुलसीदास ने 'बरवै रामायण' की रचना अपने जीवन के पूर्वार्द्ध ही में की। उस समय उनका रहीम से प्रभावित होकर बरवै में हाथ लगाना सिद्ध नहीं हो पाता। जो लोग बरवै की रचना संवत् १६६६ में मानते हैं उनके लिये यह ठीक ठहरता है। किंतु अपनी धारणा तो वैसी नहीं है। 'बरवै रामायण' में भक्त तुलसी का रूप नहीं दिखाई देता। उसमें तो कवि तुलसी ही दृष्टिपथ में आते हैं। बरवै में कला पर जितना ध्यान तुलसीदास का है उतना किसी भी अन्य ग्रंथ में

नहीं। यहाँ तक कि उत्तरकांड में भी कहीं किसी बरवै में राम के शील, स्वभाव और गुण का उल्लेख नहीं हुआ है। हाँ, इतना निवेदन अवश्य किया गया है—

तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय।
बड़े भाग अनुराग राम सन होय॥ ६३॥

तथा

जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहि देहु।
तहँ तहँ राम निबाहिब नाम सनेहु॥ ६६॥

किंतु ऐसे छंदों में भी राम का नाम तो लिया गया है पर राम के उस शील, उस स्वभाव और उस गुण का कहीं अंकन नहीं हुआ जो तुलसी का सर्वस्व है। दूसरी ओर हम देखते हैं तो हनुमान सीता के वियोग का वर्णन राम से इस प्रकार करते हैं कि उसमें वह मातृ बुद्धि नहीं दिखाई देती जो अन्य कृतियों में है। देखिए, कहते हैं—

सिय वियोग दुख केहि विधि कहँहु बखानि।
फूल बान तें मनसिज बेधत आनि॥

इसके साथ ही इतना और भी टाँक रखना चाहिए कि उत्तरकांड को छोड़ कहीं 'तुलसीदास' छाप का प्रयोग नहीं हुआ है। सर्वत्र 'तुलसी' मात्र का हुआ है। हाँ, उत्तरकांड का पहला ही बरवै है—

चित्रकूट पय तीर सो सुर-तरु वास।
लखन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास॥

और दूसरा है—

पय बहाइ फल खाहु परिहरिय आस।
सीय राम पद सुमिरहु तुलसीदास॥

इस 'तुलसीदास' के विषय में इतना और जान लें कि तुलसी ने एक बरवै में इसकी भी सूचना दी है और कहा है—

केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास।
राम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥ १६॥

सारांश यह कि उत्तरकांड के बरवै तब बने जब तुलसी तुलसीदास के रूप में ख्यात हो गए थे और रहते थे कदाचित् चित्रकूट में ही। चित्रकूट में अभी तुलसी राम नाम के द्वारा राम के पद में प्रेम बढ़ाते थे और उसी को चारों फल का दाता समझते थे। जो भी हो, किसी भी बरवै में तुलसी का राम के प्रति वह उल्लास नहीं दिखाई देता जो आगे चलकर उनके पद पद से फूट निकलता है। और तो और न तो इसमें कहीं अहल्या का नाम आता है और न कहीं जटायु का। निषाद का प्रसंग भी कुछ चलता सा कर दिया गया है और उनका यह बरवै तो निरा कुतूहल वा चमत्कार पर ही आश्रित है—

तुलसी जनि पग धरहु गंग महँ साँच।
निगानांग करि नितहि नचाइहि नाँच॥

अस्तु, कुछ भी हो, इसको तो भक्त तुलसी की 'मानस' की रचना के पश्चात् की कृति मानने में पूरा संकोच होता है। वैसे उसके पहले चाहे जब हुई हो। वास्तव में यह कोई प्रबंधकाव्य है भी नहीं। अतः यदाकदा रचित बरवै का यह संग्रह मात्र भी माना जा सकता है। किंतु किसी भी दशा में इसमें तुलसीदास के शीलविधायक राम का साक्षात्कार नहीं होता। अतः हम इसको आदिकाल की रचना ही मानना ठीक समझते हैं।

वैराग्य संदीपनी

'वैराग्य संदीपिनी' की स्थिति बरवै से भिन्न है। इसकी रचना कब हुई, इसमें भी बड़ा मतभेद है। यदि तुलसी और तुलसीदास की छाप को कसौटी मानें तो कहना होगा कि यह तुलसी की रचना है, तुलसीदास की नहीं। कारण यह कि इसमें कहीं तुलसीदास की छाप नहीं है। हाँ, एक दोहे में वह अवश्य आई है, जो है—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
राम रूप स्वाती जलद चातक तुलसीदास॥ १५॥

यहाँ भी कठिनाई यह है कि यही दोहा 'दोहावली' में इस रूप में मिलता है—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥ २७७॥

यही नहीं 'वैराग्य संदीपिनी' का प्रथम दोहा वही है जो 'दोहावली' का। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज ही उठता है कि इसकी रचना क्या वैराग्य संदीपिनी के हेतु ही हुई? 'वैराग्य संदीपिनी' स्फुट काव्य नहीं, कारण कि तुलसीदास ने आरंभ में ही लिख दिया है—

तुलसी वेद पुरान मत पूरन सास्त्र विचार।
यह विराग संदीपिनी अखिल ज्ञान को सार ॥ ७ ॥

एवं अंत में भी कहा है—

यह विराग संदीपिनी सुजन सुचित सुनि लेहु।
अनुचित वचन विचारि कै जस सुधारि तस देहु।

तुलसी को अपनी शक्ति का विश्वास नहीं है और फलतः यह रचना भी बहुत ही सामान्य हुई है। यह सच है कि तुलसी ने स्वयं कहा है—

सरल बरन भाषा सरल सरल अर्थमय मानि।
तुलसी सरलै सन्त जन ताहि परी पहिचानि।

किंतु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि इस सरलता के कारण ही 'वैराग्य संदीपिनी' की कविता अति सामान्य हो गई है। नहीं, इसका कारण तो कुछ और ही है। ध्यान से देखा जाय तो यहाँ तुलसी पर संतप्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसमें तुलसी कुल की उपेक्षा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। कहते हैं—

तुलसी भगत सुपच्च भलो भजै रैन दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम ॥ ३८ ॥

अति ऊँचे भूधरनि पर भुजगन के अस्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद ऊख अन्न अरु पान ॥ ३९ ॥

ऊख का यह प्रयोग पूरबी है, तो कुल की यह निंदा कबीरी। और भी—

जदपि साधु सब ही विधि हीना।
तद्यपि समता के न कुलीना ॥
यह दिन रैनि नाम उच्चरै।
वह नित मान अगिन में जरै ॥ ४१ ॥

यहाँ राम नहीं, 'नाम उच्चरै' का विधान है। तुलसीदास का एक दोहा है—

> महि पत्री करि सिंधु मसि तरु लेखनी बनाइ।
> तुलसी गनपति सो तदपि, महिमा लिखी न जाइ ॥ ३५ ॥

यह दोहा जहाँ एक ओर 'असित गिरि समं' की सुधि दिलाता है वहीं दूसरी ओर यह भी शंका उत्पन्न कर देता है कि यहाँ शारदा क्यों नहीं? शारदा के स्थान पर तुलसी ने 'गनेस' का प्रयोग क्यों किया? साथ ही यह ध्यान रहे कि यह भाव कबीर और जायसी के यहाँ भी है। कबीर का कहना है—

> सात समँद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
> धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिख्या न जाइ ॥ ८ ॥

—कबीर-ग्रंथावली

तो क्या तुलसी ने कबीर के यहाँ से यह भाव लिया है अथवा 'महिम्न स्तोत्र' के प्रसिद्ध श्लोक में ही परिवर्तन कर शारदा को गणेश बना दिया है। स्थिति कुछ भी हो, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि तुलसी को 'मानस' की रचना के उपरांत इस प्रकार की रचना में उतर पड़ना कभी नहीं इष्ट होगा। कोई कुछ भी कहता रहे, हमें तो लगता है कि यही तुलसी की पहली रचना है और है वैराग्य की पहली संदीपिनी।

अब '*रामाज्ञा प्रश्न*' पर भी कुछ शोध का हाथ देखना चाहिए। 'रामाज्ञा प्रश्न' शकुन संबंधी ग्रंथ है। देखने से ही व्यक्त होता है कि इसकी रचना सिद्ध तुलसी ने की होगी।

रामाज्ञा प्रश्न

किंतु इसमें कुछ लोगों को संदेह है। संदेह तो संदेह ही, श्री माताप्रसाद गुप्त ने इसके एक दोहे में संवत् का भी दर्शन कर लिया है। उनका दृढ़ मत है कि 'रामाज्ञा प्रश्न' के इस दोहे में संवत् का निर्देश है—

> सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नय बान।
> होइ सुफल सुभ जासु जस प्रीति प्रतीति प्रमान ॥७।७।३॥

परंतु यह उनका शुद्ध भ्रम है। तुलसीदास ने किसी भी अन्य ग्रंथ में इस प्रकार तिथि देने का विचार नहीं किया है। प्रसंग भी तिथि का नहीं है, शकुन देखने की विधि का है। इस विधि विधान में काल निर्देश की कोई आवश्यकता भी नहीं दिखाई देती। निदान इसको भ्रममात्र अथवा अपनी धारणा को तुलसीदास में ढूँढ निकालना ही मानना चाहिए। हाँ; रामाज्ञा प्रश्न का अंतिम दोहा विचारणीय अवश्य है, जो है—

गुन विस्वास विचित्र मनि सगुन मनोहर हारु।
तुलसी रघुबर भगत उर, बिलसत बिमल बिचारु॥

स्मरण रहे, यही 'बिमल बिचारु' अन्यत्र एक दूसरे दोहे में भी है—

सुभग सगुन उनचास रस राम चरित मय चारु।
राम भगत हित सफल सब तुलसी बिमल बिचारु॥६।७।७॥

इस 'बिमल बिचारु' के साथ ही साथ इतना और भी जान लें कि इसमें 'रामचरितमानस' की जहाँ तहाँ छाप भी है। किंतु जो लोग इसे 'रामचरितमानस' से पहले की रचना मानते हैं उनकी ओर से यह कहा जाता है कि 'मानस' में उसका निखरा हुआ रूप आया है जो 'रामाज्ञा प्रश्न' में लड़खड़ाता हुआ दिखाई देता है। अतएव हम इस प्रकार की तुलना में नहीं पड़ना चाहते। हाँ, इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि इसमें तुलसी का जो नाम आया है वह विशेष रूप से मनन करने योग्य है। देखिए--

तुलसी तुलसी राम सिय सुमिरैं लखन हनुमान।
काजु बिचारेहु सो करहु दिनु दिनु बड़ कल्यान॥१।१।७॥
तुलसी तुलसी मंजरी मंगल मंजुल मूल।
देखत सुमिरत सगुन सुभ कलपलता फल फूल॥३।४।७॥
तुलसी कानन कमल वन सकल सुमंगल वास।
राम भगति हित सगुन सुभ सुमिरत तुलसीदास॥५।४।७॥
लरत भालु कपि सुभट सब निदरि निसाचर घोर।
सिर पर समरथ राम सो साहिब तुलसी तोर॥५।६।७॥
राम नाम रति नाम गति राम नाम विश्वास।
सुमिरत तुम मंगल कुशल तुलसी तुलसीदास॥६।४।७॥

राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यान मय सुरतरु तुलसी तोर ॥७।३।७॥
तुलसी तुलसी राम सिय सुमिरहु लखन समेत।
दिन दिन उदउ अनन्द अब सगुन सुमंगल देत ॥७।५।७॥

आदि दोहों में तुलसी और तुलसीदास का जो रूप सामने आया है वह निश्चय ही महत्व का है और है प्रसिद्ध तुलसी का ही। अंतिम दोहे में जो 'अब' शब्द आया है वही अब इस दोहे में भी है—

दस दिसि दुख दारिद दुरित दुसह दसा दिन दोष।
फेरे लोचन राम अब सन्मुख साज सरोस ॥७।५।२।

खेती बनिज न भीख भलि अफल उपाय कदम्ब।
कुसमय जानब बाम बिधि राम नाम अवलम्ब ॥७।५।३॥

इसमें जिस 'कुसमय' का संकेत है उसको दृष्टि में रख कर इस दुकाल को तौलिए—

उठि बिसाल बिकराल बड कुंभकरन जमुहान।
लखि सुदेस कपि भालु दल जनु दुकाल समुहान ॥५।७।२॥

यह तो हुई दुकालकी चढ़ाई। अब उसका दलन भी देख लीजिए—

राम स्याम बारिद सघन बसन सुदामिनि माल।
बरसत सर हरषत बिबुध दसा दुकालु दयाल।५।७।३॥

इन दोहों से अवगत होता है कि हो न हो इस समय कभी दुकाल पड़ा था जो रामकृपा से दूर हो गया। इतिहास से सिद्ध है कि अकबर के समय में कई दुकाल पड़े थे जिनमें से संवत् १६५५ का दुकाल प्रसिद्ध है। यह १६५२ से १६५५ तक बना रहा। तुलसीदास ने इस दुकाल का दुखड़ा 'कवितावली' में भी भरपूर रोया है। लीजिए, लिखते हैं—

दिन दिन दूनो देखि दारिद दुकाल दुख
दुरित दुराज सुख सुकृत सकोचु है।
माँगे पैंत पावत पचारि पातकी प्रचंड,
काल की करालता भले को होत पोचु है।

आपने तौ एक अवलम्ब अम्ब डिम्भ ज्यौं,
समर्थ सीतानाथ सब संकट विमोचु है।
तुलसी की साहसी सराहिये कृपालु राम,
नाम के भरोसे परिनाम को न सोचु है।

—कवितावली, उत्तर, ८१।

तथा—

खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों कहाँ जाइँ का करी।
बेदहू पुरान कही लोकहू बिलोकियत,
साँकरे सबै पै राम रावरे कृपा करी।
दारिद दसानन दबाई दुनी दीन बंधु,
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।

—कवितावली, उत्तर, ६७।

दोनों वर्णनों में कितना साम्य है इसे कोई भी देख सकता है, पर जो आज तक किसी के दृष्टिपथ में नहीं आया वह यही है। 'फेरे लोचन राम अब' में 'अब' की ध्वनि भी यही है। उधर हम देखते हैं कि यह कहा भी जाता है कि 'रामाज्ञा प्रश्न' की एक प्रति संवत् १६५५ की कही जाती है जिसके संबंध में स्वर्गीय सर जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा था कि छक्कनलाल का कहना है कि उन्होंने संवत् १८८४ में 'रामाज्ञा प्रश्न' की एक प्रतिलिपि मूल प्रति से ली थी जो तुलसीदास के हाथ की लिखी थी और जिसकी तिथि संवत् १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार थी। तो क्या यही सचमुच 'रामाज्ञा प्रश्न' की निश्चित तिथि है? प्रस्तुत अध्ययन तो इसी को पुष्ट करता है। छक्कनलाल की पुष्पिका है—

"श्री संवत् १६५५ जेठ सुदी १० रबिवार की लिखी पुस्तक श्री गुसाईंजी के हस्तकमल की प्रह्लादघाट श्री काशी जी में रही। उस पुस्तक पर से श्री पंडित रामगुलामजी के सत्संगी कायस्थ मिरजापुर वासी ने अपने हाथ से संवत् १८८४ में लिखा था।"

और 'षोडश रामायण संग्रह' में रामाज्ञा प्रश्न के अंत में जो—

"हस्ताक्षर श्री गुसाईंजी संवत् १६५५ रविवार ज्येष्ठ शुक्ल १०" छपा है उससे भी इसी की पुष्टि होती है। इधर पंजाब में हिंदी हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज में संवत् १६५५ की जो प्रति प्राप्त हुई है वह भी द्रष्टव्य है। संभव है कि यह वही प्रति हो जो पंडित रामकृष्ण नामक पुरोहित के पास थी और एक बार रेल में यात्रा करते समय उनके पास से चुरा ली गई। रामाज्ञा प्रश्न के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इसकी रचना इसी संवत् में प्रह्लादघाट पर हुई थी। कहते हैं कि यह गंगाराम के हित के लिये लिखी गई थी। प्रथम सर्ग का अंतिम दोहा है—

सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमि सुर गो गन गंगाराम॥

इसमें आए हुए 'गंगाराम' में इसी का संकेत बताया जाता है। जो लोग गंगा और राम को अलग अलग देखना चाहते हैं उनको गंगा की प्रसन्नता का रहस्य खोलना चाहिए। हमारी दृष्टि में तो इस व्यापक प्रसन्नता का मूल कारण है दुकाल का सर्वथा नाश ही।

तुलसीदास के सामान्य ग्रंथों का कुछ लेखा लेने के उपरांत अब उनके कुछ प्रमुख प्रबंधग्रंथों को लेना चाहिए। 'रामचरितमानस' की तिथि के संबंध में कोई विवाद नहीं। रही 'गीतावली' सो उसके विषय में अच्छा विवाद है। 'गीतावली' को गीतावली का नाम कब मिला यह भी विवाद का विषय हो गया है। संवत् १६६६ की जो प्रति मिली है उसमें पदावली रामायण का नाम है। नाम कुछ भी रहा हो पर इससे इतना तो निर्विवाद है कि इस समय इसकी रचना हो चुकी थी। 'गीतावली' को कुछ लोग 'रामचरितमानस' के पहले की रचना मानते हैं और कुछ लोग उसके पश्चात् की। हम प्रथम पक्ष को ही साधु समझते हैं। सर्वप्रधान कारण तो यह है कि 'गीतावली' में तुलसीदास की दृष्टि कविता पर जितनी है उतनी भक्ति पर नहीं और उनकी ख्याति भी इसमें वैसी नहीं लक्षित होती जैसी 'मानस' में। तुलसीदास स्वयं क्या चाहते हैं इसे भी देख लें तो स्थिति को समझने में और भी सुविधा हो। कहते हैं—

गीतावली

उपवन मृगया विहार कारन गवने कृपाल,
जननी मुख निरखि पुन्य पुंज निज विचारे।
तुलसिदास संग लीजै जानि दीन अभय कीजै,
कीजै मति विमल गावै चरित वर तिहारे।

—गीतावली, बाल, ३७।

और होते होते उनकी रति रामचरित में इतनी दृढ़ हो गई कि उन्होंने 'गीतावली' के अंत में राम के राज्याभिषेक पर उनसे भक्ति दान की याचना की—

वेद पुरान विचारि लगन सुभ महाराज अभिषेक कियो।
तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगति दान तब माँगि लियो॥

और अपनी 'भणित' के विषय में तुलसीदास की धारणा है—

तुलसी भनित सबरी प्रनति रघुबर प्रकृति करुनामई।
गावत सुनत समुझत भगति हिय होय प्रभु पद नित नई॥

—गीतावली, अरण्य, १७।

तुलसी की इस कविता में भक्ति है और इस भक्ति में सगुण का आग्रह भी; किंतु कहीं उसका खुला प्रतिपादन नहीं। तुलसीदास का जो गठा और निखरा हुआ रूप 'मानस' में दिखाई देता है उसका आभास 'गीतावली' में सभी प्रकार प्राप्त हो जाता है। प्रतीत होता है कि 'गीतावली' की रचना करने के अनंतर तुलसीदास को अपनी शक्ति और रामकृपा पर इतना विश्वास हो गया कि उनको 'रामचरितमानस' में उतर पड़ने में किसी प्रकार की आशंका नहीं रही। तुलसी ने करुण भावों का जैसा चित्रण 'गीतावली' में किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'गीतावली' में चित्रकूट और अयोध्या की जो स्थिति है वह 'रामचरित-मानस' में नहीं। 'गीतावली' में तुलसी चित्रकूट में हैं और हैं अयोध्या में। 'मानस' में तुलसी सदा राम के साथ हैं यही कारण है कि 'गीतावली' में चित्रकूट की जो रमणीयता और अयोध्या में जो राम वियोग का विषाद है वह 'मानस' में नहीं है। 'गीतावली' में तुलसीदास का अभिमत है—

जिन्हके मन मगन भये हैं रस सगुन
तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि।
स्रवन सुखकरनि भव सरिता तरनि
गावत तुलसिदास कीरति पवनि।

—अरण्य, ५।

हमें भूलना न होगा कि तुलसी ने जो 'मानस' में बड़े अभिमान के साथ लिख दिया—

जे कवित्त बुध नहि आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।

वह इसी 'गीतावली' के आधार पर। जो लोग 'गीतावली' को 'मानस' के बाद की रचना बताते हैं उनको कुछ इसका भी भेद बताना चाहिए कि 'रामचरितमानस' के पहले तुलसी की कौन सी रचना ऐसी हुई जिससे तुलसी को इतना बल मिला।

कथाप्रबंध की दृष्टि से तुलसी का अध्ययन ठीक ठीक नहीं हो सकता। कारण यह कि तुलसी की दृष्टि में कथा सदा गौण रही है। उनका ध्यान तो नित्य राम में रमा रहा है और रहा है रामरस में मग्न भी। अस्तु, तुलसी ने 'गीतावली' में रामचरित को किस रूप में लिया है, इसे भी देख लें और कृपया इसे भी शोध ले कि तुलसी के सामने प्रबंधरचना का कोई लक्ष्य रहा है वा नहीं। सो, तुलसी स्वयं अपनी कह सुनाते हैं—

रघुनाथ तुम्हारे चरित मनोहर गावहिं सकल अवधवासी।
अति उदार अवतार मनुज बपु धरे ब्रह्म अज अविनासी॥
प्रथम ताड़का हति सुबाहु बधि, मख राख्यो द्विज-हितकारी।
देखि दुखी अति सिला साप बस, रघुपति विप्रनारि तारी॥
सब भूपन को गरब हऱ्यो हरि, भंज्यो संभु चाप भारी।
जनकसुता समेत आवत गृह परसुराम अति मदहारी॥
तात बचन तजि राज काज सुर चित्रकूट मुनि वेष धऱ्यो।
एक नयन कीन्हो सुरपति सुत, बधि बिराध ऋषि शोक हऱ्यो॥
पंचवटी पावन राघव करि सूपनखा कुरूप कीन्ही।
खर दूषन संहारि कपटमृग गीधराज कहँ गति दीन्हीं॥

हति कबंध, सुग्रीव सखा करि, बेधे ताल, बालि मार्‍यो।
बानर रीछ सहाय अनुज सँग सिंधु बाँधि जस बिस्तार्‍यो॥
सकुल पुत्र दल सहित दसानन मारि अखिल सुर दुख टार्‍यो।
परम साधु जिय जानि बिभीषन लंकापुरी तिलक सार्‍यो॥
सीता अरु लछिमन सँग लीन्हे औरहु जिते दास आये।
नगर निकट बिमान आये सब नर नारी देखन धाये॥
सिव बिरंचि सुक नारदादि मुनि, अस्तुति करत बिमल बानी।
चौदह भुवन चराचर हरषित, आये राम राजधानी॥
मिले भरत जननी गुरु परिजन चाहत परम अनन्द भरे।
दुसह बियोग जनित दारुन दुख रामचरन देखत बिसरे॥
वेद पुरान बिचारि लगन सुभ महाराज अभिषेक कियो।
तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगति दानतब माँगि लियो॥

'गीतावली' के अंत में कथा का सार जो इस प्रकार दे दिया गया है उसका अर्थ है इसको कथा वा चरित के रूप में लेना।

कृष्ण गीतावली

किंतु 'कृष्ण गीतावली' में यह बात नहीं है। इसमें तुलसी का ध्यान एक ओर और भी गया है। उनका एक पद है—

कोउ सखि नई चाह सुनि आई।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति सों मदन मिलिक करि पाई॥
घन धावन, बगपाँति पटोतिर, बैरख तड़ित सोहाई।
बोलत पिक नकीब, गरजनि मिस मानहुँ फिरति दोहाई॥
चातक मोर चकोर मधुप सुक सुमन समीर सुहाई।
चाहत कियो बास बृन्दावन बिधि सो कछु न बसाई॥
सीव न चाँपि सको कोऊ तब जब हुते राम कन्हाई।
अब तुलसी गिरिधर बिन गोकुल कौन करिहि ठकुराई॥३२॥

इसमें तुलसी का ध्यान उस समय की शासन प्रणाली की ओर भी गया है। इसके अतिरिक्त और कहीं 'कृष्णगीतावली' में ऐसा सूत्र नहीं मिलता जिससे उसकी रचनातिथि का कुछ ठीक ठीक पता लगाया जा सके। वैसे तो 'मीन मजा सों लागै' आदि के आधार पर इसे काशी की दुर्दशा के समय तक लाया जा सकता है पर यह सब कल्यान मात्र है। 'कृष्णगीतावली' इधर की रचना है इसमें संदेह नहीं और रची

गई है प्रबंध के रूप में। इसमें तुलसी ने अपनी सी कर दिखाई है। उनकी व्रजबालाएँ कहती हैं—

सब मिलि साहस करिय सयानी।
व्रज आनियहि मनाइ पायँ परि कान्ह कूबरी रानी॥
बसै सुबास, सुपास होहि सब फिरि गोकुल रजधानी।
महरि महर जीवहिं सुख जीवन खुलहि मोद मनि खानी॥
तजि अभिमान अनख अपनो हित कीजिय मुनिवर बानी।
देखिबो दरस दूसरेहु चौथेउ बड़ो लाभ, लघु हानी॥
पावक परत निषिद्ध लाकरी होति अनल जग जानी।
तुलसी सो तिहुँ भुवन गाइबी नंद सुवन सनमानी॥४८।

भाव यह कि तुलसीदास ने इसे कभी जीवन के उत्तरार्ध में ही लिखा होगा और यह उचित समझा होगा कि जिस कृष्ण को लेकर चारों ओर इतनी धूम मची है उस कृष्ण को छोड़ जाना ठीक नहीं; अतः उन्होंने 'श्रीकृष्ण गीतावली' की रचना भी कर डाली और जहाँ तहाँ कह भी दिया कि—

तुलसी जे तोरे तरु किये देव दिये बरु
के न लह्यौ कौन फरु देव दामोदर तें॥१७॥

परंतु यहाँ भी उन्होंने अपनी अनुपम छाप लगा ही दी। लीजिए, कहते हैं—

गहगह गगन दुंदुभी बाजी।
बरषि सुमन सुरगन गावत जस हरष मगन मुनि सुजन समाजी।
सानुज सगन ससचिव सुजोधन भये मुख मलिन खाइ खल खाजी॥
लाज गाज उनवनि कुचाल कलि परी बजाइ कहूँ कहुँ गाजी।
प्रीति प्रतीति द्रुपदतनया की भली भूरि भय भभरि न भाजी॥
कहि पारथ सारथिहि सराहत गई बहोरि गरीब निवाजी।
सिथिल सनेह मुदित मन ही मन बसन बीच बिच बधू बिराजी॥
सभासिंधु जदुपति जय जय जनु रमा प्रगटि त्रिभुवन भर भ्राजी।
जुग जुग जग साके केसव के समन कलेस कुसाज सुसाजी।
तुलसी को न होइ सुनि कीरति कृष्णकृपालु भगतिपथ राजी॥६१॥

कृष्णगीतावली के इस अंतिम पद की अंतिम पंक्ति में जो 'को न होइ' का प्रयोग किया गया है वह यह दिखाने के हेतु ही कि कृष्णभक्तों का ऐसा समझना कि तुलसी कृष्णचरित के द्रोही हैं, ठीक नहीं। कृपालु कृष्ण की कीर्ति ऐसी रम्य और कल्याणप्रद है कि उसको सुनकर सभी कृष्णभक्ति में लीन हो जाएँगे, परंतु ध्यान देने की बात है कि उसका प्रसार ब्रज की लीला से कुछ बाहर भी है इसमें 'महाभारत' के कृष्ण प्रत्यक्ष गोचर होते हैं जो ब्रज के कृष्ण से भिन्न नहीं। जो हो; सीधी बात तो यह है कि तुलसीदास ने पदों में जो रामचरित लिया था वही 'रामचरितमानस' में दोहा, चौपाई, छंद और सोरठा आदि में सज उठा और भली भाँति पक्का प्रबंध भी बन गया। दोनों की कथाओं में जो थोड़ा सा अंतर आ गया उसका कारण अपने आप ही 'कथा प्रबंध बिचित्र बनाई' में खुल गया है। सारांश यह कि 'गीतावली' मानस से पहले बनी, कुछ बाद में नहीं। और 'कृष्ण गीतावली' बनी मानस के पश्चात्। यदि बाद में बनती तो उसमें भी राम में रमाने का तुलसी का दृढ़ आग्रह होता, परंतु 'गीतावली' में ऐसा आग्रह नहीं है। निदान रचनाक्रम में उसे 'मानस' के पहले स्थान दिया जाता है।

हाँ, 'गीतावली' की रचना सूर के पदों के ढंग पर हुई। फिर आगे चलकर तुलसी ने अपना नया राजमार्ग निकाल लिया और जब उनपर कृष्णभक्तों की बौछार पड़ी तब फिर ब्रजभक्तों के ढंग पर कृष्णचरित को हाथ में ले लिया।

तुलसीदास ने 'श्रीकृष्ण गीतावली' की रचना कब की इसका ठीक ठीक पता लगाना कुछ कठिन दिखाई देता है। कारण यह कि यह तुलसी का इष्ट विषय नहीं। कहा जाता है कि ब्रज यात्रा में जब कृष्ण ने तुलसी की प्रार्थना पर धनुषबाण धारण कर लिया तब तुलसी ने भी उनकी वंदना में 'कृष्ण गीतावली' की रचना कर दी। किंतु हम देखते हैं कि तुलसीदास अंत में 'कृष्णकृपालु' के प्रति यही भाव व्यक्त करते हैं कि कौन ऐसा व्यक्ति है जो कृष्णलीला सुनकर उनके भक्तिपथ पर सहमत न हो जायगा। कहते हैं—

जुग जुग जग साके केसव के समन कलेस कुसाज सुसाजी।
तुलसी को न होइ सुनि कीरति कृष्ण कृपालु भगति पथ राजी॥

तुलसी ने इतना कह तो दिया किंतु कहा 'द्रुपद तनया' के प्रसंग में कुछ ब्रज वनिता के विलाप के प्रकरण में नहीं। निदान इसका भी कुछ भेद खुलना चाहिए।

हाँ, तो 'कृष्ण गीतावली' में तुलसी का लक्ष्य जहाँ स्त्रियों के ठेठ प्रयोगो पर है वहीं उसमें पूरे श्रीकृष्ण चरित को संक्षेप में ला देने का संकल्प भी। इसमें भी उनके सामने ब्रज लीला ही प्रधान है।

सुनि कहँ सुकृति न नन्द जसुमति सम
न भयो न भावी नहिं बिद्यमान बियो है।
कौन जाने कौनो तप कौने जोग जाग जप,
कान्ह सो सुवन तोको महादेव दियो है।
इनही के आये ते बधाये ब्रज नित नये,
नादत बाढत सब सब सुख जियो है।
नन्दलाल बाल जस संत सुर सरबस,
गाइ सो अमिय रस तुलसिहु पियो है॥ १६॥

निदान, जी तो कहता है कि प्रबंध रचनाओं में इसको तुलसीदास का अंतिम ग्रंथ माना जाय और समझा यह जाय कि यह कृष्ण भक्तों को अपने रंग में रँगने का उपाय है। किंतु ऐसा निश्चय करने के पहिले उनके दो अन्य ग्रंथों के संबंध में भी कुछ जान लेना चाहिए।

विनयपत्रिका

'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' के बारे में कुछ विचार अवश्य होना चाहिए। 'विनयपत्रिका' जिस निश्चित उद्देश्य से लिखी गई है वह प्रत्यक्ष ही है--

बिनय पत्रिका दीन की बाप आपु ही बाँचो।

से प्रगट ही है कि यह 'विनय पत्रिका' पत्रिका के रूप में बनी और 'परी रघुनाथ सही है' से सिद्ध है कि उनके जीवन में ही कभी यह समाप्त हो गई। तुलसीदास ने इसमें यह भी लिखा है--

तुलसिदास अपनाइये कीजै न ढील अब जीवन अवधि अति नेरे।२७३।

'जीवन अवधि अति नेरे' से वृद्धावस्था का बोध होता है तो भी यहाँ भी कठिनाई यह है कि जीवन की अवधि का कोई ठिकाना नहीं। वह

साठ वर्ष के उपरांत तो प्रतिदिन आती हुई दिखाई देती है। 'विनय पत्रिका' की जो प्रति संवत् १६६६ की मिली है उसका नाम 'राम गीतावली' है और उसकी पुष्पिका है—

इति श्री तुलसीदास रचित (राम गीता) वली समाप्त।

यदि रघुपति भक्तिर्मुक्तिदा पेक्ष्यते सा,
सकल क [लुष हर्त्री] सेवनीयाऽप्रयासात्।
श्रृणुत सुमति पुंसो निर्मिता राम भक्तै-
र्जग (ति तुल) सि दासै राम गीतावलीऽयम्॥

—तुलसीदास, पृष्ठ २००।

यह 'रामगीतावली' कुल १७६ गीतों की है। इसे हम 'विनय पत्रिका' के रूप में नहीं पाते। तुलसी ने इसको कब 'विनयपत्रिका' का रूप दिया यह विचारणीय है। 'विनयपत्रिका' में इस समय कुल २७९ पद हैं और उसका अंत होता है 'परी रघुनाथ सही है' से। 'विनय पत्रिका' को प्रबंध के रूप में होना था किंतु उसके आरंभ में कुछ ऐसे भी पद आ गए हैं जिससे उसकी प्रबंधधारा में विघ्न पड़ जाता है। आरंभ में विविध देवों की जो वंदना की गई है सो तो ठीक है। उसका कारण यह है कि उनसे रामभक्ति में सहायता माँगी गई है और उसके राम तक पहुँचने का उपाय रचा गया है। परंतु बीच बीच में एकाध पद जो इधर उधर के आ गए हैं वे चिंत्य हैं। जैसे यमुना संबंधी यह पद लीजिए—

जमुना ज्यों ज्यो लागी बाढ़न।
त्यों त्यों सुकृत सुभट कलि भूपहिं निदरि लगे बहि काढ़न।
ज्यों ज्यों जल मलीन त्यो त्यो जय गन मुख मलीन लहै आढ़न।
तुलसिदास जगदघ जदास ज्यो अनघ मेघ लागै डाढ़न।२१।

इसका 'विनयपत्रिका' से क्या संबंध है? यमराज के नाते भी तो कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। यही दशा सब सोच विमोचन चित्रकूट की भी है। चित्रकूट की यहाँ कोई वार्ता नहीं। 'अब चित चेति चित्रकूटहि चलु' की तो और भी विचित्र स्थिति है। अवश्य ही ये पद कभी स्वतंत्र रचे गए थे और किसी ने 'विनयपत्रिका' के प्रसंग

को न समझकर इनको 'विनयपत्रिका' में भी स्थान दे दिया। ये वर्तमान 'विनयपत्रिका' के भीतर तो अवश्य हैं किंतु इनको इस पत्रिका का अंग मानना ठीक नहीं। तुलसीदास ने तो 'विनयपत्रिका' में स्पष्ट कह दिया है—

गाँव बसत बामदेव मैं कबहूँ न निहोरे।
आदिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे।
बेगि बोलि बलि बरजिये करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रुध्यौ चहैं सठ साखि सिहोरे ॥ ८ ॥

इसमें जिस आधिभौतिक बाधा का उल्लेख किया गया है उसको कुछ लोग शैवों का प्रकोप बतलाते हैं, किंतु ऐसे पदों का भी 'विनय पत्रिका' से सीधा संबंध नहीं गोचर होता। तलसीदास तो सीधे रूप में यह चाहते हैं—

देहु कामरिपु राम चरन रति। तुलसिदास प्रभु हरहु भेद मति। ७।

सारांश यह कि 'विनयपत्रिका' की भावना तुलसीदास के हृदय में कभी उक्त संवत् १६६६ के अनंतर ही हुई और इसके कुछ पद फलतः बने भी उसके उपरांत ही। 'विनयपत्रिका' के अंत के पद तो अवश्य ही विनय के रूप में रचे गए हैं और 'पत्रिका' के रूप में राजसभा में देने की दृष्टि से बने हैं। निदान मानना पड़ता है कि यदि इधर उधर के पदों को 'विनयपत्रिका' से छाँट दिया जाय तो विनयपत्रिका का निखरा हुआ रूप प्रबंध के व्यवस्थित ढाँचे में सामने आ जाय और उसकी संगति भी ठीक ठीक 'बाप आप ही बाँचो' से बैठ जाय।

विनय में भी कवितावली की भाँति कहीं कहीं साँसति और संकट की वार्ता है। यहाँ भी 'दुरित दारिद दुख' की बात कही गई है। समय की स्थिति को तुलसीदास ने एक ही पद में बाँध कर रख दिया है—

दीन दयालु दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव, दुआर पुकारत आरत, सबकी सब सुख हानि भई है ॥१॥
प्रभु के बचन बेद बुध सम्मत मम मूरति महिदेव मई है।
तिनकी मति रिस राग मोह मद लोभ लालची लीलि लई है। २॥

राज समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परमिति प्रति हेतुबाद हठि हेर हई है ॥३॥
आश्रम बरन धरम बिरहित जग, लोक बेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पापरत अपने अपने रंग रई है ॥४॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति, खल बिलसत हुलसत खलई है ॥५॥
परमारथ स्वारथ, साधन भये अफल, सफल नहिं सिद्ध सई है।
कामधेनु धरनी कलि गोमर, बिबस बिकल जामति न बई है ॥६॥
कलि करनी बरनिये कहाँ लौं, करत फिरत बिनु टहल टई है।
तापर दाँत पीसि कर मींजत, को जानै चित कहा ठई है ॥७॥
त्यो त्यो नीच चढ़त सिर ऊपर ज्यो ज्यो सील बस ढील दई है।
सरुष बरजि तरजिये तरजनी, कुम्हिलैहै कुम्हड़े की जई है ॥८॥
दीजै दादि देखि नातो बलि, मही मोद मंगल रितई है।
भरे भाग अनुराग लोग कहैं, राम अवध चितवनि चितई है ॥९॥
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुना वारि भूमि भिजई है।
राम राज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम जगत बिजई है॥
समरथ बड़ो सुजान सुसाहिब सुकृत सेन हारत जितई है।
सुजन सुभाव सराहत सादर अनायास साँसति बितई है॥
उथपे थपन, उजार बसावन, गई बहोर बिरद सदई है।
तुलसी प्रभु आरत आरतिहर अभय बाँह केहि केहि न दई है ॥१३९॥

इस पद में 'साँसति बितई है' के साथ ही साथ 'करुना बारि भूमि भिजई है' का उल्लेख किया गया है। इससे और पहले 'जामत न बई है' भी सामने आ चुका। इससे पाया जाता है कि इस पद की रचना किसी दुकाल के दूर होने पर ही हुई है। ऐसा दुकाल संवत् १६५५ में था, इसे हम देख चुके हैं। यदि यह अनुमान ठीक है तो इसके आधार पर कहा जा सकता है कि इसकी रचना १६५५ के उपरांत ही हुई होगी। तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में भी रोग का नाम लिया है—

रोग बस तनु कुमनोरथ मलिन मन,
पर अपवाद मिथ्यावाद बानी हई।

साधन की ऐसी बिधि साधन बिना न सिधि,
बिगरी बनावै कृपानिधि की कृपा नई ॥
पतित पावन हित आरत अनाथनि को,
निराधार को अधार दीनबंधु दई।
इन्ह मैं न एकौ भयो बूझि न जूझ्यौ न जयौ,
ताहि तें त्रिताप तयो लुनियत बई ॥२५२॥

प्रकृत पद में 'रोग बस तनु' और 'लुनियत बई' की जो बात कही गई है वह 'कवितावली' के कहाँ तक मेल में है इसको यथार्थ रूप में स्पष्ट करना दुस्तर है। तुलसी ने विनय में इतना और भी कहा है—

थके नयन पद पानि सुमतिबल संग सकल बिछुर्‍यौ।
अब रघुनाथ सरन आयो भव-भय बिकल डर्‍यौ ॥८१॥

किंतु इन संकेतों में कहां कोई ऐसा सूत्र नहीं मिलता जिससे 'विनयपत्रिका' की किसी निश्चित तिथि का बाध हो। अनुमान से यही कहा जा सकता है कि 'विनयपत्रिका' के कुछ पद संवत् १६६६ के बाद भी बनते रहे और जब सब बन गए तब 'रामगीतावली' को 'विनय पत्रिका' का रूप मिल गया और फिर किसी प्रकार उसमें कुछ ऐसे पद भी मिल गए जिनका 'विनयपत्रिका' से कोई सीधा संबंध नहीं।

कवितावली

'*कवितावली*' में तुलसीदास ने अपने रोग, दुष्काल और महामारी के विषय में बहुत कुछ कहा है, किंतु कहना यहाँ यह है कि 'कविता-वली' आदि से अंत तक कोई प्रबंधरचना नहीं। हाँ, इसमें कुछ प्रबंध अवश्य हैं। 'कवितावली' का 'सुंदरकांड' प्रबंध के रूप में ही लिखा गया है और यही स्थिति 'लंकाकांड' की भी है। शेष कांडों में 'उत्तर कांड' की स्थिति सर्वथा विचित्र है। इसमें सभी कुछ—जो दोहा और पद नहीं है और स्फुट या प्रबंध के रूप में रचा गया है—संकलित हो गया है। ध्यान से देखने से पता चलता है कि इस सकलन में तीन प्रसंग ऐसे हैं जिन्हें हम अंशतः प्रबंध के रूप में पाते हैं। इन तीनों का आरंभ छप्पय से होता है और फिर सवैया, कवित्त और घनाक्षरी आदि में इनका क्रम चलता है इनमें से प्रथम को हम रामस्तोत्र, द्वितीय को शिवस्तोत्र और तृतीय को हनुमान स्तोत्र कह सकते हैं। हनुमान स्तोत्र

तो 'हनुमान बाहुक' के रूप में अलग मिलता भी है और इसमें एक झूलना भी है, पर शिव स्तोत्र 'कवितावली' में ही पड़ा है। इस स्तोत्र में महामारी के विनाश की प्रार्थना की गई है। इसे हम चाहें तो महामारी का प्रबंध कह सकते हैं। इसी प्रकार 'हनुमान बाहुक' को कुरोग अथवा बाहुपीड़ा का प्रबंध कह सकते हैं। महामारी का नाश तो हो गया और कुरोग भी जाता रहा पर बाहुपीड़ा का भी अंत हो गया, ऐसा प्रतीत नहीं होता। महामारी की तिथि का पता लगाया जा सकता है। कारण यह कि उसमें रुद्र बीसी और मीन के शनैश्चर का उल्लेख है। तुलसी कहते हैं—

बीसी बिस्वनाथ की बिसाद बड़ो बारानसी,
बूझिये न ऐसी गति संकर सहर की।

—उत्तरकांड, १७०।

'संकर सहर' की कैसी गति है, इसे भी देख लें और देख लें कलिकाल की करालता को भी। कहते हैं—

संकर सहर सर नर नारि बारिचर,
बिकल सकल महामारी माँजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरि जात,
भभरि भगत जल थल मीचु मई है।
देव न दयालु महपाल न कृपालु चित,
बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है।
पाहि रघुराज पाहि कपिराज राम इत
राम हू की बिगरी तुहीं सुधारि लई है।

—उत्तरकांड, १७६।

काल की करालता तो है ही, किसी की मति भी ठौर ठिकाने नहीं है। लीजिए—

"एक तो कराल कलि काल सूल मूल तामैं,
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की
वेद धर्म दूरि गये, भूमिचोर भूप गये,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की।

दूबरे को दूसरो न द्वार राम दया धाम,
रावरीई गति बल बिभव बिहीन की।
लागैगी पै लाज वा विराजमान बिरुदहि
महाराज आज जौ न देत दाद दीनकी।"

—उत्तरकांड, १७७।

इस महामारी का अंत कैसे हुआ, इसका समाधान तुलसी के मुँह से सुनिए—

आश्रम बरन कलि बिबस बिकलभय,
निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी।
संकर सरोस महामारि ही ते जानियत,
साहिब सरोस दुनी दिन दिन दारदी।
नारि नर आरत पुकारत सुनै न कोउ,
काहू देवतनि मिलि मोटी मूठि मार दी।
तुलसी सभीत पाल सुमिरे कृपालु राम,
समय सुकरुना सराहि सनकार दी।

—उत्तरकांड, १८३।

यह तो हुई महामारी की इति, जिसका संबंध 'मीन की सनीचरी' से है, जिसका भोग चैत्र शुक्ल २ संवत् १६६९ से ज्येष्ठ संवत् १६७१ तक रहा है। अतएव इस महामारी का प्रकोप भी इसी समय में कभी रहा होगा। 'बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है' से यह तो ध्वनित नहीं होता कि यह रोग ही नया है, किंतु कुछ न कुछ इसका भी समावेश यहाँ हो सकता है। कुछ लोगों की धारणा है कि यह महामारी ताऊन या प्लेग है। ताऊन के विषय में जहाँगीर ने अपनी तूजुक में संवत् १६७३ के भादों में जो कुछ लिखा है उससे सिद्ध होता है कि ताऊन का प्रकोप पहले पंजाब में हुआ और हुआ संवत् १६७२ में उसका आरंभ और माघ सुदी २ संवत् १६७५ को आगरे के विषय में उसने जो कुछ लिखा है उससे विदित होता है कि आगरे में संवत् १६७३ में ताऊन का आरंभ हुआ। क़ाशी में भी कभी यह रोग फैला, इसका पता नहीं। ऐसी स्थिति में यह मानना कहाँ तक संगत होगा

कि काशी की यह महामारी वस्तुतः यही महामारी थी। परंतु भूलना न होगा कि तुलसी ने भूपाल की कठोरता का नाम कई बार इस प्रसंग में लिया है, तो भी एक और बात चिंत्य यह हो जाती है कि तुलसी ने कहीं चूहे का उल्लेख नहीं किया है जो इस रोग का दूत है। 'बाहु पीर' का नाम उन्होंने अवश्य लिया है। साथ ही इतना और भी कह दिया है कि--

बात तरुमूल बाहु सूल कपि कच्छु बेलि,
उपजी सकेलि कपि खेल ही उखारिये।

—हनुमानबाहुक, २४।

तो क्या तुलसीदास इसको बात का प्रकोप समझते थे? तुलसीदास इतना और निर्देश करते हैं—

"करम कराल कंस भूमिपाल के भरोसे,
बकी वक भगिनि काहू ते कहा डरैगी।
बड़ी बिकराल बाल घातिनी न जात कहि,
बाहु बल बालक छबीले छोटे छरैगी।
आई है बनाइ वेष आप तू बिचारि देख,
पाप जाय सबको गुनी के पाले परैगी।
पूतना पिसाचिनी ज्यों कपि कान्ह तुलसी की,
बाहु पीर महाबीर तेरे मारे मरैगी।"

—वही, २५।

धीरे धीरे यह बाहुपीड़ा समस्त शरीर में व्याप्त हो जाती है—
पायँ पीर, पेट पीर, बाहु पीर, मुँह पीर,
जरजर सकल सरीर पीर मई है।

—वही, ३८।

इस पीड़ा का रहस्य क्या है? इसको खोलने के लिये इतना और भी जान लें—

"तातें तनु पेषियत घोर बरतोर मिस,
फूटि फूटि निकसत लोन राम राय को।"

अंत में निराश होकर तुलसीदास इसे अपना कर्मविपाक समझकर मौन हो रहते हैं—

> तुमतें कहा न होय, हा हा ! सो बुझैये मोहिं,
> हौं हूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लुनिये।

—वही, ४४।

तुलसीदास का अवसान इसी रोग से हुआ अथवा नहीं इसका विचार करने से पहले यह बता देना चाहिए कि बाहुपीड़ा के जो अवतरण दिए गए हैं वे हनुमान बाहुक के हैं, महामारी के प्रसंग से उनका कहाँ तक लगाव है यह भी विचारणीय है। कहना तो यह चाहिए कि महामारी के विनाश की मुख्य स्तुति हुई है शंकर से और बाहुपीड़ा के निर्मूल की हनुमान से; राम तो सर्वत्र हैं ही। दोनों के नाश का उल्लेख भी अलग है। राम की कृपा से महामारी का अंत कैसे हुआ यह पहले आ चुका है। तुलसी ने इस 'पीर' के विषय में लिखा है—

> घेरि लियो रोगनि कुलोगनि कुजोगनि ज्यो,
> बासर जलद घन घटा धुकि धाई है।
> बरसत बारि पीर जारिये जवासे जस,
> रोष बिनु दोष धूम मूल मलिनाई है।
> करुना निधान हनुमान महा बलवान,
> हेरि हँसि हाँकि फूँकि फौजैं तैं उड़ाई है।
> खायौ हुतौ तुलसी कुरोग राढ़ राकसनि,
> केसरी किसोर राखे बीर बरियाई है।

—हनुमानबाहुक, ३५।

फलतः मानना पड़ता है कि तुलसी इस बाहुपीड़ा से भी एक बार मुक्त हो गए थे। यह घटना कब घटी यह नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास अन्यत्र भी बताते हैं—

> मारिये तो अनायास कासीबास खास फल,
> ज्याइयो तो कृपा करि निरुज सरीर हौ।

—कवितावली, उत्तर, १६६।

हमें तो ऐसा भासता है कि तुलसीदास अपने अंतिम दिनों में बातग्रस्त हो गए थे और इसी की पीड़ा जब तब उभरा करती थी। आश्चर्य नहीं कि उनका शरीरांत भी इसी से हुआ हो। 'कवितावली' की रचना तिथि तुलसीदास के जीवन के साथ साथ चलती है। इसे कम से कम संवत् १६७१ तक तो माना ही जा सकता है और अधिक से अधिक संवत् १६८० क्योंकि यही सर्वसंमत तुलसी का निधन संवत् है।

दोहावली

'कवितावली' की भाँति ही 'दोहावली' भी संगृहीत ग्रंथ है। इसमें भी 'चातक चौंतीसा' की रचना तो एक साथ, एक लक्ष्य से हुई है पर दोहे जब तक बनते रहे हैं। इसमें कुछ दोहे ऐसे भी आ गए हैं जिनका संबंध उक्त बीसी और उक्त पीड़ा से भी है। कहते हैं—

अपनी बीसी आपु ही पुरहि लगाये हाथ।
केहि बिधि विनती बिस्व की करो बिस्व के नाथ ॥२४०॥

तथा—

तुलसी तनु सर सुख जलज भुज रुज गज बरजोर।
दलत दयानिधि देखिये करि केसरी किसोर ॥२३४॥

भुज तरु कोटर रोग अहि बरबस कियो प्रवेस।
बिहँग राज बाहन तुरत काढ़िय मिटइ कलेस ॥२३५॥

बाहु बिटप सुख बिहँग थलु लगी कुपीर कुआगि।
राम कृपा जल सींचिए वेगि दीन हित लागि ॥२३६॥

राम कृपा से इस पीर का अंत हुआ अथवा स्वयं तुलसी का इसका निर्णय अभी तक न हो सका। हाँ, प्रसिद्ध यह है कि तुलसीदास के मुँह से अंत में निकला—

राम नाम जस बरनि कै भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, तुरत तूलसी सौन ॥

और यह घटना श्रावण मास में संवत् १६८० में घटी यह निर्विवाद है। अतएव कहा जा सकता है कि 'दोहावली' के दोहे उक्त संवत् तक बनते रहे।

वैसे तो तुलसीदास के मुख्य ग्रंथों की चर्चा हो चुकी। किंतु इधर कुछ विद्वानों ने 'तुलसी सतसई' को भी उनकी प्रामाणिक रचना मानने का कष्ट किया है। उनकी 'सतसई' में दो दोहे ऐसे काम के मिल भी गए हैं जिनसे सहज ही उनका इष्ट सध जाता है। उनमें से पहला दोहा है—

तुलसी सतसई

अहि रसना थनधेनु रस गनपति द्विज गुरुवार।
माधव सित सिय जनम तिथि सतसैया अवतार ॥१।६॥

इस प्रकार वैशाख शुक्ल ६ गुरुवार संवत् १६४२ इसकी रचना तिथि ठहरती है, जो तुलसीदास की संवत् प्रणाली के विरुद्ध है। हाँ, प्रचलित संवत् प्रणाली से ठीक उतरती है। दूसरा दोहा है—

रवि चंचल अरु ब्रह्म द्रव बीच सुबास विचार।
तुलसिदास आसन करे अवनि सुता उरधारि ॥२६४॥

यह आधुनिकता का द्योतक है क्योंकि संवत १६४२ में तुलसीदास अस्सी घाट अथवा लोलार्क और गंगा के बीच में नहीं रहते थे। यहाँ तो अपने जीवन के अंतिम दिनों में अपना निवास बनाया था। पहले उनका निवास प्रहलाद घाट अथवा उधर ही कहीं गोपाल मंदिर के पास माना जाता है। जहाँ पर रह कर उन्होंने 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'विनयपत्रिका' की रचना की। 'तुलसी सतसई' का एक और दोहा है-

नाम जगत सम समुझु जग, वस्तु न करु चित चैन।
बिन्दु गये जिमि गैन रहत ऐन को ऐन ॥३६२॥

भला गोस्वामी तुलसीदास कब अरबी के ऐन ع गैन غ के इस चक्कर में जनता को डाल सकते थे? एक दूसरा दोहा लीजिए—

तुलसी जानत है सकल चेतन मिलत अचेत।
कीर जात उड़ि तिय निकट बिनहिं पढ़े रति देत ॥१६२॥

क्या गोस्वामी तुलसीदास को संवत् १६४२ में इसी प्रकार के उदाहरणों की आवश्यकता पड़ती रही होगी ? यदि सतसैया के रचयिता का पूरा रूप देखना हो तो उसका वह प्रकरण पढ़ें जिसमें रामचरितमानस के ढंग पर कविता की नदी बहाई गई है। देखिए, कैसी दिव्य धारा है—

प्रेम उमगि कवितावली चली सरित सुचि सार।
राम बरा पुरि मिलन हित तुलसी हरख अपार ॥४१३॥

तरल तरंग सुछन्द बर हरत द्वैत तरु मूल।
वैदिक लौकिकि विधि विमल लसत बिसद बर कूल ॥४१४॥

संत सभा विमला नगरि सकल सुमंगल खानि।
तुलसी उर सुर सर सुता लसत सुथल अनुमानि ॥४१५॥

मुकत मुमुच्छु बर विषयि स्रोता त्रिविध प्रकार।
ग्राम नगर पुर जग सु तट तुलसी कहहिं बिचार ॥४१६॥

बारानसी विराग नहि सैल सुता मन होय।
तिमि अवधहि सरजू न तब कहत सु कवि सब कोय ॥४१७॥

कहब सुनब समुझब सो पुनि सुनि समुझाइब आन।
लखहर घाट प्रबंध बर तुलसी परम प्रनान ॥४१८॥

है न सर्वथा रामचरितमानस की लीक पर चलनेवाली यह कवितावली सरिता ? परंतु सच तो कहिए, इसमें कहीं तुलसीदास का प्राण भी है ? कहने को 'प्रबंध' है, 'श्रोता' है, 'घाट' है, पर है वास्तव में कुछ भी नहीं जो इसको तुलसी की रचना सिद्ध कर सके। अस्तु किसी भी दृष्टि से इस 'सतसई' को गोस्वामी तुलसीदास की सतसई कहना ठीक नहीं। उनकी रचना यह हो नहीं सकती। नकल चाहे जिसकी हो।

रही 'कुंडलिया रामायण' की बात। सो उसकी भी दशा यही है। उसमें कुछ बातों का विस्तार तो बहुत किया गया है और बहुत कुछ तुलसी से लिया भी गया है किंतु कहीं इस बात का ध्यान नहीं रक्खा गया है कि वस्तुतः तुलसी का ध्येय जीवन में था क्या। यदि उसके रचयिता की विलक्षण प्रतिभा को देखना हो तो पुस्तक का

कुंडलिया रामायण

वह प्रसंग पढ़ें जहाँ राम अथवा सीता को दायज मिलता है। यहाँ तक कि—

ऊँट अजा अरु स्वान को लेखा गन्यो सिराइ।
जे प्रिय सिय के नृप लख्यौ नगर बाहरै जाइ॥
नगर बाहरै जाइ मनो अमरावति घेरी।
दुंदुभि दए सहस्र छत्र अरु चँवर घनेरी॥
चँवर घनेरी भौन पट, आसन बिबिध बिधान को।
दाइज दियो न ए गने ऊँट अजा अरु स्वान को॥

—बालकांड, १६५।

यह और कुछ नहीं—

दाइज अमित न सकिय कहि, दीन्ह विदेह बहोरि।
जो अवलोकत लोकपति लोक सम्पदा थोरि॥

का खाता खोला गया है और किसी प्रकार जनक के यहाँ से ढूँढ़ निकाला गया है। स्वान ही नहीं अपितु—

सवा लाख पिंजर सज्यो कंचन खचित बिचित्र।
सुक सारिका मराल बहु बाज कुही सुचि मित्र॥
बाज कुही सुचि मित्र सिया रुचि कै प्रतिपाले।
ते सेवक सब लिये जानकी सेवन वाले॥
सेवन वाले भाग बड़ जगत जननि जेहिं जग सुज्यो।
तासु संग यह कौन बड़ सवा लाख पिंजर सज्यो॥

—वही, १६४।

सचमुच यह कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास के नाम से ऐसी रचना भी चल निकली और प्रकाश में भी आ गई सजधज से। हाँ, आश्चर्य है तो यही है कि इसमें गोस्वामी तुलसीदास की आत्मा की परख नहीं, उनके ग्रंथों का कुछ लेख अवश्य है। गोस्वामी तुलसीदास के तथाकथित नामधारी अन्य ग्रंथों के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

जो हो तुलसीदास का प्राचीन ग्रंथ है उनका 'रामचरितमानस' ही, जो उनका सर्वस्व है। तो भी उनकी जीवनी तथा उनकी कृतियों के अध्ययन में कथावस्तु को प्रधानता देने के कारण जो ऊहापोह और उलझन हुई है वह वैज्ञानिक खोज के कारण और भी बढ़ गई है।

रामचरितमानस

अपने यहाँ की मीमांसा की सरल और साधु प्रणाली को छोड़कर पश्चिम की तालिका और आँकड़े की प्रणाली पर चल पड़ने का परिणाम यह हुआ है कि 'रामचरितमानस' का अध्ययन बहुत कुछ मनमाना और ऊपरी हो गया है। तुलसीदास ने अपने तथा अपने राम के विषय में जो कुछ कहा है और अपनी ख्याति तथा अपनी भक्ति के उत्कर्ष को जिस रूप में अंकित किया है वह उनके जीवन तथा काव्य के विकास में प्रकाश का काम करता है।

हाँ, तो 'रामचरितमानस' की कथा कुछ सोच समझ कर ही बनाई गई है। तुलसीदास की यह रचना निराली है। कथा के रूप में इसमें सीता का परित्याग नहीं है, पर इसका प्रसंग है। प्रथम सोपान अथवा बालकांड में ही स्पष्ट मिलता है—

प्रनवौं पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी।
सिय निन्दक अघ ओघ नसाये। लोक बिसोक बनाइ बसाये ॥२१॥

यह तो हुई 'मानस' की बात। 'विनय पत्रिका' की स्थिति यह है—

स्वान कहे तें कियो पुर बाहिर जती गयंद चढ़ाई।
तिय निन्दक मति मंद प्रजा रज निज नय नगर बसाई ॥१६५॥

कहने का भाव यह कि तुलसीदास ने सामान्यतः प्रचलित राम कथा को ही ग्रहण किया है। हाँ, 'रामचरितमानस' की रचना में उन्होंने विशेषता अवश्य ला दी है। लाई ही नहीं, कहा भी है। कहा अपने इष्ट का ऐसा भाव बता भी दिया जिससे 'मानस' के समझने में किसी प्रकार की भूल नहीं हो सकती। उनका कथन है—

कीन्ह प्रश्न जेहि भाँति भवानी। जेहिं विधि संकर कहा बखानी ॥
सो सब हेतु कहब मै गाई। कथा प्रबन्ध बिचित्र बनाई ॥

जेहि यह कथा सुनी नहीं होई। जनि आचरज करै सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहि आचरज करहि अस जानी॥
राम कथा कै मिति जग नाही। अस प्रतीति तिन्हके मन माहीं॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न ससय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥
राम अनंत अनंत गुन अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरज न मानिहहिं जिनके विमल विचार॥३८॥

तुलसीदास ने स्पष्ट ही यहाँ आश्चर्य का उल्लेख किया है और अपनी पुष्टता के लिये 'विमल विचार' की दुहाई भी दी है। उनकी दृष्टि में जो 'विमल विचार' है वही उनके अध्ययन के मार्ग का प्रदीप हो सकता है। मानस में निमग्न होने के लिये इतना और भी सचेत हो समझ लेना चाहिए कि उन्हीं की यह भी स्पष्ट विज्ञप्ति है।

येहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुरु पद पंकज धूरी॥
पुनि सबहीं बिनवौ कर जोरी। करत कथा जेहि लाग न खोरी॥
सादर सिवहिं नाइ अब माथा। बरनौं बिसद राम गुन गाथा॥
संवत् सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा॥
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥
जेहि दिन राम जनम स्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं॥
असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक सेवा॥
जनम महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम कल कीरति गाना॥
मज्जहिं सज्जन वृन्द बहु पावन सरजू नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर सुन्दर स्याम सरीर॥

इससे प्रगट ही है कि 'रामचरितमानस' की रचना कब और कैसे हुई। किंतु तो भी उसमें कुछ संदेह हो उठा है। देखिए तो डाक्टर माताप्रसाद गुप्त की चिंता क्या है। कहते हैं—

"मानस के प्रारंभ की तिथि कवि ने स्वतः उक्त ग्रंथ में" संवत सोरह सै इकतीसा···नौमी भौमवार मधुमासा···जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं......" करके दी है जिसका अर्थ "संवत् १६३१ चैत्र शुक्ल

नवमी मंगलवार" होता है। प्रश्न यह है कि क्या तिथि का यह सारा विस्तार ठीक है? सूर्योदयव्यापिनी तिथि को ही सारे दिन की तिथि मानने के सर्वमान्य भारतीय सिद्धांत के अनुसार संवत् १६३१ के चैत्र शुक्ल में नवमी बुधवार को होनी चाहिए। गणना से यह स्पष्ट ज्ञात होता है तब बुधवार के स्थान पर भौमवार (मंगलवार) का उल्लेख कवि ने किस प्रकार किया यह विचारणीय है।"

—तुलसीदास, पृष्ठ २२७-२८।

हमारी समझ में इसका सीधा सा समाधान है कि 'रामचरितमानस' के अवतार के समय तिथि नवमी और वार भौमवार ही था। 'रामचरितमानस' का प्रकाश ठीक उसी समय हुआ जिस समय राम का अवतार; अर्थात् यह चरित्र उसी तिथि में बना जिस तिथि में उक्त चरित्र का अवतार हुआ था। उक्त चरित की तिथि यह थी—

नवमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरि प्रीता॥
मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक बिस्रामा॥
सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। हर्षित सुर संतन मन चाऊ॥
बन कुसुमित गिरि गन मनिआरा। स्रवहिं सकल सरिताऽमृत धारा॥
सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना॥
गगन बिमल संकुल सुर जूथा। गावहिं गुन गंधर्व बरूथा॥
बरषहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगहि गगन दुंदुभी बाजी॥
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहु बिधि लावहिं निज निज सेवा॥

सुर समूह विनती करि, पहुँचे निज निज धाम।
जग निवास प्रभु प्रगटे, अखिल लोक विश्राम॥

—बाल, १६६।

सारांश यह कि राम का जन्म मध्य दिवस में नवमी तिथि को हुआ था और संवत् १६३१ में मध्य दिवस में नवमी तिथि भौमवार ही को थी, बुधवार को नहीं। निदान तुलसीदास का कथन सर्वथा साधु और निर्भ्रांत है। उसको लेकर नाना प्रकार का ननुनच करना ठीक नहीं। इस प्रसंग में भूलना न होगा कि हृषीकेश उपाध्याय के प्रसिद्ध पंचांग में नवमी व्रत के संबंध में निर्णय किया गया है—

श्रीरामनवमी व्रत में यह आवश्यक है कि वह मध्याह्नव्यापिनी हो। साथ ही पुनर्वसु योग के अति उत्तम है। यदि पुनर्वसु योग मध्याह्न में मिल जाता है तो वैष्णव लोग अष्टमीविद्धा नवमी का ही उपोषण करते हैं। उदया नवमी तीन मुहूर्त होने पर ही वैष्णवों के मत से व्रतोपवास योग्य होती है।

—हृषीकेश पंचांग, पृ० ४२, संवत् २०१४

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना बहुत कुछ सोच विचार कर की है। उन्होंने जो कुछ उसके संबंध में कहा है यदि उसी को सहारा मानकर हम चलें तो हमारी सारी कठिनाइयाँ आप ही दूर हो जायँ और हमको भाँति भाँति के तर्क वितर्क में मूड़ मारना भी न पड़े। तुलसीदास ने इतनी बड़ी भूमिका यों ही नहीं बाँधी है। नहीं, उनके मानस में पैठने के निमित्त ऐसा अनिवार्य था। तुलसीदास ने 'राम चरित मानस' के संप्रदाय को खोलकर सामने रख दिया है और अवतार के नाना कारणों का उल्लेख कर प्रधानता दो ही को दी है। राम के अवतार का मुख्य कारण है मुनि, सिद्ध, सुरेश, गो, द्विज आदि का आर्त होना। परंतु राम के रूप में प्रगट होने का मुख्य कारण है 'कश्यप' और 'अदिति' का महातप एवं नारद का शाप। सुनिए न गगन गिरा क्या है—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहिं लागि धरिहौं नर वेसा॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लैहो दिनकर बंस उदारा॥
कस्यप अदिति महा तप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मै पूरब बर दीन्हा॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा॥
तिन्हके गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई॥
नारद बचन सत्य सब करिहौ। परम सक्ति समेत अवतरिहौं॥
हरिहौ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई॥

—१६२।

ध्यान देने की बात है कि तुलसी इसी दाशरथि राम को महत्व देते हैं और इन्हीं के भक्तिनिरूपण के लिये 'रामचरितमानस' का निर्माण भी करते हैं। हाँ, 'रामचरितमानस' एक सांप्रदायिक ग्रंथ है

जिसका ध्येय है संप्रदायविशेष को पुष्ट कर लोक में मंगल का विधान करना और परलोक की सच्ची झाँकी दिखाकर जीवन का रस देना। फलतः उसकी अंतिम घोषणा है—

पुण्यंपापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं।
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभम्॥
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहंति ये।
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यंति नो मानवाः॥

—उत्तर०, १३२।

'दह्यंति नो मानवाः' पुकार कर कहता है कि इसमें मानव मात्र का कल्याण निहित और सुरक्षित है; कुछ किसी संप्रदायविशेष का ही नहीं। तो यह सच है कि तुलसीदास भक्ति को कभी भूल नहीं सकते और इसी भक्ति की स्थापना के हेतु रामचरितमानस में उतरते भी हैं। आधार के रूप से तुलसीदास ने जिस किसी को पकड़ा हो, पर यह ध्रुव सत्य है कि—

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशंभुना दुर्गमं।
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणं॥
मत्वा तद्रघुनाथनाम निरतं स्वांतस्तमः शांतये।
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसं॥

—उत्तर, १३१।

में जो 'रामायण' का शब्द आया है वह विशेष महत्व का है। और इसी को उन्होंने भूमिका में भी कह दिया था—

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाखा॥
तातें रामचरित मानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर॥

—प्रथम सोपान, ४०।

गोस्वामी तुलसीदास ने यहाँ जिस रामायण का नाम लिया है वह 'अध्यात्म रामायण' है। किंतु तुलसीदास ने केवल 'अध्यात्म रामायण' को ही भाषा का रूप नहीं दिया है। उनका तो कहना है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि ।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति ।

—प्रथम सोपान, ७ ।

यहाँ 'रामायण' का तात्पर्य 'अध्यात्म रामायण' से है अथवा 'वाल्मीकि रामायण' से, इसमें विवाद हो सकता है। परंतु देखने की बात है कि गोस्वामीजी ने इसके पहले जो कवीश्वर और कपीश्वर की वंदना की है उसका रहस्य क्या है—

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥—वही, ४ ।

कवीश्वर के साथ कपीश्वर को देखकर आजकल के 'कपि जी' दिखाई दे सकते हैं, किंतु तुलसी की दृष्टि है उस कपीश्वर पर जिसके विषय में उनका स्वयं कहना है—

जयति वेदान्त-विद, विविध विद्या विशद, वेद वेदांग विद ब्रह्मवादी ।

—विनयपत्रिका, २६ ।

इतना ही नहीं, अपितु—

जयति निगमागम व्याकरण करण लिपि काव्य कौतुक कला कोटि सिन्धो ।
साम गायक भक्त काम दायक वामदेव श्री राम प्रिय प्रेमबन्धो ॥

—वही, २८ ।

इतने से ही यदि काव्य की वार्ता न खुली हो तो इतना और भी देख लें—

जयति विहगेस-बल-बुद्धि-बेगाति-मद-मथन मन्मथ मथन ऊर्ध्व रेता ।
महानाटक निपुन कोटि-कवि-कुल-तिलक गान गुन-गर्व-गन्धर्व जेता ॥

—वही, २९ ।

सारांश यह कि गोस्वामी तुलसीदास ने 'अध्यात्म रामायण' के साथ ही साथ 'वाल्मीकि रामायण' और 'हनुमन्नाटक' को भी अपना

आधार बनाया है। इनके अतिरिक्त यहाँ 'क्वचिदन्यतोपि' तो है ही। जिससे संभव है कि तमिल तथा अन्य देशी भाषाओं की ओर भी संकेत हो। उसको केवल संस्कृत साहित्य तक सीमित समझना साधु नहीं। उनका स्वयं निवेदन है—

फिर भी तुलसीदास के 'मानस' का अध्ययन इतने से ही नहीं हो सकता। 'कथा प्रबंध विचित्र बनाई' का रहस्य इतने से ही नहीं खुलता। उसके लिये कुछ और भी करना पड़ता है।

३—मानस की विशिष्टता

तुलसीदास की रचनाओं में रामचरितमानस का प्रमुख स्थान है। वह विश्व का एक विशिष्ट महाकाव्य है। वस्तुतः जीवन की उलझन का वह एक अत्यंत सुलझा हुआ ग्रंथ है। जो लोग उसके सुलझाव की चिंता न कर केवल उसके कलेवर पर ध्यान देते हैं उनके संबंध में कुछ कहना व्यर्थ है। उनकी आलोचना भी उन्हीं की होती है। अतएव ऐसी समीक्षा जो अपने आप को ही अधिक व्यक्त करती है किसी आलोच्य की परख में सफल नहीं होती। फलतः दृष्टि की एकांगिता के कारण ऐसे समालोचक मानस की सर्वांगिता को देख नहीं पाते और ऐसे सर्वांगीण ग्रंथ की मखौल उड़ाने लगते हैं। यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि शिवोक्त होने के कारण मानस की गणना आगम ग्रंथों में हो गई। तुलसी ने कुछ सोच समझकर ही इसमें चतुर्वक्ता की योजना की है और स्वयं इसकी विज्ञप्ति भी आप ही कर दी है। सच पूछिए तो संवाद ही मानस की कुंजी हैं। शिव पार्वती के कारण जहाँ मानस आगम ग्रंथ है वहीं याज्ञवल्क्य, भारद्वाज और कागभुसुंडि गरुड़ के कारण पुराण भी। तुलसी के कारण वह काव्यग्रंथ है ही; फिर उसकी रचना में इतनी ऊहा क्यो! बात यह है कि अभी तक तुलसी के संवादयोजना पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है और उसके बारे में मनमाना विचार बना लिया गया।

आगम

हाँ, तो तुलसीदास के मानस का सर्वस्व है उसका संवाद ही। इसी से उसमें खुलकर कहा भी गया है—

स्थिति

सुठि सुंदर संवाद वर बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ यहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥—४१।

इसमें स्पष्ट ही चार संवादों का संकेत है। इनका महत्व जानने के पहले टाँक यह लें कि इसीके आगे तलसी और भी स्फुट कर दिखाते हैं—

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मनमाना ॥
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा ॥
राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम ॥
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई ॥
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा ॥
सुकृत पुंज मंजुल अलिमाला। ज्ञान बिराग बिचार मराला ॥
धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती ॥
अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी ॥
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा ॥
सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते बिचित्र जल बिहग समाना ॥
संत सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा ऋतु बसंत सम गाई ॥
भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया दम लता बिताना ॥
सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रस बर बेद बखाना ॥
औरौ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा ॥

पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहारु।
माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु ॥

—बाल, ४१-४२

गोस्वामी तुलसीदास ने यहाँ काव्य और भक्ति का जो रूप दिखाया है उसकी चर्चा समय पर होगी। अभी तो 'ज्ञान नयन निरखत मन माना' और 'बिरचे बुद्धि बिचारि' पर ही कुछ कहा जाएगा। 'सोपान' और 'घाट', यही तो मानस में अवगाहन के साधन हैं। इनमे भी पहले घाट और फिर सोपान। अच्छा तो घाट हैं क्या? 'सुठि सुंदर संवाद' ही न? अतः पहले इन संवादो पर ही ध्यान दीजिए—

संवाद

'रामचरितमानस' में तीन संवादों का नाम तो प्रत्यक्ष है। १—याज्ञवल्क्य और भरद्वाज, २—शिव और पार्वती, ३—काकभुसुंडि और गरुड़। किंतु चौथे के संबंध में कुछ विवाद है। वक्ता तो तुलसीदास ही हैं, पर श्रोता कौन है? यदि कोई नहीं तो तुलसी का 'मन' और यदि कोई तो सभी समाज वा पाठक।

संवादों की अवतारणा का कारण क्या है और संवाद होते हैं किस प्रश्न को लेकर? सो, सबसे पहले भरद्वाज को लीजिए। उनका प्रश्न है—

रामु कवन प्रभु पूछौं तोहीं। कहिय बुझाइ, कृपानिधि मोहीं॥
एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा॥
नारि बिरह दुख लहेउ अपारा। भएउ रोष रन रावन मारा॥

प्रभु सोइ रामु कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्य धाम सर्वग्य तुम्ह कहहु विवेक विचारि॥५१॥

प्रश्न पूछने के पहले भरद्वाज ने 'संशय', 'मोह' और 'भ्रम' का नाम लिया था और सभी के सामने है भी सचमुच यही विकटत्रयी। याज्ञवल्क्य ने इस त्रयी को सत्य नहीं समझा और कहा—

राम भगत तुम मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी॥
चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा॥५२॥

भरद्वाज का इष्ट यही था भी, इसमें संदेह नहीं। कारण यह कि उन्होने फिर कभी यह स्वीकार नहीं किया कि इस कथा के श्रवण से मेरा 'संशय', 'भ्रम' किंवा 'मोह' दूर हो गया। याज्ञवल्क्य ने बड़ी चातुरी से भरद्वाज के सामने पार्वती को प्रस्तुत कर दिया और जब पार्वती का प्रश्न हुआ—

प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी॥
सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना।
तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥
राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥

जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमत बुद्धि अति मोरि॥

—बाल, ११३।

पार्वती इसी प्रसंग में इतना और भी जोड़ जाती हैं—
तब कर अस विमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं।

विमोह की स्थिति में उनका चिंत्य यह था—

'संकरु जगतवंद्य जगदीसा। सुरनर मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृप सुतहिं कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥
भये मगन छबि तासु बिलोकी। अजहु प्रीति उर रहति न रोकी॥

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।'
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद॥५५॥

बिस्नु जो सुरहित नर तनु धारी। सोउ सरवग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजै सो कि अग्य इव नारी। ज्ञान धाम श्रीपति असुरारी॥
शंभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सरवग्य जान सब कोई॥५६॥

फिर क्या था? जिस तत्परता और जिस तन्मयता से इस रहस्य का उद्घाटन हुआ वही तो 'रामचरितमानस' के रूप में ख्यात हुआ। अंत में पुलकित होकर शिव कहते हैं—

राम कथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल समनि मनोमल हरनी॥
संसृति रोग सजीवन मूरी। राम कथा गावहिं श्रुति सूरी॥
एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥
अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देहि एहि मारग सोई॥
मनकामना सिद्ध नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा॥
कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भव निधि तरहीं॥

—उत्तर, १२६।

परिणाम यह हुआ कि पार्वती भी गद्गद् होकर बोल उठीं—
नाथ कृपा मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा॥

मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद विस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥१२६॥

इस प्रकार पार्वती के हृदय में दृढ़ रामभक्ति हो गई और भक्ति का सीधा पंथ भी निकल आया। अस्तु, इस भक्ति का प्रतिपादन जहाँ होता है वहाँ की स्थिति यह है। गरुड़ कहते हैं—

सुनहु तात जेहि कारज आएउँ। सो सब भयेउ दरस तव पाएँउ॥
देखि परम पावन तव आश्रम। गएउ मोह संसय नाना भ्रम॥

अब श्रीराम कथा अति पावनि । सदा सुखद दुख पुंज नसावनि ॥
सादर तात सुनावहु मोहीं । बार बार बिनवौं प्रभु तोहीं ॥

—उत्तर, ६४ ।

गरुड़ ने प्रश्न नहीं किया पर कथा सुनने के उपरांत स्वीकार कर लिया कि उनको भी कभी 'संशय', 'भ्रम' और 'मोह' हो गया था । देखिए, आप ही कहते हैं—

गएउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित ।
भएउ राम पद नेह तव प्रसाद बायस तिलक ॥
मोहि भयेउ अति मोह प्रभु बंधन रन महुँ निरखि ।
चिदानंद संदोह रामु विकल कारन कवन ॥

देखि चरित अति नर अनुसारी । भयउ हृदय मम संसय भारी ॥
सोइ भ्रम अब हित करि मैं जाना । कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना ॥

—उत्तर, ६८६ ।

उधर गरुड़ के हृदय में जो तर्क उठा था वह था—

व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा । माया मोह पार परमीसा ॥
सो अवतरा सुनेउँ जग माहीं । देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं ॥

भव बंधन तें छूटहिं नर जपि जाकर नाम ।
खर्व निशाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम ॥५८॥

तात्पर्य यह कि गरुड़ की स्थिति कुछ पार्वती से भिन्न है और भिन्न है कुछ भरद्वाज से भी । भरद्वाज की भाँति गरुड़ केवल रामचर्चा नहीं चाहते हैं और न पार्वती की भाँति उनको राम के परम रूप में कुछ आपत्ति ही है । उनको तो संशय होता है राम के नर अनुसारी चरित को देखकर । राम की प्राकृत लीला ही गरुड़ को मोहती है, कुछ उनका परम स्वरूप नहीं । गरुड़ हैं भी तो विष्णु के वाहन । निदान गरुड़ माया से मुक्त होकर भुसुंडि से कहते हैं—

मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी । सुनि रघुबीर भगति रस सानी ॥
राम चरन नूतन रति भई । माया जनित बिपति सब गई ॥१२॥

'मानस' के इन तीनों संवादों के श्रोताओं में गरुड़ और पार्वती तो अपनी अपनी कह जाते हैं पर भरद्वाज अंत में कुछ भी कृतार्थता नहीं दिखाते। उन्होंने कहीं भी यह नहीं कहा है कि अब हमारा मोह दूर हो गया और हममें कोई भ्रम नहीं रहा। कदाचित् इसकी आवश्यकता भी न थी। याज्ञवल्क्य ने उनके संबंध में आरंभ में जो कुछ ताड़कर कहा था वह सर्वथा सत्य था। अब रही तुलसी के संवाद की बात। सो उसके विषय में यही कहना है कि तुलसी चाहते हैं कि आप भी इस कथा को सुनें। तुलसीदास की बात इस कथा से बन गई तो आपकी भी इससे अवश्य बन जाएगी।

जाकी कृपा लवलेस तें मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

अंत में तुलसीदास की कामना यही रह जाती है कि राम में सबकी सहज रति उन्हीं की भाँति हो। ऐसी सहज रति हो जैसी कामिनी में कामी की होती है।

कतिपय मानसमरालों की धारणा है कि याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का संवाद कर्मकांड का संवाद और मानस में दक्षिण घाट का संवाद है तथा शिव पार्वती का संवाद ज्ञानकांड का संवाद और पश्चिम घाट का संवाद है, एवं कागभुसुंडि और गरुड़ का संवाद भक्तिकांड और उत्तर घाट का संवाद है। रहा पूर्व घाट और तुलसी का संवाद। सो वह दैत्व कांड अथवा उपासना का संवाद है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में कर्म, ज्ञान, भक्ति और उपासना के घाट मानस में बने हैं और यहाँ कथा भी उनके अनुसार ही होती है, पर हमारी दृष्टि में यह धारणा ठीक नहीं। 'मानस' में राम की भक्ति जैसी शिव में है वैसी क्या किसी में होगी। भक्ति के प्रतीक शिव हैं अतः 'रामचरितमानस' में ज्ञान, कर्म और उपासना आदि के कांड देखना ठीक नहीं। याज्ञवल्क्य भी तत्वदर्शी ज्ञानी हैं, कुछ कर्मकांडी नहीं सीधी बात तो यह है कि सभी वक्ताओं ने एक स्वर से अपने अपने ढंग पर और अपने अपने अधिकारी के अनुरूप अपने प्रिय प्रतिपाद्य विषय अर्थात् रामभक्ति का ही प्रतिपादन किया है और तुलसीदास ने भक्ति ही को इष्ट भी ठहराया है।

इष्ट

ध्यान देने की बात यह है कि पार्वती का प्रसंग गरुड़ के यहाँ नहीं चला है और न अपने यहाँ ही उठा है। अर्थात् कागभुसुंडि और शिव की कथा से याज्ञवल्क्य और तुलसी की कथा इस अंश में भिन्न है। याज्ञवल्क्य ने ही सतीमोह और पार्वती विवाह का वर्णन किया है, इसमें संदेह नहीं। स्वयं तुलसीदास का कहना है—

संभु चरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा॥
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयन नीर रोमावलि ठाढ़ी॥
प्रेम विवस मुख आव न बानी। दसा देखि हरसे मुनि ज्ञानी॥

—बाल, १०६।

ऐसी स्थिति में 'रामचरितमानस' के मर्म तक न पहुँचना और जहाँ तहाँ के कुछ अंशों को उठा उठाकर मनमाना भवन खड़ा करना मीमांसा नहीं, शोध की आतुरता भले ही हो। 'रामचरितमानस' की रचना एक निश्चित और ठोस पद्धति पर हुई है। उसको खंड खंड करके समय समय पर देखना साधु नहीं। उसके अधिकारी की चर्चा भी इसी से बार बार हुई है।

संप्रदाय

इस अधिकारी की मीमांसा में उतरने के पहले रामचरितमानस के संप्रदाय को समझ लेना समीचीन होगा। तुलसीदास ने 'इसमें जो विचित्र लीला की है उसको अभी गुप्त ही रहने दीजिए और देखिए यह कि—

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा।
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥

इसके आगे इसकी परंपरा कैसे तुलसीदास के गुरु तक पहुँची इसकी जानकारी हमें नहीं हो सकती। तुलसीदास इसको बताना नहीं चाहते। आगे चलकर शिव को कागभुसुंडि के आश्रम में मराल के वेष में कथा सुनते दिखाते हैं और कागभुसुंडि के द्वारा यह प्रगट कराते हैं कि उनको 'रामचरितमानस' की कथा लोमश ऋषि से मिली।

मम परितोष विविध विधि कीन्हा। हरषित राम मंत्र तब दीन्हा॥
बालक रूप राम कर ध्याना। कहेहु मोहिं मुनि कृपा निधाना॥
सुंदर सुखद मोहि अति भावा। सो प्रथमहि मैं तुम्हहिं सुनावा॥
मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाखा॥
सादर मोहिं यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई॥
राम-चरित-सर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा॥
तोहि निज भगत राम कर जानी। तातें मैं सब कहेउँ बखानी॥
राम भगति जिन्ह के उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिअ तिन्ह पाहीं॥

—उत्तर, ११३।

यहाँ टाँकने की बात है कि राममंत्र और बालक रूप राम के ध्यान के कुछ काल बाद ही काग को रामचरितमानस का प्रसाद मिला। रामचरितमानस गुप्त है, गुह्य है। उसकी प्राप्ति अधिकारी को ही होती है।

रामचरितमानस के ध्येय बालक राम हैं अथवा धनुष बाणधारी पथिक राम, इसका निर्णय भी हो जाना चाहिए। सो इतना तो निर्विवाद है कि रामचरितमानस के श्रोताओं में जो भ्रम उठा है वह बालक राम के प्रति नहीं। नहीं, वह तो धनुषबाणधारी वनवासी राम की प्राकृत लीला के कारण उत्पन्न हुआ है। निदान मानना ही होगा कि रामचरितमानस के प्रभु धनुष बाणधारी वनवासी राम ही हैं।

अधिकारी

'रामचरितमानस' की गुह्यता पर सबसे अधिक ध्यान है स्वयं इसके रचयिता महेश का—

मति अनुरूप कथा मैं भाखी। यद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी॥
तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तौ मैं रघुपति कथा सुनाई॥
यह न कहिय सठहीं हठसीलहिं। जो मन लाइ न सुन हरि लीलहिं॥
कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजै सचराचर स्वामिहि॥
द्विज द्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ॥
राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सत संगति अति प्यारी॥
गुरु पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई॥
ता कहँ यह विशेषि सुखदाई। जाहि प्रान प्रिय श्री रघुराई॥

राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो येहि कथा करौ श्रवन पुट पान ॥

—उत्तर, १२८।

यह कसौटी लोमस ऋषि के यहाँ कितनी सरल हो गई थी, इसको हमने पहले ही देख लिया है। राम भक्ति जिनके हृदय में नहीं है उनसे यह कथा कभी नहीं कहनी चाहिए। याज्ञवल्क्य के यहाँ यह निषेध भी नहीं रहा। उनकी दृष्टि में—

राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं ॥

और तुलसीदास के यहाँ तो इतनी सुलभ हो गई कि 'राम भजे गति केहि नहिं पाई' का उद्घोष हो गया और—

भाव कुभाव अनख आलसहूँ। राम भजत मंगल दिसि दसहूँ ॥

का विधान भी।

देखने में यह कुछ पहेली सा प्रतीत होता है किंतु वस्तुतः रामचरितमानस के अवगाहन में इससे बड़ी सहायता मिलती है। रामचरित में सबसे अधिक संशय, मोह, और भ्रम हुआ था पार्वती को। अतएव उनको समझाया भी गया उसका गूढ़ रहस्य ही; जिसको समझ भी सकता है वही जो पार्वती की अनुभूति में हो। गरुड़ का संशय उतना गहन और गंभीर नहीं था अतएव कड़ाई भी उसके प्रसंग में थोड़ी ही रही। भरद्वाज को मोह था ही नहीं, यहाँ तो रुचि की बात थी। अतः याज्ञवल्क्य ने उसको इतना ही गूढ़ बनाया कि उसका सच्चा रहस्य 'राम उपासक' को ही भली भाँति प्राप्त हो। किंतु तुलसी की दशा तो सबसे निराली है। उनको तो सत्संग के रूप में भी इस प्रकार का संशय इष्ट नहीं। उनकी दृष्टि में तो राम का यह चरित स्वयंसिद्ध है। उनको केवल 'स्वान्तः सुखाय' 'स्वान्तस्तमः शान्तये' की चिंता है जिससे उनकी कृपा से यह रचना 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' को लेकर आगे बढ़ी है और सब की होकर भूतल पर फैल भी गई है।

इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाना चाहिए कि क्यों अरण्य के पहले और बालचरित के पश्चात् श्रोताओं को सचेत करने की आवश्यकता शिव और कागभुसुंडि को नहीं पड़ती। हमें भूलना न होगा कि रामचरित-

मानस की कथा कथा के रूप में चल सर्वत्र रही है, उसके वक्ता अपने अपने श्रोता से उसी कथा को उसी रूप में कह रहे हैं। उनमें अंतर यह होता है कि जहाँ कहीं जिस किसी श्रोता में संशय का बीज दिखाई देता है वही उसका वक्ता उसको सचेत कर देता है। उन लोगों को क्या कहा जाय जो इसका अर्थ यह निकालते हैं कि जहाँ जिस श्रोता का निर्देश नहीं वहाँ उस कथा का उसके वक्ता से संबंध नहीं। नहीं, तुलसीदास ने इसकी गुत्थी को अपने आप ही खोल दिया है। इसके लिये कल्पना की मनमानी कुदान की आवश्यकता नहीं। तुलसीदास के 'सुठि सुंदर संवाद वर विरचे बुद्धि बिचारि' की अवहेलना का परिणाम इससे अच्छा और हो ही क्या सकता है कि 'रामचरितमानस' के मनमाने संस्करणों की स्थापना की जाय और उसके प्रकरणों को छाँट छाँट कर बिलगाया जाय। तुलसीदास यत्र तत्र मूल में संशोधन कर सकते हैं, पर ढाँचे में ही उखाड़ पखाड़ नहीं। अस्तु, अतएव हमारी धारणा है कि तुलसीदास के 'मानस' का अध्ययन उनकी पद्धति पर ही होना चाहिए।

मानस का परिशीलन

तुलसीदास का 'मानस' अद्भुत काव्यग्रंथ है। स्वयं तुलसी को इसका पता है और फलतः उसकी किल्ली भी उसी में दी हुई है। उसको पहिचानने और खोज निकालने का कष्ट करना चाहिए। सो पहले कहा जा सकता है कि रामचरितमानस सांप्रदायिक ग्रंथ है। उसके संप्रदाय का पक्ष वहाँ तक स्पष्ट है जहाँ तक उसका भक्ति निरूपण से संबंध है। यदि इस भक्ति निरूपण को उसमें से निकाल दिया जाय तो वह सांप्रदायिक नहीं रह जाता। वह झट सबका और सर्वकाल का काव्य हो जाता है। तुलसीदास ने रामचरितमानस की भूमिका में काव्य का नाम और उसके भेद तथा उपभेद का उल्लेख यों ही नहीं किया है। उन्होंने तो उसके द्वारा अपने पक्ष को पुष्ट किया है, लक्ष्य को ठीक किया है और इष्ट को साधा है। तुलसी जिस भावना को लेकर रामचरितमानस की रचना करते हैं वह वस्तुतः लोकहित की भावना है। यह लोकहित भक्ति के क्षेत्र में भी आदि से अंत तक दौड़ता है और काव्य के क्षेत्र में भी। तुलसीदास कहते हैं—

निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी॥
बुध विश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलि-कलुष-विभंजनि॥

'सकल जन रंजनि' की यह भावना तुलसीदास में इतनी प्रगाढ़ और बद्धमूल है कि पार्वती के प्रसंग में भी तुलसी यही कहते हैं—

कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैल कुमारी॥

तथा—

तदपि अशंका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सब कर हित होई॥

शिव ने तो पार्वती से स्पष्ट कह दिया था कि राम में तुम्हारी प्रीति है। तुम तो संसार के कल्याण के लिये ही ऐसा प्रश्न करती हो—

तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी॥

कथा की स्थिति यह है तो काव्य की भी यह—

कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

हाँ, तो गोस्वामी तुलसीदास रामचरितमानस में भक्ति को लेकर उतरे हैं और निकले हैं उसमें से लेकर वह अनूठा काव्यरत्न जिसकी टक्कर का दूसरा काव्य विश्व में नहीं है। यदि काव्य को शास्त्र और शास्त्र को काव्य के रूप में देखने की लालसा हो तो रामचरितमानस का अवगाहन करें। तुलसी ने सच कहा है—

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं॥

परंतु यह तो हुई आदर की बात। अब बखान की भी कसौटी सुन लीजिए—

सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥

और यह कितना सच है भी कि आज तुलसीदास के रिपु भी अपने सहज बैर को भूलकर उनकी कविता का बखान करते हैं। जो लोग तुलसी की भक्ति को घातक समझते हैं उनको भी तुलसी की कविता प्रिय है और उसके रस से किसी प्रकार वंचित भी नहीं रह पाते।

रामचरितमानस का रसायन ही कुछ ऐसा है कि उससे सुवर्ण ही निकलता है। उसका रामरस ही कुछ ऐसा है कि उसमें पड़कर कुछ फीका नहीं रह जाता।

रामचरितमानस की जो समीक्षा अब तक हुई है उससे इतना तो अवगत हो गया होगा कि रामचरितमानस के काव्य के अध्ययन में किन बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए।

द्विविध वक्ता

रामचरितमानस के संवाद ही सर्वस्व हैं तो इन संवादों को सुभीते के लिये हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। एक देववर्ग और दूसरा नर वर्ग। शिव और पार्वती, कागभुसुंडि और गरुड़ देववर्ग के जीव हैं तो याज्ञवल्क्य और भरद्वाज तथा तुलसीदास और जन समाज नरवर्ग के प्राणी। दोनों की यह मित्रता मानस में सर्वत्र गोचर होती है। शिव और काग बालक राम के प्रेमी हैं। यहाँ तक कि दोनों मनुज रूप धारणकर बालक राम के पीछे पीछे—

परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।

बाल, २०१।

में ही निमग्न रहते हैं परंतु तुलसी के राम बालक राम नहीं, धनुर्धर राम हैं। तुलसी के ही नहीं, याज्ञवल्क्य के भी इष्ट ये राम हैं। याज्ञवल्क्य का कहना है—

रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सत कोटि अहीसा॥
तदपि जथाश्रुत कहहुँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनु पानी॥

—बाल, ११०।

यही 'धनुपानी' प्रभु याज्ञवल्क्य तथा तुलसी के इष्टदेव हैं और हैं लोक मंगल के प्रतीक राम भी। यहाँ इतना और भी समझ लेना चाहिए कि शिव की कथा कैलास में होती है तो कागभुसुंडि की सुमेरु गिरि पर। अर्थात् दोनों का इस जनलोक से कोई सीधा संबंध नहीं, परंतु याज्ञवल्क्य की कथा इसी लोक में तीर्थराज प्रयाग में होती है, और होती है तुलसीदास की भी यहीं यत्रतत्र क्या सर्वत्र भी। आशा है इन भेदों पर दृष्टि रखते हुए मानस के अध्ययन से तुलसीदास का अभिमत प्रगट हो जायगा और लोग उनके काव्य तथा उनकी भक्ति को भली भाँति

हृदयंगम कर सकेंगे। विदित होता है कि तुलसीदास ने काव्य के निदर्शन के निमित्त तो राम के चरित के उस अंश को चुना है जिसमें किसी को व्यामोह नहीं होता और भक्ति के निरूपण के लिये उस अंश को लिया है जिसमें सब को व्यामोह होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रथम रूप में तुलसी की भक्ति नहीं। नहीं, उसमें भी तुलसी की भक्ति है और वहाँ भी तुलसी चाहते हैं कि सभी की उसमें भी सहज रति हो। चाहते ही नहीं, सचमुच उसे अभागा भी समझते हैं जिसकी रति इस शील में नहीं होती। राजा जनक जैसा विदेह भी राम को देखते ही जो ब्रह्म सुख को छोड़कर इनसे लिपट जाता है उसका रहस्य भी यही है। जनक राम के रूप, शील और बल को सराहते हैं और फलतः उनमे अनुरक्त भी हो जाते हैं। इसी को स्वर्गीय आचार्य रामचंद्रजी शुक्ल ने राम के शील, शक्ति और सौंदर्य का फल कहा है और इसकी विवेचना भी भरपूर की है।

लक्ष्य

तुलसीदास की रचनाओं को लेकर जो इतना विवाद उठा है उसका उठना स्वाभाविक भी है। तुलसी का परितः परिशीलन इसके बिना हो भी नहीं सकता। तुलसीदास की कोई भी रचना मनमानी नहीं हुई है और न हुई है किसी मंदिर में बैठकर केवल कीर्तन करने के लिये ही। उनकी सभी रचनाओं का कोई न कोई उद्देश्य है और किसी न किसी लक्ष्य को भेदने के निमित्त ही उनकी लेखनी उठी तथा वाणी फूटी है। तुलसी ने प्रबंध, अबंध और स्फुट रूप में बहुत कुछ लिखा है। उनकी प्रबंधपटुता का कहना ही क्या? अबंध रचना भी उनकी अच्छी हुई है और स्फुट रचना तो जब तब किसी प्रेरणा से किसी प्रसंग पर निकल पड़ी है, जिससे तुलसी की स्थिति स्पष्ट होती है और उनके हृदय के बहुत से छिपे भाव प्रकट हो जाते हैं खेद है कि तुलसीदास के ग्रंथों का संपादन और संकलन ऐसी दृष्टि से नहीं हुआ है, जिसके कारण उनके अध्ययन में बड़ी बाधा उपस्थित होती है और उनका स्वरूप भी बहुत कुछ धुँधला रह जाता है। तुलसी के प्रबंधकाव्यों के विषय में कुछ कहना नहीं है। प्रबंध का नाम अति प्रचलित हो गया है और लोग उसका संकेत भी कुछ न कुछ ठीक ही समझते हैं, परंतु अबंध का नाम नया सा है, अतः उसके संबंध में ही थोड़ा निवेदन कर दिया जाता है।

प्रबंध से हमारा तात्पर्य है उस रचना से जिसमें कथा के प्रसंग सामने होते हैं और उन्हीं को लेकर रचना खड़ी भी होती है, पर उसमें उन प्रसंगों के जोड़ने का कोई उद्योग नहीं होता। हमारी समझ में तुलसीदास की 'गीतावली' ऐसी ही रचना है। तुलसीदास की दृष्टि में 'राम चरित' इसमें भी था, किंतु था मुख्य मुख्य घटनाओं या वृत्तों के रूप में ही। तुलसीदास ने उन्हीं घटनाओं को लिपिबद्ध किया और उसी क्रम से पदों का निर्माण किया। हम इसे अनुबंध भी नहीं कहते। कारण कि हम जानते हैं कि अनुबंध में भी बंधन का प्रयत्न तो होता ही है—पहले न सही, बाद में सही, होता तो अवश्य है। रही स्फुट रचना, सो उसके बारे में कोई विवाद नहीं। आप उसको मुक्तक के परंपरागत नाम से पहिचान सकते हैं और उसको संग्रह के रूप में 'दोहावली' तथा 'कवितावली' में देख भी सकते हैं।

तुलसीदास की प्रबंध रचनाओं में तीन मुख्य हैं—

वस्तुविचार

(१) रामचरितमानस।
(२) पार्वती मंगल।
(३) जानकी मंगल।

इनमें प्रबंध अथवा वस्तुविन्यास की दृष्टि से 'पार्वती मंगल' प्रधान है। 'जानकी मंगल' उसकी पूर्ति के लिये रचा गया है, इसको हम पहले ही बता चुके हैं। उसमें कविकर्म दिखाने की कोई चेष्टा नहीं। उसे सर्व सुबोध बनाने की भावना अवश्य है। किंतु 'पार्वती मंगल' में यह बात नहीं है। उसमें कविकर्म दिखाया गया है। आरंभ में 'कवि न कहावौं' की वैसी ही दीनता दिखाई गई है जैसी रामचरितमानस में, और अंत में 'मंगल हार रच्यौ कवि मति मृगलोचनि' के द्वारा इस रचना का महत्व भी दरसाया गया है। विषय की दृष्टि से 'पार्वती मंगल' में 'रामचरितमानस' से कुछ भिन्नता अवश्य है, पर यह भिन्नता ऐसी नहीं है कि इसके कारण ही 'पार्वती मंगल' की नवीन सृष्टि हुई हो। रामचरितमानस में भी 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' हैं ही, फिर तुलसीदास ने उन पर अलग रचना क्यों की? उत्तर बहुत ही सरल और सुबोध है। तुलसीदास ने इन प्रबंधों की रचना मंगल छंद में स्त्रियों में प्रचार पाने के हेतु की। इनमें भी 'पार्वती मंगल' में उनकी काव्य

दृष्टि बनी रही। उनका ध्यान वस्तु पर बराबर बना रहा। अतएव वस्तु विन्यास इसका जैसा बन पाया है वैसा किसी दूसरे ग्रंथ का नहीं।

'रामचरितमानस' तुलसी का सर्वप्रधान काव्य है। इस काव्य की सफलता भी निराली है, किंतु वस्तु की दृष्टि से इसमें यह बात दिखाई देती है कि तुलसी का ध्यान वस्तु पर उतना नहीं रहा है जितना कि नेता तथा रस पर। उन्होंने स्वतः इसको स्पष्ट कर दिया है कि रामचरित का वर्णन 'व्यास समास स्वमति अनुरूपा' हुआ है। इसमें 'व्यास' भी है और 'समास' भी। समास तो वहाँ है जहाँ कोई भी मर्म की बात नहीं, हृदय का उल्लास नहीं, केवल घटना चक्र का क्रम है। व्यास वहाँ है जहाँ मर्म है, हृदय है, रस है। स्वमति का विधान वस्तु में भी हुआ है और नेता मे भी। नेता की दृष्टि से—

रस विशेष

जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना॥

—उत्तर, ६१

का विधान तो है ही, वस्तु में भी—

जेहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करै सुनि सोई॥

—बाल, ३८

में कथा की विचित्रता की भी बात ठिकाने से समझा दी गई है। 'रामचरितमानस' में तुलसी ने प्रचलित रामचरित में भी कुछ हेरफेर कर उसे अधिक मार्मिक और हृदयग्राही बना दिया है। यही कारण है कि उसके सभी वक्ता 'यथाश्रुत' के साथ ही साथ 'यथामति' की भी दुहाई देते हैं और सभी 'स्वमति' का नाम भी लेते रहते हैं। तुलसीदास 'मोरे मन प्रबोध जिमि होई' को लक्ष्य करके ही रामचरितमानस की रचना में मग्न हुए थे। उन्होंने उसको अपने अनुकूल ढालकर उसकी जो श्रीवृद्धि की उसको सभी लोग जानते, पहिचानते और मानते भी हैं। यह सच है कि ऐसी प्रेरणा तुलसीदास को अनेक संस्कृत काव्यों से मिली है, किंतु तुलसीदास ने जिस रूप मे उनके भावों को अपनाया है वह सर्वथा उनका अपना है। उस पर उनकी अपनी निजी छाप है।

तुलसीदास ने लिया बहुत कुछ है, पर उसको समेटकर ऐसा रूप दे दिया है जो उन्हींका होकर रह गया है। अपनी भक्ति जगाने की जितनी चिंता रामचरितमानस में रही है उतनी किसी अन्य काव्य में नहीं। और रामचरितमानस में तुलसी की दृष्टि रही सदा है राम, भगवान और उनकी भक्ति पर, जिसमें 'मानस' की कथावस्तु सहायक के रूप में सामने आती है। वह साधन के रूप में ली गई है और इसीसे तुलसी की दृष्टि उस पर नहीं रही है, और रही है सदा उसके नायक तथा पात्रों पर। जहाँ कहीं कथा में कुछ परिवर्तन भी हुआ है वह कथा की दृष्टि से नहीं, नेता और रस की दृष्टि से ही। निदान, उसकी वस्तु का वैसा *बिभाजन नहीं हुआ है जैसा कि महाकाव्यों में सर्गपद्धति पर होता है।*
विभाजन नहीं हुआ है जैसा कि महाकाव्यों में सर्गपद्धति पर होता है।
उसमें उसी प्रकार के सात कांड रखे गए हैं जिस प्रकार के अन्य रामायणों में मिलते हैं। हाँ, विशेषता इतनी अवश्य की गई है कि उन कांडों को सोपान बना दिया गया है, जो रामचरितमानस में प्रविष्ट होने एवं उसमें निमग्न होने के मार्ग हैं। इन सोपानों में किसी प्रकार की समता नहीं है। कोई बहुत बड़ा है, तो कोई बहुत छोटा। तृतीय सोपान अथवा अरण्यकांड कितना छोटा और द्वितीय सोपान अथवा अयोध्या कांड कितना बड़ा है, इसे कोई भी देख सकता है। सप्तम सोपान अथवा उत्तरकांड में रामचरित अथवा वस्तु तो नाममात्र को ही है। जो कुछ उसमें है वह रामभक्ति ही है। वस्तु का विलास सबसे अधिक द्वितीय सोपान में ही है। इसके उपरांत ता वस्तु को चलता किया गया है। उसके विषय में भरद्वाज की वाणी में सहज ही कहा जा सकता है—

नारि बिरह दुख लहेउ अपारा। भयेउ रोष रन रावन मारा॥

बस, इसी में राम के भगवान रूप को दिखाने की भरपूर चेष्टा हुई है और इसी में भक्ति का प्रतिपादन भी खूब गहरा हुआ है। इसकी दृष्टि से इसमें सर्वसुलभ रस नहीं, इसमें तो 'रस विशेष' ही है, जो अपने सच्चे रूप में किसी रामभक्त को ही प्राप्त होता है।

तुलसीदास को सच्ची सफलता मिली है मर्म को पहिचानने और उसको मर्म तक पहुँचाने में। तुलसीदास करुण रस के कवि हैं। हृदय की

वेदना को पहिचानते और उसे हृदय में जमा भी देते हैं। उनकी वाणी सत्य है, किंतु है कितनी मर्मभरी और संवेदनशील—

तुलसी भनित सबरी प्रनति रघुबर प्रकृति करुनामई।
गावत सुनत समुझत भगति हिय होय प्रभु पद नित नई।
—गीतावली, अरण्य, १७

तुलसीदास ने इस 'करुनामई' से जो काम लिया है वह देखते ही बनता है। तुलसीदास भक्ति को लेकर उठे हैं, चले हैं और बढ़े हैं प्रेम को लेकर ही, किंतु सच्ची भक्ति और सच्ची रति होती वहीं है जहाँ करुणा का सच्चा प्रसार और वेदना का सहज उल्लास होता है। कौन नहीं जानता कि रामचरितमानस का मर्मस्थल है राम वनवास ही और तुलसी का कविहृदय फूट निकला है कैकेयी के वरदान और राम के वियोग में ही ? अयोध्या की उस समय जो स्थिति हुई, उसके कण कण से जो रसधारा फूट निकली वही समस्त सृष्टि में समा गई और पशु पक्षी भी उसी से मर्माहत हो गए, लता और बेलियाँ भी उसी की लपट में झुलस उठीं। उसकी उष्णता ही कुछ ऐसी है।

———

४—चरित चित्रण

रामचरितमानस का द्वितीय सोपान ही चरित की कसौटी है। इसमें तुलसीदास खूब जमे हैं और यदि काव्य की दृष्टि से कहीं उखड़े भी हैं तो वहीं, जहाँ राम के ब्रह्मरूप की चिंता में पड़ गए हैं अन्यथा कहीं भी किसी प्रकार की कोई त्रुटि यहाँ नहीं दिखाई देती। 'मानस' के प्रमुख पात्र यहाँ प्रस्तुत होते हैं और जिस रूप में हमारे हृदय में अपना घर बनाते हैं वह रूप अनुदिन निखरता ही जाता है और नित्य निर्मल, विशद तथा स्वच्छ होता जाता है। केवल मंथरा ही ऐसी घातिनी मिलती है जो फिर कभी निखरकर हमारे सामने नहीं आती। कैकेयी का निखार भी आगे चलकर हो जाता है और उसकी ग्लानि में उसके सारे कल्मष धुल जाते हैं, पर मंथरा मंथरा ही रह जाती है—अथवा 'मानस' में कहीं की भी नहीं रह जाती। उसको शत्रुघ्न ने जो सीख दी वही उसकी सच्ची गति भी है। प्रतिनायक के पक्ष मे यही गति सूपनखा की होती है। सूपनखा और मंथरा को कवि ने भुला दिया, पर इस ढंग से, ऐसा रूप देकर, ऐसे अवसर पर भुलाया कि आज तक कोई उन्हें भूल न सका। अरे मंथरा! अरे सूपनखा! की ध्वनि आज भी समाज में कानों में पड़ती ही रहती है और उनसे बचने तथा सतर्क रहने की चेतावनी मिलती रहती है।

पात्र परिचय

प्रतिनायक की सूचना पाठक को पहले ही मिल चुकी है। रावण के पूर्व जन्म का वृत्तांत भी उसको मिल चुका है। वह उसके पापकर्म से भी परिचित हो चुका है। हाँ, प्रासंगिक कथा के पात्र किष्किंधा में मिलते हैं और यहीं से उस संग्राम का सूत्रपात होता है जिसको 'भयउ रोष रन रावन मारा' के रूप में अंकित किया गया है। तुलसीदास के पात्र वृत्तियों के प्रतीक होकर उठे हैं, इसको मानने में किसी का संदेह नहीं हो सकता। तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में इसको खोलने की कृपा की भी है। देखिए—

देहि अवलंब कर कमल कमलारमन, दमन दुख समन संताप भारी।
अग्यान राकेस ग्रसन विधुंतुद, गर्व काम करि मत्त हरि दूषनारी।
वपुष ब्रह्माड, सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग, रचित मन दनुज मय रूपधारी।
विविध कोसौध अति रुचिर मंदिर निकर, सत्व गुन प्रमुख जैकटककारी।
कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर बिपुल अवगाह दुस्तर अपारम्।
नक्र रागादि संकुल, मनोरथ सकल संग संकल्प बीची बिकारम्।
मोह दसमौलि, तद्भ्रात अहँकार, पाकरिजित् काम बिस्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोध पापिष्ट बिबुधांतकारी।
द्वेष दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन कपट, दर्प मनुजाद मद सूलपानी।
अमित बल परम दुर्जय निसाचर निकर सहित षडवर्ग गो यातुधानी।
जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।
नियम यम सकल सुरलोक लोकेस लंकेस बस नाथ, अत्यंत भीता।
ज्ञान अवधेस, गृह गेहिनी भक्ति सुम, तत्र अवतार भूभार हर्ता।
भक्त संकट अवलोकि पितु वाक्य कृत गमन किय गहन वैदेहि भर्ता।
कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट बिपुल, ज्ञान सुग्रीव कृत जलधि सेतू।
प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय विषय बन दहनमिव धूमकेतू।
दुष्ट दनुजेस निर्बंसकृत दास हित विश्व दुख हरन बोधैकरासी।
अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदय कमल बासी ॥५८॥

तुलसीदास ने जो कुछ कहा है उसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि मलिक मुहम्मद जायसी की भाँति उन्होंने भी रामचरित को उपमित कथा के रूप में समझाने का प्रयत्न किया है। तुलसी की दृष्टि में 'रामचरितमानस' के पात्र सचमुच पात्र हैं, जो किसी न किसी वृत्ति को लेकर बढ़े हैं, पर प्रधानता उसमें उस वृत्ति की नहीं प्रत्युत उसी पात्र की है। अर्थात् हम उसको नट के रूप में नहीं प्रत्युत व्यक्ति के रूप में ही पाते हैं। भाव यह कि उसकी सत्ता में तुलसी को संदेह नहीं। हो भी कैसे? उनके ब्रह्म राम भी तो वस्तुतः नर राम ही हैं और इसी के प्रतिपादन मे तो सारे रामचरितमानस की अवतारणा भी हुई है। कहने का आशय यह कि तुलसीदास की दृष्टि प्रत्येक पात्र पर किसी विशेष वृत्ति को लेकर ही रही है और उसमें उसी वृत्ति का विकास दिखाने की चेष्टा भी पूरी की गई है। तुलसीदास के पात्रों ने रामचरित-

मानस में जो कार्य किया है उसका विश्लेषण भलीभाँति अभी तक नहीं किया गया। रामचरितमानस में केवल राम का ही चरित नहीं है, अन्यों का भी पूरा चरित है। वास्तव में रामचरितमानस चरितकाव्य है, और है सभी का लक्ष्य राममय हो जाना। यहाँ तक कि इसका प्रतिनायक रावण भी यही चाहता है और वैर भाव से ही उक्त गति को प्राप्त भी हो जाता है, यहाँ तक कि तुलसीदास ने जहाँ राक्षसों का वर्णन किया है वहाँ उनको इतना और भी स्पष्ट करना पड़ा है कि—

एहि लागि तुलसीदास इनकी कथा कछु एक है कही।
रघुबीर सर तीरथ सरीरन्ह त्यागि गति पैहहिं सही॥

—सुंदर, ३

और उनके संबंध में उन्होंने स्पष्ट लिख भी दिया है—

खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहि गति जो जाचत जोगी॥
उमा राम मृदु चित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥
देहि परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥

—लंका, ४५

भालु कपि

तुलसीदास ने रामचरितमानस में व्यष्टि के चरित को लिया और समष्टि के चरित को भी। व्यष्टि को व्यक्ति के रूप में लिया है और समष्टि को जाति के रूप में। उन्होंने कपि और भालू को राम का सहायक बनाया है। संग्राम भूमि में दोनों का अलग अलग ढंग देखना हो तो उनका यह रंग देखें और देखें उनके भिड़ने की भिन्न भिन्न प्रणाली तथा शत्रु के प्रति अलग अलग प्रतिक्रिया भी। 'भालू' को न भूलें। वह 'बंदर' के बराबर नहीं, पर है बड़े महत्व का। देखिए रणभूमि में हो क्या रहा है। यही न—

सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना॥
हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत राम चरित रन रंगा॥
सुभट समर रस दुहुँ दिसि माते। कपि जयसील राम बल ताते॥
एक एक सन भिरहि प्रचारहिं। एकन्ह एक मर्दि महि पारहिं॥
मारहिं काटहिं धरनि पछारहिं। सीस तोरि सीसन्ह सन मारहिं॥

उदर बिदारहिं भुजा उपारहिं । गहि पद अवनि पटकि भट ढारहिं ॥
निसिचर भट महिं गाड़हिं भालू । ऊपर ढारि देहिं बहु बालू ॥
बीर बलीमुख जुद्ध बिरुद्धे । देखिअत बिपुल काल जनु क्रुद्धे ॥

क्रुद्धे कृतांत समान कपि तनु स्रवत सोनित राजहीं ।
मरदहि निसाचर कटकु भट बलवंत घन जिमि गाजहीं ॥
मारहिं चपेतन्हि डाटि दातन्ह काटि लातन मीजहीं ।
चिक्करहि मर्कट भालु छल बल करहि जेहिं खल छीजहीं ॥
धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं गल अँतावरि मेलहीं ।
प्रह्लादपति जनु बिबिध तन धरि समर अंगन खेलहीं ॥
धरु मारु काटु पछारु घोर गिरा गगन महि भरि रही ।
जय राम जो तृन ते कुलिस कर कुलिस तें तृन कर सही ॥

—लंका, १८

स्मरण रहे, कपि दो प्रकार के शब्द करते हैं—एक प्रसन्नता में और दूसरा क्रोध में। दोनों को एकत्र देखना हो तो उनकी कुंभकरन से भिड़ंत देखिए—

एतना कपिन्ह सुना जब काना । किलकिलाइ धाये बलवाना ॥
लिए उठाइ विटप अरु भूधर । कटकटाइ डारहिं ता ऊपर ॥

—लंका, ६५

कपि के बारे में प्रसिद्ध है कि रात्रि में उन्हें सूझता नहीं है। यही कारण है कि प्रदोष के आते ही बंदर किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं और फिर भालुओं को ही अपना बल दिखाना रह जाता है। देखिए—

हनुमदादि मुरुछित करि बंदर । पाइ प्रदोष हरष दसकंधर ॥
मुरुछित देखि सकल कपि बीरा । जामवंत धाएउ रनधीरा ॥
संग भालु भूधर तरुधारी । मारन लगे पचारि पचारी ॥
भएउ क्रुद्ध रावन बलवाना । गहि पद महि पटकै भट नाना ॥
देखि भालुपति निज दल घाता । कोपि माँझ उर मारेसि लाता ॥

उर लात घात प्रचंड लागत विकल रथ ते महि परा ।
गहे भालु बीसहु कर मनहुँ कमलन्ह बसे निसि मधुकरा ॥
मुरुछित बिलोकि बहोरि पद हति भालुपति प्रभु पहि गयो ।
निसि जानि स्यन्दन घालि तेहि तब सूत जतन करत भयो ॥

—लंका, ९८

बंदरों के उपद्रव को भी तुलसीदास ने बड़े ठिकाने से लिया है। एक तो बंदर की जाति और दूसरे बनमई उनकी सेना। फिर तो कहना ही क्या? जहाँ कहीं पहुँचे उपद्रव आरंभ कर दिया। सूत्रपात तो—

तब मधुबन भीतर सब आये। अंगद सम्मत मधु फल खाये॥
रखवारे जब बरजइ लागे। मुष्टि प्रहार हनत सब भागे॥

—सुंदर, २८

में हो गया था और लंका में पहुँचे तो—

खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं। लंका संमुख सिखर चलावहिं॥
जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिं। घेरि सकल बहु नाच नचावहिं॥
दसनन्हि काटि नासिका काना। कहि प्रभु सुजस देहिं तब जाना॥

लंका, ५

इन बंदरों के समूह में से दो को अलग कर देखिए तो उनका उत्पात और भी आँखों के सामने खड़ा हो जाता है—

जुद्ध बिरुद्ध क्रुद्ध द्वौ बंदर। राम प्रताप सुमिरि उर अंतर॥
रावन भवन चढ़े द्वौ धाई। करहिं कोसलाधीस दोहाई॥
कलस सहित गहि भवनु ढहावा। देखि निसाचरपति भय पावा॥
नारि बृंद कर पीटहिं छाती। अब दुइ कपि आये उतपाती॥
कपि लीला करि तिन्हहिं डरावहिं। रामचंद्र कर सुजस सुनावहिं॥
पुनि कर गहि कंचन के खभा। कहेन्हि करिअ उतपात अरंभा॥
गर्जि परे रिपु कटक मँझारी। लागे मर्दै भुज बल भारी॥
काहुहि लात चपेटन्हि केहू। भजहु न रामहिं सो फल लेहू॥

एक एक सो मर्दहिं, तोरि चलावत मुंड।
रावन आगे परहिं ते, जनु फूटहिं दधि कुंड॥

—लंका, ४४

अंगद और हनुमान का स्वभाव भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। दोनों के जा संवाद रावण के साथ हुए हैं उनमें उनके स्वभाव अलग अलग आप ही व्यक्त हो जाते हैं। उनके संबंध में कुछ विशेष कहने की

आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी प्रकार सुग्रीव का स्वरूप भी सर्वथा अलग है और अलग है इन सबसे नल और नील का स्वभाव भी। भालुओं में केवल जामवंत का नाम आता है, किंतु इस ढंग से आता है कि यदि जामवंत न होते तो क्या होता यह नहीं कहा जा सकता। कारण, समय की सूझ और महावीर की कुंजी इन्हीं में है। रामचरित-मानस में जरठ जटायु ने जो कुछ किया वह तो सर्वविदित है, किंतु जरठ जामवंत की करनी कुछ ओझल सी रह गई है। जामवंत के प्रोत्साहन से हनुमान लंका पर कूद पड़े इतना तो सभी लोग जानते हैं, परंतु रणभूमि में इस बूढ़े मंत्री ने जो करतब दिखाया वह कुछ और ही है। मेघनाद और रावण के अभिमान को चूर करने वाला यही जामवंत है। मेघनाद ने बड़े अभिमान से कहा था—

बूढ़ जानि सठ छाड़े तोही। लागेसि अधम प्रचारै मोही॥

परंतु परिणाम क्या हुआ? यही न कि उसी के त्रिशूल से उलटे उसी को घायल कर दिया और चट भूमि पर पछाड़कर उसको नीचा दिखा दिया। देखिए, कैसी मुठभेड़ है—

अस कहि तरल त्रिसूल चलावा। जामवंत कर गहि सोइ धावा॥
मारेहि मेघनाद कै छाती। परा भूमि घुर्मित सुरघाती॥
पुनि रिसान गहि चरन फिरायो। महि पछारि निज बलु देखरायो॥
बर प्रसाद सो मरइ न मारा। तब गहि पद लंका पर डारा॥

लंका, ७४

अतएव हम देखते हैं कि जामवंत ने अपने विषय में जो कुछ कपियों से समुद्र तट पर कहा था, उसको इस बुढ़ापे में भी सिद्ध कर दिखाया और किसी अवसर पर कभी भी इस बूढ़े से कोई चूक नहीं हुई। सच तो यह है कि जैसे भरत के चरित में कहीं कलमष नहीं दिखाई देता वैसे ही जामवंत के चरित में भी। अवसर की सूझ और उसके अनुकूल आचरण दोनों में ही जामवंत निराले हैं।

रामचरितमानस में 'रामसखा' की स्थिति कुछ और भी निराली है। 'रामसखा' ही तुलसीदास की अनुपम देन है। निषाद को

तुलसीदास ने जिस रूप में लिया और जिस दृष्टि से देखा है वह आज की उदार दृष्टि से कहीं अधिक भव्य, रम्य और कल्याणप्रद है। तुलसी ने निषाद को 'जन' नहीं 'सखा' के रूप में देखा और कहा भी बराबर उसको रामसखा ही है। इस रामसखा का स्वभाव कैसा दृढ़ और सजीव है। बुद्धि और विवेक भी इसमें इतना है कि यह सभी कार्य को ठीक समय पर, ठीक ढंग से संपन्न कर देता है और विनोद भी इतना है कि समय पर चूकता ही नहीं, सभी से अपनी सी कराकर ही छोड़ता है। भक्ति और साहस का कहना ही क्या! भगवान का कृपापात्र ऐसा बनता है कि उन्हें अंत में कहना ही पड़ता है

राम सखा

जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम बचन धरम अनुसरेहू॥
तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

—उत्तर, २०

और साहस तो यहाँ तक है कि—

अस विचारि गुह ग्याति सन, कहेउ सजग सब होहु।
थगासहु बोरहु, तरनि कीजिए घाटारोहु॥

होहु संजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरेइ के ठाटा॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊ॥
समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा॥
भरत भाइ नृप मैं जन नीचू। बड़े भाग अस पाइअ मीचू॥
स्वामि काज करिहहु रनरारी। जस धवलिहहु भुवन दस चारी॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे॥
साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महुँ जासु न रेखा॥
जाय जियत जग सो महि भारू। जननी जोबन बिटप कुठारू॥

बिगत विषाद निषादपति, सबहिं बढाइ उछाहु।
सुमिरि राम माँगेउ तुरत, तरकस धनुप सनाहु॥

—अयोध्या, १८६-६०

साहसी तो है ऐसा, पर कहीं अति साहसी नहीं। किसी बूढ़े ने पते की बात कही तो मर्म लेने के लिये 'मीन पीन पाठीन पुराने' के साथ भरत के पास पहुँच गया और—

देखि दूरि तें कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहिं दंड प्रनामू॥
जानि राम प्रिय दीन्हि असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा॥
राम सखा सुनि स्यदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुह नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥
—अयोध्या, १९३

निषाद ने जो कुछ भरत का सत्कार किया और फिर जिस प्रकार उसकी अगुवाई में भरत चल पड़े उसके कहने की आवश्यकता नहीं। ध्यान देने की बात यह है कि इस निषाद ने कुछ ऐसा प्रबंध कर दिया कि भरत को यमुना पार करने में उतना समय नहीं लगा जितना कि गंगा पार करने में लगा था, किंतु यह सब तो अति सामान्य बातें हैं। इसके शील का अनुमान तो इसी से किया जा सकता है कि इसी निषाद ने फिर उसी मुनिवर को प्रणाम किया तो इस बार इसका प्रभाव कुछ और ही पड़ा। ऋषि से इस बार अलग नहीं रहा गया और हुआ यह कि—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

निषाद जाति की एक झलक उस समय मिली थी जब भरत से जूझने की भावना उनके बीच जाग उठी थी। यहाँ कोल किरातों की भी एक झाँकी ले लेनी चाहिए और देखना चाहिए कि तुलसीदास ने इनकी प्रकृति को कहाँ तक परखा है। कोल किरातों को पता चल गया है कि राम चित्रकूट मे आ बसे हैं। उपहार लेकर प्रभु की सेवा में पहुँचते और कहते हैं—

कोल किरात

हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा॥
कीन्ह बास भल ठाउँ बिचारी। इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥
हम सब भाँति करब सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई॥
बन बेहड गिरि कंदर खोहा। सब हमार प्रभु पग पग जोहा॥

तहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब। सर निरझर भल ठाउँ देखाउब॥
हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आयसु देता॥

—अयोध्या, १३६

कोल किरातों की जो जानकारी तुलसीदास ने दिखाई है वह सर्वथा उपयुक्त है। कोल किरातों ने राम से जो कुछ कहा था उसको कर दिखाया जब अवध के लोग चित्रकूट में आ बसे थे। देखिए—

कोल किरात भिल्ल बनवासी। मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधासी॥
भरि भरि परन पुटी रुची रूरीं। कंद मूल फल अंकुर जूरीं॥
सबहिं देहिं करि बिनय प्रनामा। कहि कहि स्वादु भेद गुन नामा॥
देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दुहाई देहीं॥

इतना ही नहीं, उनका शिष्टाचार इससे भी कहीं अधिक साधु है! सुनिए न कहते क्या हैं—

तुम्ह प्रिय पाहुने बन पगु धारे। सेवा जोगु न भाग हमारे॥
देब काह हम तुम्हहिं गोसाईं। ईंधनु पात किरात मिताईं॥
यह हमारि अति बड़ सेवकाई। लेहि न बासन बसन चोराई॥
हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥
पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट काट नहिं पेट अघाहीं॥
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ॥

—अयोध्या, २५१

जिस सेवा सत्कार के साथ खुले हृदय से उन्होंने भरत का स्वागत किया है क्या अन्यत्र कहीं भी वह गोचर होता है। तुलसी की दृष्टि अंत्यज और नीच कहे जाने वाले जाति पर जितनी उदार और गहरी रही है वह सराहनीय और माननीय है। उसने मनुष्यमात्र को एक श्रेणी में ला दिया है। सभी अपने अपने स्थान पर शोभन और संतुष्ट है—

पुरुष की अपेक्षा स्त्री को जातिगत रूप में तुलसीदास ने अधिक लिया है। तीन अवसर 'रामचरितनानस' में ऐसे आए हैं जहाँ स्त्रियाँ

अपने हृदय का पूरा परिचय देती हैं। एक तो जनकपुर में पुष्पबाटिका अथवा धनुषयज्ञ के अवसर पर, दूसरा कैकेयी के हठ करने पर और तीसरा रामचंद्र की वन-यात्रा में। इसके अतिरिक्त और भी जहाँ तहाँ उनका सामूहिक रूप सामने आता है, परंतु उनमें वहाँ कोई विशेष विशेषता नहीं होती। इनमें से भी मुख्य रूप से दो ही के चित्रण में तुलसीदास की वृत्ति रमी है। कैकेयी के प्रसंग में तो सबको समझाने का काम करना पड़ा है और कुछ को कोसने का भी। परंतु मिथिला की नारियों और चित्रकूट के मार्ग की ग्रामबधूटियों को अपने हृदयगत भावों को व्यक्त करने का अच्छा अवसर हाथ लगा है और तुलसी-दास ने दोनों को सभी प्रकार से सबके सामने प्रत्यक्ष रख भी दिया है। दोनों की स्थिति में विशेषता यह है कि मिथिला में नागरी नारियों की चुहुल पुहुल है और विंध्य की नारियों में ग्रामीण सरलता का बोल-बाला। दूसरी बात यह है कि मिथिला में शृंगार और संयोग की वार्ता है तो विंध्याटवी में करुण और वियोग की वेदना। दोनो अवसरों पर दोनों रूपों मे ही तुलसीदास ने स्त्रीप्रकृति का सहज दर्शन किया है और ग्रामबधूटियो के प्रसंग को तो मानस के अतिरिक्त 'गीतावली' और 'कवितावली' में भी बड़े चाव से लिया है और दिखाया भी है बड़े हुलास से बड़े ही रमणीय रूप में।

स्त्री

रामचरितमानस में राम और सीता की प्रधानता तो है ही, राम और सीता का रूप भी विलक्षण है। तुलसीदास ने ब्रह्म और माया को नर और नारी के रूप में दिखाकर जिस अनुपम शील, स्वभाव और गुण का परिचय दिया है उसकी आलोचना थोड़े में नहीं हो सकती। रामचरित की विशेषता यह है कि वह कई रूपों में हमारे सामने आता है। कहना चाहें तो हम कह सकते हैं कि राम का अद्भुत अथवा गुप्त चरित तो कभी कभी किसी पात्र के प्रसंग में दिखाई दे जाता है और वह जन्म से लेकर 'गए जहाँ सीतल अँबराई' तक कहीं न कहीं गोचर होता रहता है। हम इस रूप को अधिक महत्व नहीं देते और न तुलसी-दास ही इसको अधिक सराहते हैं। यह तो स्वरूपबोध कराने का

राम

प्रयत्न मात्र है। राम के शेष चरित को हम 'विषद', 'विमल' और 'ललित' रूप में पाते हैं। विशद तो वह प्रथम सोपान में रहता है, विमल द्वितीय सोपान में होता है और ललित तृतीय सोपान में बन जाता है। इस ललित चरित को देखकर ही लोग संशय, मोह और भ्रम में पड़ जाते हैं और फलतः यही सबसे गूढ़ और रहस्यमय है भी। राम का सीता को अग्नि को सौंपना और फिर माया की सीता से आगे के चरित को प्राकृत रूप में कर दिखाना यहीं से आरंभ होता है। और यहीं से श्रोताओं को सावधान करने की विशेष आवश्यकता भी पड़ती है। यह चरित तब तक बना रहता है जब तक विभीषण समुद्रतट पर राम से नहीं आ मिलता। इसमें थोड़ा सा परिवर्तन उस समय भी हो जाता है जब राम की मित्रता सुग्रीव से हो जाती है। सुग्रीव राम से मिलता है तो उसे पहले राम की शक्ति में विश्वास नहीं होता, किंतु राम जब उसकी कसौटी पर खरे उतरते व्या आशा से कहीं अधिक समर्थ दिखाई देते हैं तब उसकी विचारधारा कुछ और ही हो जाती है। उसके सामने राज्य की बात नहीं रह जाती, वह तो ज्ञान छाँटने लगता है, पर राम उसके ज्ञान को कर्म में बदल देना चाहते हैं और तुरत यही कहते हैं—

जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥

परिणाम यह होता है कि सुग्रीव किष्किंधा के राजा होते हैं और राम के सहायक बन जाते हैं। राम का वह चरित यहीं से प्रगट होता है, जिसको हम राम का 'रामचरित' कह सकते हैं। सुग्रीव से कोई बड़ा काम राम को नहीं लेना था, अतः राम की राजनीति सुग्रीव के प्रसंग में उतनी नहीं लिखी जितनी कि विभीषण के प्रसंग में। विभीषण के साथ राम ने जो व्यवहार किया और विभीषण ने राम को जिस दृष्टि से देखा सो तो अलग की बात ठहरी। यहाँ हम बताना यह चाहते हैं कि राम ने रावणसंग्राम में कोई कार्य ऐसा नहीं किया जिसका अनुमोदन स्वयं विभीषण ने न किया हो कहना तो यह चाहिए कि विभीषण जो कुछ कहता गया, राम उसी को करते गए। विभीषण के प्रसंग में नीति की सबसे बड़ी बात तो राम ने आरंभ में ही यह कर दी कि उसे आते ही हृदय से लगा लिया और लंकेश की उपाधि से विभूषित कर दिया। फिर उसी को अपना इस संग्राम का प्रधान मंत्री बना

लिया। लंकापति विभीषण ने राम से कहा कि समुद्र पार करने के लिये अच्छा होगा कि समुद्र से प्रार्थना करें। राम ने उसकी प्रशंसा की। लक्ष्मण ने इसमें कायरता का भाव देखकर इसका विरोध किया। राम ने उनसे धीरज धरने को कहा और अंत में डाट कर समुद्र को अपने अधीन कर लिया। समुद्रतट पर राम का जो समय बीता वह रावण के लिये घातक सिद्ध हुआ। रावण के दूतों ने गुप्त वेश में जो कुछ यहाँ देखा इसका परिणाम यह हो गया कि वे राम के दास बन गए और रावण के विनाश का यहीं से सूत्रपात भी हो गया। फिर तो विभीषण इतना हिलमिल गया कि राम से कुछ कहने मे कभी उसको कोई संकोच ही नहीं रहा। वह तो राम का कानलगा सखा हो गया। राम सागर पार कर गए। उन्होंने सुबेल शैल की एक ऊँची चोटी पर अपना आसन जमा लिया। इस समय विभीषण की जो स्थिति हुई उसे समझ लें तो राम की सारी राजनीति आप ही विदित हो जाय। उस समय की झाँकी लीजिए—

इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा। उतरे सेन सहित अति भीरा॥
सिखर एक उतंग अति देखी। परम रम्य सम सुभ्र बिसेखी॥

तहँ तरु किसलय सुमन सुहाए। लछिमन रचि निज हाथ डसाए॥
ता पर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥

प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा॥
दुहु कर कमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना॥
बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चाँपत बिधि नाना॥
प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥

—लंका, ११

कान लगे लंकेश ने जो मंत्रणा की, उसका परिणाम हुआ रावण का विनाश। रावण का बध किस नाभिकुंड के भेदन से होगा, इसका भेद विभीषण ही ने तो राम को बताया था।

अस्तु, यही वनवासी राम, राजा राम के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं और रामराज की कीर्ति चारों ओर छा जाती है। रामराज आज

भी आदर्श शासन माना जाता है। 'राजा राम अवध रजधानी' की कहावत आज भी कही जाती है। संक्षेप में अवध की मर्यादा यह थी—

दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पियहिं बाजि गज ठाटा॥
पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं असनाना॥
राजघाट सब बिधि सुंदर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर॥
तीर तीर देवन्ह के मंदिर। चहुँ दिसि तिन्हके उपवन सुंदर॥

और घर की व्यवस्था यह कि—

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। विपुल सकल सेवा विधि गुनी॥
निज कर गृह परिचर्या करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥

—उत्तर, २४

तुलसी को रामचरितमानस में राम और सीता का जो रूप इष्ट हुआ उसमें फिर कोई वियोग नहीं। 'दुइ सुत सुंदर सीता जाये' से यह प्रगट है कि तुलसीदास 'रामचरितमानस' में सीता का वनवास नहीं दिखाते और राम की अंतिम छटा भी यह दिखाते हैं—

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अँबराई॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥
मारुत सुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचनु जल भरई॥

—उत्तर, ५०

राम की यह छटा ऐसी सटीक बैठी कि फिर किसी श्रोता को यह जिज्ञासा नहीं रही कि फिर राम ने क्या किया अथवा वे कहाँ गए। रामचरितमानस में रामचरित की यहीं इति होती है और इसके उपरांत फिर उनकी भक्ति का कसकर निरूपण होता है और इसी में राम के अद्भुत चरित की झाँकी भी दिखाई जाती है। होते होते परिणाम यह होता है कि सभी 'रामचरित' में रम जाते हैं और अंत में तुलसीदास भी खुलकर घोषणा कर देते हैं—

रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं॥
कलि मल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं॥

—उत्तर, १३०

रामचरितमानस में राजा राम का दर्शन तो हो जाता है, पर कहीं रानी सीता का कोई रूप गोचर नहीं होता। उनके संबंध में इतना कह तो दिया गया है कि उनके यहाँ किसी वस्तु की कमी नहीं थी, फिर भी, वह घर का सारा काम अपने आप ही कर लिया करती थीं; किंतु कहीं उसमें इस बात का संकेत नहीं मिलता कि वह राम के राजकाज में भी कुछ हाथ बँटाती थीं अथवा नहीं। तुलसीदास ने ऐसा क्यों किया, इसको जान लेना कुछ कठिन नहीं। तुलसी ने वियोगिनी उर्मिला का कहीं नाम तक नहीं लिया और संयोगिनी सीता का नाम लिया तो बहुत, पर उनके चरित को भी सभी प्रकार से दिखाने का प्रयत्न नहीं किया। कारण यह था कि रामचरित राम और सीता के संयोग में विकसित नहीं हुआ और जो कुछ हुआ भी वह राजा राम के रूप में नहीं, वरन् मानव और तापस राम के रूप में ही। तुलसीदास ने समय समय पर सीता के चरित को जिस रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है वह उनके सच्चे स्वरूप के समझने में सहायक होता है। सीता और राम का मिलन जिस रूप मे मिथिला की पुष्पवाटिका में हुआ और मिलते ही एक ने दूसरे को जिस दृष्टि से देखा उसकी वह दृष्टि उसी रूप में बराबर बनी रही और दिन प्रतिदिन और गाढ़ी ही होती गई। सीता ने गाढ़े दिन में राम का साथ दिया और उनकी प्रेरणा से अग्नि में प्रवेश कर माया की सीता के रूप में यातनायें भी भोगीं और फिर अग्नि परीक्षा में अपने मूल रूप को प्रगट कर पुष्पक विमान के द्वारा अपने पतिदेव के साथ अयोध्या में आ गईं। यही उनके चरित का सार है। इसमें तुलसीदास ने दो स्थलों पर सीता के मर्म को समझाने का प्रयत्न किया है। एक तो गंगा पार उतरने पर जब कहते हैं—

पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुँदरी मन मुदित उतारी॥

और दूसरा चित्रकूट में, जब जानकी माता पिता से कहतीं तो नहीं, पर कहना चाहती हैं कि अब यहाँ रहना ठीक नहीं—

कहति न सीय सकुच मन माँही। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥

लखि रुख रानि जनायेउ राऊ। हृदय सराहत सील सुभाऊ॥

होत प्रात मुनि वेष धरि, जौं न रामु वन जाहिं।
मोर मरन राउर अजसु, नृप समुझिय मन माहिं॥

—अयोध्या, ३३

परंतु स्वयं कौशल्या पर इस सौतिया डाह का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनके मुँह से तो अब भी यही निकलता है,

राजु देन कहिं दीन्ह बनु, मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिन भरतहि भूपतिहि, प्रजहि प्रचंड कलेसु॥
जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥
पितु बनदेव मातु बन देवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥
अंतहु उचित नृपहि बनवासू। वय बिलोकि हिय होइ हरासू॥
बड़भागी बनु अवध अभागी। जौ रघुबंसु तिलकु तुम्ह त्यागी॥
जौ सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदय होइ संदेहू॥
पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मै सुनि बचन बैठि पछताऊँ॥

यहि बिचारि नहि करउँ हठ, झूठ सनेह बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ॥

—अयोध्या, ५६

माता कौशल्या माता के सामने पत्नी के अधिकार को ठुकराना नहीं चाहती और न इस क्षेत्र में पति पर अपना अधिकार ही जमाना चाहती हैं। उनको पुत्रवधू की इच्छा-का पता हो गया है और वह राम से जानना चाहती हैं कि वह सीता को अपनी ओर से क्या सीख दें। इसी से तो सीता को रोकती नहीं और राम से स्पष्ट पूछती हैं—

अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई॥

परिणाम यह हुआ कि राम, सीता और लक्ष्मण अवध को छोड़ कर वन को चल पड़े और उनके वियाग में दशरथ की कुछ और ही दशा हो गई। कौशल्या को इसकी गहरी चिंता हुई, किंतु उन्होंने दशरथ को इसके लिये कोसा नहीं, अपितु उनसे कहा यह—

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरज धरिअ त पाइय पारू। नाहि त बूड़िहि सब परिवारू॥
जौं जिय धरिअ बिनय प्रिय मोरी। रामु लषनु सिइ मिलिहिं बहोरी॥
—अयोध्या, १५४

जो होना था सो हो गया। दशरथ नहीं रहे। पर कौशल्या के कर्तव्य की इति अभी नहीं हुई। उनको तो अभी बहुत कुछ देखना, सुनना तथा बताना है। भरत ननिहाल से आते हैं तो सुखशांति के निमित्त उन्हीं की शरण में जाते हैं और तुलसी भी विकल हो कहते हैं—

भरतहिं देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झँइ आई॥
देखत भरत विकल भये भारी। परे चरन तन दसा बिसारी॥

—अयोध्या, १६४

जब स्थिति का बोध होता है तब शपथ खाकर अपने को निर्दोष सिद्ध करने के अतिरिक्त और क्या हाथ में रह जाता है। कौशल्या का हृदय भरत की शपथ से भर आता है और

मत तुम्हार यहु जो जग कहही। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरत हिय लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

—अयोध्या, १६६

यहाँ तक तो हृदय की बात रही। कर्तव्य की पुकार यह है कि—

कौसल्या धरि धीरज कहई। पूत पथ्य, गुर आयेसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हितमानी। तजिअ विषादु काल गति जानी॥
बन रघुपति सुरपति नर नाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥
परिजन प्रजा सचिव सब अम्बा। तुम्हहीं सुत सब कहँ अवलम्बा॥
लखि विधि बाम काल कठिनाई। धीरज धरहु मातु बलि जाई॥
—अयोध्या, १७६

भरत ने चित्रकूट के लिये प्रस्थान किया और पैदल चलने की ही ठान ली तो कौशल्या को उन्हें समझाकर रथ पर चढ़ाना पड़ा। भरत ने माता की आज्ञा मान ली और जैसे तैसे चित्रकूट पहुँच गए। वहाँ उनके जी में आया कि यदि गुरु वसिष्ठ अथवा माता कौशल्या कह दें तो सारा काम बन जाय, किंतु कठिनाई यह है कि—

> अवसि फिरहि गुर आयसु मानी। मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी।
> मातु कहेहु बहुरहि रघुराऊ। राम जननि हठ करबि कि काऊ॥
>
> —अयोध्या, २५३

चित्रकूट की परिस्थिति इतनी गंभीर हो उठी कि किसी की बुद्धि काम नहीं करती। सभी कुछ न कुछ सोचते और फिर दूसरे के पक्ष पर विचार कर, कुछ सोचकर मौन रह जाते। कौशल्या को भी इस समय बड़ी चिंता थी। उन्होंने भी कुछ उपाय सोच निकाला था। राजमाता की दृष्टि में यह कार्य जिस प्रकार संपन्न हो सकता था वह यह है—

> कौसल्या कह धीर धरि, सुनहु देवि मिथिलेसि।
> को विवेकनिधि वल्लभहि, तुम्हहिं सकइ उपदेसि॥
>
> रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समझाई॥
> रखिअहिं लषनु भरतु गवनहि बनु। जौ यह मत मानइ महीप मनु॥
> तौ भल जतनु करब सुबिचारी। मोरे सोचु भरत कर भारी॥
> गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोंहि लागत नाहीं॥
>
> —अयोध्या, २८४

कौशल्या के विषय में जो इतना कहा गया है उसका उद्देश्य है यह दिखा देना कि तुलसीदास ने रानी और राजमाता दोनों का दिग्दर्शन कौशल्या के चरित में ही कराया है और इसके लिये सीता को नहीं लिया है। कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी के शीलनिदर्शन में तुलसीदास ने अपनी जिस शक्ति का परिचय दिया है उसको लेकर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं। इतने से ही तुलसीदास के चरित्र-चित्रण का कुछ आभास हो जाता है। हाँ: कुछ प्रतिनायक की चर्चा भी अवश्य हो जानी चाहिए।

हाँ, तो दशरथ वरदान की विवशता के कारण कैकेयी की सुनते हैं और अवध मे शोक का निवास हो जाता है। तो रावण अभिमान के कारण मंदोदरी की नहीं सुनता और उसका विनाश हो जाता है। मंदोदरी कौशल्या की भाँति सोचती है सदा हित की बात, पर उसका सोचा उसी तक रह जाता है, उसका दुर्धर्ष रावण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

रावण

रावण को तुलसीदास ने विचित्र रूप में लिया है। उसकी घोर दारुणता का बोध तो अवतार के कारण में ही व्यक्त हो जाता है। रही उसकी प्रपंचलीला, सो रामचरित में सबसे पहले सामने आती है और वहीं यह भी खुल जाता है कि उसके साथ उसके पक्ष की सहानुभूति नहीं। उसके गण तो उसके आतंक के कारण ही उसका कार्य करते हैं। मारीच उसके हाथ से मरकर नरक में जाना नहीं चाहता। वह तो राम के हाथ मरना और फलतः स्वर्ग को प्राप्त करना चाहता है। यही क्रम बराबर बना रहता है। जिसकी सहायता वह किसी प्रपंच में चाहता है, पा जाता है, पर उसका सच्चा सहयोग उसे नसीब नहीं होता। वह जो कुछ करना चाहता है उसमें यदि उसे किसी का विशेष योग मिलता है तो वह उसका आत्मज मेघनाद ही है। यहाँ तक कि उसका विकट भाई कुंभकर्ण भी उससे सहमत नहीं होता। हाँ, युद्ध छिड़ जाने के कारण साथ अवश्य देता है। पर उसका हृदय राम के साथ ही होता है। यही कारण है कि वह रणभूमि में प्रस्थान करते समय आए हुए विभीषण से यही कहता है—

सुनु सुत भयउ काल बस रावनु। सो किन मान अब परम सिखावनु॥
धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषनु। भयउ तात निसिचर कुलभूषन॥
बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा सुखसागर॥

बचन कर्म मन कपट तजि, भजेहु राम रनधीर।
जाहु न निज पर सूझ मोहि, भयउँ काल बस बीर॥

—लंका, ६४

उसके मंत्री, उसके कुटुंबी, उसके दूत, जो हित की बात उससे कहते हैं, उसको भी वह नहीं मानता, और अपनी ही बात पर अड़ा रहता

है। उसके मन में यह ठन चुकी है कि यदि राम नर नहीं तो उनके हाथ से मरने में गति है और नर हैं तो उन्हें चर जाने में कोई देर नहीं। हाँ, दो अवसरों पर उसकी भावना कुछ लड़खड़ा सी जाती है और वह चिंता में मग्न सा हो जाता है। एक तो जब उसके कान में यह समाचार पड़ता है कि राम ने समुद्र को बाँध लिया है तब वह घबड़ाकर विस्मय में पड़ता है और सोचता है कि इतना बड़ा कार्य राम ने योंही कर लिया! परंतु इनसे भी गहरी चोट उसे तब लगती है जब वह अंगद को पछाड़ने के लिये आप ही उठता और अंगद उसे बातों में ऐसा झटका देता है कि वह बल में ही नहीं, बात में भी उससे हार मान जाता है और ऐसा झेंपता है कि फिर कभी वह अंगद के सामने मुँह दिखाने योग्य नहीं रह जाता। रावण का इससे और अधिक पतन कहीं नहीं होता। इसके उपरांत धीरे धीरे उसका शौर्य सामने आता है और जब कोई और राम से लोहा लेने के योग्य उसके पक्ष में नहीं जाता तब ऐसा साहस, पराक्रम और शौर्य दिखाता है कि सबको मानना पड़ता है कि दशानन सचमुच दशानन है और उसने जो कुछ राम से विरोध किया था वह अपने बल पर ही। ज्यों ज्यों संग्राम गहरा होता जाता है, त्यों त्यों उसका रंग भी निखरता जाता है। होते होते रावण रणभूमि में मूर्च्छित हो जाता है तो उसका सारथी उसे ले भागता है। पर सचेत होने पर रावण उसे फटकारता है और डपट कर किस दर्प से कहता है—

सठ रन भूमि छुड़ाएसि मोही। धिग धिग अधम मंदमति तोही॥

लड़ते लड़ते जब वह जूझने को होता है तब भी उसका साहस कम नहीं होता। उसका अभिमान और भी उमंग के साथ गरज पड़ता है—

"कहाँ राम रन हतौं प्रचारी।"

सच है। राम के उस विरोधी ने अपनी आन के सामने किसी राम को कभी कुछ नहीं गिना और कहा तो यह जाता है कि उसने राम से अंत में इतना और भी कहा था कि जीते जी आपसे हमारा धाम नहीं लिया गया, पर आपके जीते जी आप से बैर कर मैं आपका धाम ले रहा हूँ। फिर बात क्या? जो हो, तुलसीदास का कथन है—

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरसे देखि संभु चतुरानन॥

भाव यह कि तुलसीदास ने रामचरितमानस में नायक तथा प्रति-नायक दोनों को ही बढ़ाया है। रावण बहुत बड़ा होकर मरा है। इतना बड़ा जितना कि उसके पहले कदापित् कभी नहीं था। उसकी वीरगति पर किसको ईर्ष्या नहीं होगी? उसका आतंक कभी पहले उतना नहीं था जितना कि मरते समय उसके दृढ़ आचार से हो गया था। उसके पक्ष के शेष पात्रों की दशा भी ऐसी है।

रामचरितमानस चरित काव्य है, उसमें चरित की प्रधानता है परंतु तुलसीदास किसी पात्र की रचना निरे प्राणी की दृष्टि से नही करते। नहीं, उनकी दृष्टि तो सदा उसके भीतर बसने वाले जीव पर रहती है जो किसी भी दशा में अपने को बड़ा बनाना चाहता और सदा सद्गति की कामना करता है। यही कारण है कि उसके पात्रों मे 'कहाँ जांईं का करीं' का संशय नहीं पनपता। सभी का कर्तव्य शीघ्र ही निश्चित हो जाता है। अतः किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में मनुष्य के शील का निदर्शन उसमे नहीं। प्राकृत हो या संस्कृत मनुष्य सभी रूपों में उसमें शिष्ट व्यक्त होता है और सभी अपने अपने धर्म मे निरत अपनी अपनी परंपरा में लीन दिखाई देते हैं। हमने अति संक्षेप में दिग्दर्शन मात्र कराने का उद्योग किया है। यदि कभी अवसर मिला तो इसका स्वतंत्र विचार कभी प्रस्तुत होगा।

५—भक्ति निरूपण

कोरे चरित को लेकर 'रामचरितमानस' की रचना नहीं हुई है। नहीं, वह तो खड़ी हुई है राम के शील और भक्ति को लेकर ही। भक्ति का प्रतिपादन 'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने किस विधि से किया है, इसको लेकर तर्क वितर्क अथवा भाँति भाँति के कुतर्क करने की आवश्यकता नहीं। तुलसीदास ने स्वयं इसको प्रत्येक सोपान के अंत में खोल दिया है। प्रथम सोपान के अंत में लिखते हैं—

भक्ति भूमि

> सिय रघुबीर बिबाहु, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
> तिन कहुँ सदा उछाहु, मंगलायतन राम जसु ॥

तात्पर्य यह कि प्रथम सोपान में जो मंगल का विधान हुआ है, उससे किसी के हृदय में, जो प्रेमपूर्वक इसका श्रवण, मनन करेगा, उत्साह उत्पन्न होगा और वह उत्साह 'रामचरित' की ओर अग्रसर करेगा। द्वितीय सोपान के अंत में कहा गया है—

> भरत चरित करि नेमु, तुलसी जो सादर सुनहिं।
> सीय राम पद प्रेमु, अवसि होइ भवरस बिरति ॥

भाव यह कि द्वितीय सोपान में जो भरत का त्याग दिखाया गया है, वह संसार से मोड़ने और राम से जोड़ने में समर्थ है। उससे राम में अनुराग उत्पन्न होगा और संसारसुख की कामना कभी न होगी। तृतीय सोपान की स्थिति यह है—

> रावनारि जसु पावन, गावहिं सुनहिं जे लोग।
> राम भगति दृढ़ पावहिं, बिनु बिराग जप जोग ॥

यहाँ इतना और भी टाँक लेना चाहिए कि यहाँ से प्रत्येक सोपान की पुष्पिका में उस सोपान का नामकरण भी हो गया है। इसका कारण यही है कि यहाँ से 'ललित' चरित का आरंभ होता है और यहीं से संशय, भ्रम और मोह के उच्छेदन का प्रबल प्रयत्न चलता है। तृतीय

सोपान का नाम है 'विमल वैराग्य संपादन' जिसका रामभक्ति से गहरा संबंध है। इसके उपरांत चतुर्थ सोपान की पुष्पिका आती है, जिसमें उक्त सोपान को 'विशुद्ध संतोष संपादन' नाम दिया गया है और उसके पाठ का फल यह बताया गया है—

भव भेषज रघुनाथ जस, सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्हकर सकल मनोरथ, सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

मनोरथ का सिद्ध होना संतोष का कारण है। उसके बिना संतोष नहीं हो सकता। 'विमल वैराग्य' और 'विशुद्ध संतोष' के उपरांत 'विमल ज्ञान संपादन' का सोपान प्रस्तुत हुआ है और उसका फल बताया गया है—

सकल सुमंगल दायक, रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव, सिंधु बिना जलयान॥

ज्ञान से मुक्ति का जो संबंध है, उसको सभी लोग जानते हैं, पर रामचरितमानस का लक्ष्य केवल भवसिंधु को पार करना ही नहीं, अपितु कुछ और भी है। अतएव

समर विजय रघुबीर के, चरित जे सुनहिं सुजान।
विजय बिवेक बिभूति नित, तिन्हहिं देहिं भगवान॥

इस विवेक की जीवन में बड़ी प्रतिष्ठा है और है ज्ञान के क्षेत्र में भी इसकी बड़ी आवश्यकता। ज्ञानी को विवेक मिला तो वह विज्ञानी हो गया और इस सोपान का नाम हुआ 'विमल विज्ञान संपादन'। अब जो कुछ शेष रहा वह है क्या? यही न—

मो सम दीन न दीन हित, तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंस मनि, हरहु बिषम भव भीर॥

अस्तु, इसका नाम हुआ 'अविरल हरि भक्ति संपादन'। 'अविरल' क्यों? इसका रहस्य तुलसी की भक्ति में छिपा है। स्मरण रहे, रघुवंशमणि से विषम भवभीर हरने को कहा गया है, कुछ पर धाम देने को नहीं। तुलसीदास की खुली घोषणा भी यही है—

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञान भक्ति प्रदं।
मायामोहमलापहं सुविमल प्रेमाम्बुपूरं शुभम्॥
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये।
ते संसार पतंग घोर किरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः।

रामचरितमानस के अंत में जो आश्वासन दिया गया है वह संसार की पीड़ा तथा दाह से मुक्त होने का तो है ही साथ ही इतना और भी जान लें कि वह माया मोह से परे विमल और प्रेमरस से परिपूर्ण भी है।

तुलसीदास ने इसी को व्यक्त करने के विचार से 'विमल', 'विशुद्ध' और 'अविरल' का प्रयोग उक्त सोपानों के साथ प्रसंगानुसार किया है। रामचरितमानस की यह विशेषता है कि इसके भक्तिसंपादन में जो विमलता, जो विशुद्धता और जो अविरलता है वह अन्यत्र नहीं। इसमें सभी कुछ विमल और विशुद्ध है और है अति घना भी—घनत्व को लिए हुए भी। रामचरितमानस का यही प्रतिपाद्य विषय है और है ऐसा ही रामचरितमानस में रामभक्ति का प्रतिपादन भी।

भक्ति प्रतिपादन

रामचरितमानस में जिस रसविशेष की चर्चा हुई है उसमें निमग्न होने के हेतु जो घाट और सोपान बने हैं उनके बारे में पहले भी कुछ कहा जा चुका है। रामचरितमानस के सप्त सोपान भक्तिमार्ग की सप्त भूमियाँ हैं। इन भूमियों के विषय में तुलसीदास ने स्वयं ही बहुत कुछ कह दिया है और अंत में यह भी दिखा दिया है कि वह अनुपम भक्तिरस किस प्रकार प्राप्त होता है, जो जीव के परम कल्याण और जगत् के परम हित का कारण होता है। तुलसीदास ने भक्ति का निरूपण भाँति भाँति से किया है। सुभीते के लिये हम कह सकते हैं कि तुलसीदास ने प्रकट, प्रत्यक्ष और परोक्ष तीनों रूपों में भक्ति को दृढ़, व्यापक, सहज और सुबोध बनाया है। तुलसीदास को इतने से ही संतोष नहीं होता कि स्वयं शंकर और कागभुसुंडि उसका निरूपण करते हैं और बहुत से ऋषि, मुनि तथा देवादि भी आ आकर राम की वंदना और अपने भक्तिभाव का परिचय देते हैं। नहीं, उन्हें तो इसको सुचारु रूप से जमाने के लिये यह भी अनिवार्य दिखाई देता है कि स्वयं राम भी अपने श्रीमुख से प्रकट रूप में कुछ कह दें जिसकी भक्ति के लिये हम अग्रसर होते हैं। यही कारण है कि मानस के राम स्वयं लक्ष्मण को इसका रहस्य समझाते हैं और शबरी पर भी अपना भाव प्रकट कर देते हैं। राम ने अति संक्षेप में लक्ष्मण से जो कुछ कहा है वही तुलसीदास का इष्ट मत समझना चाहिए। लक्ष्मण का प्रश्न है—

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥
कहहु ज्ञान विराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥

ईश्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहौ समझाइ।
जाते होइ चरन रति, सोक मोह भ्रम जाइ॥

—अरण्य,

और राम का समाधान है—
थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लोग मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचै जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥
ज्ञान मान जहँ एकउ नाही। देख ब्रह्म समान सब माही॥
कहिअ तात सो परम विरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

माया ईस न आपु कहुँ, जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्व पर, माया प्रेरक सीव॥

धर्म ते विरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना।
जा तें वेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान विग्याना॥
भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला॥

अब तक तो भक्ति के स्वरूप का बोध कराया गया। अब भक्ति साधन को लीजिए—

भगति के साधन कहौ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
येहि कर फल पुनि विषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भगति दृढाहीं। मम लीला रति अति मनमाही॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिं कहँ जानै दृढ सेवा॥

मम गुन गावत पुलक सरीरा । गद्गद् गिरा नयन बह नीरा ॥
काम आदि मद दंभ न जाके । तात निरंतर बस मैं ताकें ॥

बचन करम मन मोरि गति, भजनु करहिं निहकाम ।
तिन्हके हृदय कमल महुँ, करौं सदा बिश्राम ॥

—अरण्य, ६-१०

संक्षेप में, यही तुलसी का भक्तियोग है। इसमें जो साधना की बात कही गई है उसको शबरी के प्रसंग में भी देख लेना चाहिए। वहाँ श्री राम का यही कहना है कि बस, भक्ति का नाता ही परम नाता है और नवधा भक्ति का रूप है—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥

गुर पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुन गन, करै कपट तजि गान ॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा । पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा । निरत निरंतर सज्जन धरमा ॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा । मो तें संत अधिक करि लेखा ॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा । सपनेहु नहिं देखइ पर दोषा ॥
नवम सरल सब सन छलहीना । मम भरोस, हिय, हरष न दीना ॥
नव महुँ एकौ जिन्हके होई । नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें । सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥

—अरण्य, २६-३०

ध्यान देने की बात है कि यहाँ नव में से एक भी राम का कृपापात्र बनाने में पर्याप्त है। किंतु साधना सभी प्रकार से सफल उसी की समझी जाएगी जिसमें सभी गुण विद्यमान हैं। शबरी को जो उपदेश दिया गया है उसमें विप्र-पूजा का निर्देश नहीं, वह तो मनुष्यमात्र के लिये विहित है। हाँ, लक्ष्मण के समाधान में विप्रपूजा अवश्य है, कारण कि वह वर्णाश्रम के अनुयायी हैं। हाँ, तो अवश्य ही राम ने इस प्रकार भक्ति के स्वरूप, उसके साधन और उसके प्रकार को सब पर विदित कर दिया है। लक्ष्मण से राम ने जिस हृदयकमल में सदा

राम वास

विश्राम करने की बात कही है वह कुछ पहले भी आ चुकी है। वाल्मीकि राम से हँस कर कहते हैं—

जिन्हके श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरंतर होहि न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे।
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरसि जलधर अभिलाषे।
निदरहि सरित सिंधु सर भारी। रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी।
तिन्हके हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक।

जस तुम्हार मानस बिमल, हँसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ, राम बसहु हिय तासु॥

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा।
तुम्हहिं निवेदित भोजनु करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेखी।
कर नित करहि राम पद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा।
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं।
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेंवाइ देहिं बहु दाना।
तुम्हतें अधिक गुरहिं जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी।

सब करि माँगहि एकु फलु राम चरन रति होउ।
तिन्हके मन मंदिर बसहु, सिय रघुनन्दन दोउ।

काम क्रोध मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा।
जिन्हके कपट दंभ नहिं माया। तिन्हके हृदय बसहु रघुराया।
सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहि छाँड़ि गति दूसर नाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥
जननी सम जानहिं पर नारी। धनु पराव बिष तें बिष भारी॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी॥
जिन्हहिं राम तुम प्रान पियारे। तिन्हके मन सुभ सदन तुम्हारे॥

स्वामि सखा पितु मातु गुर। जिन्हके सब तुम तात॥
मनमंदिर तिन्हके बसहु। सीय सहित दोउ भ्रात॥

अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। बिप्र धेनु हित संकट सहहीं॥
नीति निपुन जिन्हकै जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥

जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदनु सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥
सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा॥

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु मन, सो राउर निज गेहु॥

—अयोध्या, १२८-१३१

वाल्मीकि ने राम से जो कुछ कहा है, वह भक्त के आचारविचार बातव्यवहार और भावभजन को लक्ष्य कर ही कहा है। 'विनय-पत्रिका' में तुलसीदास ने किस प्रकार अपने आपको इसका अधिकारी बनाया है, इसका विचार यहाँ न होगा। यहाँ तो 'मानस' के प्रसंग में कहा केवल इतना ही जायगा कि राम का सुखद और इष्ट सदन है वही, जिसका उल्लेख तुलसी ने इस प्रकार किया है—

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥

हाँ, इस 'चातक' को यदि आपने समझ लिया तो तुलसी को परख लिया। इसको एकत्र देखना हो तो 'दोहावली' के 'चातक-चौतीसा' का मनन करें और देखें कि तुलसीदास किस चातक को क्यों अपना आदर्श बनाते हैं और क्यों उसकी भावना को सर्वथा अपनाना चाहते हैं। कहते हैं—

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम-घनस्याम-हित, चातक तुलसीदास॥

—दोहावली, २७७

राम ने प्रकट रूप में भक्तियोग की जो व्याख्या की उसको और भी अधिक हृदयंगम करने की दृष्टि से अच्छा होगा कि हम राम के स्वरूप को भी कुछ और ठिकाने से जान लें।

सगुण और निर्गुण तुलसीदास ने इसीसे इसको आदि और अंत में उभय प्रकार से सविस्तर दिखाया है। आदि में शंकर पार्वती से बड़ी दृढ़ता से कहते हैं —

अस निज हृदय बिचारि, तजु संसय भजु रामपद।
सुनु गिरिराज कुमारि, भ्रम तम रविकर बचन मम॥

सगुनहिं अगुनहिं नहि कछु भेदा। गावहि मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहि तहँ मोह निसा लवलेसा॥
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
हरष विषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रगट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ॥

—बाल, १२०-२१

इस 'प्रकाश' रूप भगवान् को जीव क्यों नहीं देख पाता और क्यों इसके संबंध में नाना प्रकार का कुतर्क किया करता है इसका भी कुछ कारण है और कारण है राम की अकृपा ही। परिणाम यह होता है कि—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहि जड प्रानी॥
जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहि कुबिचारी॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ॥
उमा राम विषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥
विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥

—बाल, १२२

माया के प्रताप से यह सब कुछ होता है। माया सत्य नहीं है पर उसी प्रकाशक राम के प्रकाश के कारण वह प्रकाशित हो उठती है और उसमें मोह के कारण सत्य का आरोप हो जाता है। जहाँ जग इस रूप में आँखों के सामने आया कि जीव उसकी आभा में उलझ गया और फिर उसी में मग्न हो अपने सच्चे स्वरूप को भुला विपदा में फँस गया। उसका उद्धार यदि हुआ तो उसी प्रकाशक की कृपा से, जिसके संबंध में वेद भी अपनी मति के अनुसार कुछ निषेधरूप में ही कहता है—

माया

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥
ज्यौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान॥

—बाल, १२३

वेद 'मति' की बात कहता है और शंकर अनुभूति को प्रकट करते हैं। शंकर की भाँति ही कागभुसुंडि भी आपबीती सुनाते और गरुड़ से खुलकर कह जाते हैं—

प्रतिपादन विधि

असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहन जन सुखकारी॥
जे मति मलिन बिषय बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥

नयन दोष जा कहुँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह सोई॥
जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उएउ दिनेसा॥
नौकारूढ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परसपर मिथ्यावादी॥
हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहु नहिं अग्यान प्रसंगा॥
माया बस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अग्यान राम पर धरहीं॥

काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ परे तम कूप॥
निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहि कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

—उत्तर, ७३

कागभुसुंडि के इस कोप को आप तभी समझ सकते हैं जब आप यह भी समझ लें कि भक्त भगवान् की निंदा नहीं सुन सकता। यदि उसका हाथ चलेगा तो वह निंदक की जीभ काट लेगा। अन्यथा कान मूँदकर दूर निकल जायगा। यही तुलसी का पक्ष है। इसे तुलसी की कट्टरता कहिए, तन्मयता कहिए, अनन्यता कहिए, जो चाहिए सो कहिये, पर तुलसी की भक्तिभावना है ऐसी ही—दृढ़, अचल और निर्मम। कागभुसुंडि ने निर्गुण रूप को अति सुलभ कहा है। था भी उस समय वह ऐसा ही। जिसमें कोई गुण नहीं वह भी निर्गुण का बाना धारण कर इधर उधर उपदेसता फिरता था। सगुण का जानना कठिन है। उसको कोई जानता ही नहीं। गुण की परख भी तो गुणी को ही होती है। किंतु सबसे विलक्षण स्थिति है चरित की। वह सुगम भी है, अगम भी है और है ऐसा विचित्र कि उसको सुनकर मुनिमन भी भ्रम में पड़ जाता है। उस भ्रम का कारण है माया का प्रसार।

राम की माया सबको नचाती रहती है। उसकी वहीं नहीं चलती जहाँ कि भक्ति का निवास होता है। कारण यह कि वह नर्तकी ठहरी।

भक्ति की प्रभुता

उसकी रामप्रिया भक्ति के सामने कब चल सकती है? उसकी आवश्यकता तो मनोरंजन विनोद, कौतुक अथवा लीला के लिये ही है। हृदय रमाने अथवा विश्राम पाने के लिये वह नहीं—

माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारिवर्ग जानैं सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगतिहिं सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जचहिं भगति सकल सुखखानी॥

—उत्तर, ११६

माया

यह नर्तकी माया के रूप में राम के नाट्य में योग देती है और अविद्या के रूप में जीव को नाना प्रकार का नाच नचाती है; पर जहाँ जीव भक्ति की गोद में गया तहाँ वह अपना रूप बदल देती है और विद्या के रूप में धाय का काम करने लग जाती है। जो पहले बाधक थी वही अब साधक बन जाती है। ऐसी स्थिति में यह जीव की मूढ़ता नहीं तो और क्या है कि वह अपने को बंधन में देखता और उससे मुक्त होने का उपाय रचता फिरता है? उसको यह नहीं सूझता कि माया से मुक्त होना उसी के हाथ में है। वह अपने हृदय में है। वह अपने हृदय में भक्ति को स्थान दे तो उसको मुक्ति की भी चिंता न रहे और वह राममय होकर माया को भी अपना अंग बना ले। क्योंकि उसकी स्थिति है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।
सो माया बस भयउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।

कीर और मरकट भ्रम और लोभ में पड़कर किस प्रकार अपने को विवेकशून्य हो बँधा हुआ मान लेते हैं, इसको कोई भी देख सकता है। यदि बंदर अपनी मुट्ठी को खोल दे और माया के फेर में न रहे तो वह उससे मुक्त हो स्वच्छंद विचर सकता है और यदि कीर भी नली को अपने हाथ से छोड़ दे, उलट जाने पर भी उसको और दृढ़ता से न गहे तो वह भी जहाँ चाहे फुर से उड़कर विहार कर सकता है; परंतु नहीं, माया के प्रपंच में पड़कर दोनो ही ऐसा नहीं कर पाते और फिर शीघ्र ही सचमुच बंधन में आ जाते हैं। यही दशा मायाग्रस्त जीव की भी है।

अच्छा तो इस मायाकृत अंधकार को दूर करने का सुगम उपाय है भक्तिमणि के प्रकाश को प्राप्त करना, जिसकी विधि है—

पावन पर्वत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मरमी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥

—उत्तर, १२०

भक्ति की ओर मुड़ने के लिये मानस रोग से मुक्त होना भी आवश्यक है। उसका विधान है—

सद्गुरु बेद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवनि मूरी। अनूपान श्रद्धा अति रूरी॥
यहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहि त जतन कोटि नहि जाही॥

तुलसीदास ने भक्तियोग का जो प्रतिपादन इस प्रकार किया है, उससे प्रकट होता है कि तुलसीदास ज्ञान के विरोधी नहीं। तुलसी ज्ञान के महत्व को मानते हैं और उसे भक्ति का अनिवार्य अंग भी बताते हैं। यह भी नहीं कि तुलसी ज्ञान को मोक्ष का साधन ही न समझते हों। नहीं, उन्होने ज्ञान को मोक्षप्रद माना भी है और उसको भक्ति के समान ही भवखेद के नाश का कारण भी कहा है, किंतु साथ ही तुलसी उसकी कठिनाई को भी जानते हैं और इसी से ज्ञानदीपक का सांग रूपक भी सबके सामने रख देते हैं, जिससे लोग उसकी सूक्ष्मता, कठिनता और क्षणभंगुरता को समझ ले। तुलसी ने लोमश ऋषि की कथा को बड़े ही ढंग से लिया है। भूलिए नहीं, लोमश ऋषि रामचरितमानस के ज्ञाता और वक्ता कागभुसुंडि को उसका बोध कराते हैं, पर साथ ही ज्ञानमार्ग के भी पंडित भी एक ही हैं। अतः जब देखते हैं कि यह ब्राह्मण बहुत ही विज्ञ और निपुण है तब उसे ज्ञानमार्गी उपदेश देने में मग्न होते हैं। उधर ब्राह्मण बालक को भक्ति का हठ है। वह किसी दशा में भी ज्ञान को भक्ति से बढ़कर नहीं देख सकता। परिणाम यह होता है कि वह निर्गुण का खंडन और सगुण का मंडन करने लगता है। होते होते हुआ यह कि ऋषि क्रोध में आ गए और उनका सारा ज्ञान जाता रहा। उन्होने ब्राह्मण को शाप दिया और वह हो गया ब्राह्मण से काग। देखिए उस ब्राह्मण बालक की चिंता है—

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अग्यान।
माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान॥

—उत्तर, १११

तुलसी आज भी इसका उत्तर चाहते हैं और अपनी ओर से कहा यह चाहते हैं—

उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध॥

—उत्तर, ११२

भक्ति

निश्चय ही तुलसी भक्तियोगी हैं, ज्ञानयोगी कदापि नहीं; पर तुलसी का भक्तियोग वास्तव में वह योग है जिसमें ज्ञान का सारा प्रसार समा जाता है और वह किसी प्रकार भक्ति का विरोध नहीं कर पाता। रामचरितमानस के जितने पात्र हैं, जिस दशा में हैं, इस भक्ति से प्रभावित हैं। भाव चाहे प्रेम का हो चाहे वैर का, पर है भक्ति ही का।

दर्शन

रामचरितमानस में जो अद्वैत की पदावली दिखाई देती है और जो अद्वैत का पक्ष व्यक्त होता है उसका कारण है अद्वैतियों का भी भक्ति का प्रतिपादन करना। अद्वैती भक्ति का विरोधी नहीं, उसका पोषक होता है। यह बात दूसरी है कि वह उसको ज्ञान से अल्प समझता है। अतएव मानना ही होगा कि तुलसीदास ने जो मानसरूपक में 'भगति निरूपण बिबिध बिधाना' की प्रतिज्ञा की है उसको सभी प्रकार से मानस में निभाया भी है।

हाँ, ब्रह्म, जीव और माया को तुलसी ने 'मानस' में प्रस्तुत के साथ ही साथ कहीं कहीं अप्रस्तुत के रूप में भी लिया है—राम को ब्रह्म, लक्ष्मण को जीव और सीता को माया के रूप में देखा है। तो भी तुलसीदास की दृष्टि जितनी राम पर रही है उतनी माया पर नहीं। फिर भी उन्होंने माया के बारे में कहा बहुत कुछ है। तुलसीदास ने जीव, जगत् और ईश्वर की त्रयी को न लेकर जीव, माया और ब्रह्म की त्रयी को ग्रहण किया है और लक्ष्मण, सीता तथा राम के रूप में जहाँ

वहाँ 'मानस' में इसका निर्देश भी किया है। यदि 'मानस' में लक्ष्मण अनंत के अवतार नहीं कहे जाते तो उनको जीव का प्रतीक मानने में कोई बाधा नहीं पड़ती। सो भी जैसे ब्रह्म होने पर भी राम के नरत्व में कोई अड़चन नहीं बताई जाती, वैसे ही लक्ष्मण के अनंत होने पर भी उनके जीवन में कोई अड़चन क्यों देखी जाय और क्यों न उनको जीव का रूप ही समझा जाय?

जीव और ब्रह्म की अपेक्षा तुलसी का मायाविचार ही अधिक गूढ़ है, उसी के चक्कर में लोग रहते और अधिक से अधिक अपना ज्ञान दिखाते हैं। फलतः तर्क वितर्क भी कुछ कम नहीं होता। सहायता के लिये जब वे तुलसीदास के अन्य ग्रंथों को हाथ में लेते हैं तब उनकी दृष्टि 'विनय पत्रिका' के इस पद पर सहसा जा अटकती है और बुद्धि बड़ी तत्परता से कुछ मथ निकालना चाहती है। अच्छा तो तुलसीदास का वह प्रसिद्ध पद है—

केसव कहि न जाइ का कहिए?
देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे॥
रबिकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि पाहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥

—विनयपत्रिका, १११

तुलसीदास ने इस पद में सत्य, झूठ और दोनों की प्रबलता से अलग रहकर आत्मतत्व में लीन होने का उपदेश दिया है। यह तो ठीक ही है। परंतु देखना यह चाहिए कि इन तीनों में से तुलसीदास किसको मुख्य समझते थे। तुलसीदास अपनी स्थिति को आप ही स्पष्ट कर देते हैं—

हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी।

—विनयपत्रिका, १२०

प्रपंच है तो मृषा, किंतु जो तापों का अनुभव हमें प्रतिक्षण हो रहा है वह नष्ट कैसे हो। तुलसी का निष्कर्ष है—

हे हरि यह भ्रम की अधिकाई।
देखत सुनत कहत समुझत संसय संदेह न जाई॥
जौ जग मृषा ताप त्रय अनुभव होहि कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृगबारि सत्य, भ्रम तें दुख होइ बिसेखे॥
सुभग सेज सोवत सपने बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव कोउ जब लगि आपु न जागै॥
अनबिचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी।
सम संतोष दया बिबेक ते व्यवहारी सुखकारी॥
तुलसिदास सब बिधि प्रपंच जग जदपि झूठ स्रुति गावै।
रघुपति भगति संत संगति बिनु को भवत्रास नसावै॥

—विनयपत्रिका, १२१

यदि तत्वदृष्टि से देखा जाय तो इसमें तुलसीदास ने अपने पक्ष को खोल कर रख दिया है। 'जदपि झूठ स्रुति गावै' से स्पष्ट है कि तुलसीदास परमार्थतः विधिप्रपंच अथवा संसार को झूठ ही मानते हैं; परंतु वह उसकी मीमांसा में मग्न नहीं होते। कारण यह कि उसकी मीमांसा से भ्रम दूर नहीं होता। उससे तो संशय और संदेह की उलझन भी नहीं जाती। अतः इस भवजाल से मुक्त होने का मार्ग कुछ और ही है। तुलसीदास इतना और भी कहते हैं कि संसार उसी को शून्य दिखाई देता है जिसमें विचार का अभाव है। विचारशील व्यक्ति को तो संसार बहुत भयंकर प्रतीत होता है। हाँ, इस संसार में इतनी विशेषता अवश्य है कि जो व्यक्ति इस व्यवहार को सम, संतोष, दया और विवेक की दृष्टि से देखता है, उसको इसमें सुख की प्राप्ति भी हो जाती है, पर इसका त्रास नष्ट नहीं हो पाता। वह तो वस्तुतः राम की भक्ति और संत की संगति से ही नष्ट होता है। निदान—

मै तोहि अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहि मोहिं हरि के बल प्रगट कपट आगार॥
देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि किए विचार।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार॥
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायो पार।

महामोह मृगजल सरिता महँ बोर्यो हौं बारहि बार ॥
सुनु खल, छल बल कोटि किए बस होहि न भगत उदार।
सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार ॥
तासो करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार।
सो परि डरै मरै रजु अहि तें बूझै नहिं व्यवहार ॥
निज हित सुनु सठ, हठ न करहि जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभु के दासन तजि भजहि जहाँ मद मार ॥

—विनयपत्रिका, १८८

तुलसीदास ने संसार को जो चुनौती दी है और उस पर नंदकुमार की जो धौंस जमाई है वह तो साहित्य की बात हुई। दर्शन के क्षेत्र में भी इस 'व्यवहार' से सिद्ध हो जाता है कि तुलसीदास भी स्वामी शंकराचार्य के परमार्थ और व्यवहार को ठीक समझते थे। तुलसीदास ज्ञान के क्षेत्र मे उनसे कुछ अलग हो जाते हैं। उनकी दृष्टि व्यवहार पर ही अधिक है और उनको ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का पक्ष ही सरस, सुबोध, व्यापक और परिपुष्ट दिखाई देता है।

संसार चित् का विलास है तो इसका सच्चा स्वरूप भी उसी चित्त में भासित होता है, जो राम की भक्ति से स्वच्छ, निर्मल और प्रसन्न हो चुका है। तुलसीदास इस मन की रचना को बड़े ढंग से समझाते हैं। देखिए वस्तुस्थिति क्या है और उसमें मन का हाथ कितना है। कहते हैं—

मन

जौं निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख, संसय, सोक अपारा ॥
सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरिआई।
त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाई ॥
असन, बसन, बसु, बस्तु बिबिध बिधि सब मन महँ रह जैसे।
सरग, नरक, चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे ॥
बिटप मध्य पुत्रिका, सूत्र महँ कंचुक बिनहि बनाए।
मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत अवसर पाए ॥

रघुपति भगति बारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद बिलास जग बूझत बूझत बूझै॥

—विनयपत्रिका, १२४

मन की बात मन में बैठ सकती है, पर हमारा उद्धार तो तभी हो सकता है जब हम इस मन को अपने अधीन कर लें। इसके निमित्त संन्यास सबको सस्ता दिखाई देता है, पर तुलसीदास इससे दूर ही रहना चाहते हैं। कारण कि वह चट बने ठने संन्यासियों के कर्मों से भलीभाँति परिचित हैं और यह भी प्रत्यक्ष देखते रहते हैं कि इसके कारण संसार में कैसी घोर अव्यवस्था फैलती जाती है। कहने को तो सभी ब्रह्म बन बैठे हैं, पर दृष्टि लगी रहती है सदा सब की दाम पर ही। इसी से तुलसीदास का अंतिम निश्चय है—

नाहिंन आवत आन भरोसो।
यह कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम फलनि फरो सो॥
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो।
पाएहि पै जानिबो करम फल, भरि भरि वेद परोसो॥
आगम बिधि, जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन, रोग बियोग धरो सो॥
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ग्यान बिराग हरो सो।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥
बहु मत सुनि बहु पंथ पुरानिन जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो।
राम नाम बोहित भवसागर, चाहै तरन तरो सो॥

—विनयपत्रिका, १७३

तुलसीदास ने जिस रामभजन को राजमार्ग कहा है, वस्तुतः वह है क्या? रामभजन को लेकर जो कबीर आदि निर्गुण संत चले थे वह तो राजमार्ग नहीं था। वह तो 'कल्पहिं पंथ अनेक' का ही परिचायक था। वह 'श्रुतिसंमत' तो नहीं और चाहे जो रहा हो। तुलसीदास ने जिस रामभजन को लिया है वह सबका जाना सुना और मनभाया हुआ भी है। उसमें सभी साधनों का सार और सभी इंद्रियों का प्रबंध

राजमार्ग

भी है। उस राम में रम जाना कितना सहज, सरल और सुबोध है, इसको वही जान सकता है जो रामचरित को श्रद्धा की दृष्टि से देखता और भक्ति के कान से सुनता है। तुलसीदास का परम आदेश तो यह है—

जौ मन भज्यौ चहै हरि सुर तरु।
तौ तजि बिषय बिकार, सार भजु, अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु॥
सम, संतोष, बिचार बिमल अति, सतसंगति, ए चारि दृढ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु॥
स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयनन निरखि कृपा समुद्र हरि अग जग रूप भूप सीताबरु॥
इहै भगति बैराग्य ग्यान यह हरि तोषन यह सुभ ब्रत आचरु।
तुलसिदास सिव मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु॥
—विनयपत्रिका, २०५

तुलसीदास का शिवप्रतिपादित, कल्याणकारी राजमार्ग आपके सामने आ गया। आप उस पर अभी ठीक ठीक चल नहीं सकते। कारण यह कि इसमें 'सेवा कर अनुसरु' का विधान भी है, जिसको समझाने में अभी कुछ कठिनाई भी होगी। 'सेवा कर' का सीधा अर्थ हुआ--हाथ से सेवा करो और 'अनुसरु' का अर्थ हुआ--अनुसरण करो। किंतु इस अनुसरण का संबंध है किससे? कर से अथवा चरण से? हमारी दृष्टि में 'सेवा कर' के द्वारा तुलसीदास ने मूर्तिपूजा को महत्व दिया है और 'अनुसरु' के द्वारा तीर्थयात्रा को। यात्रा के संबंध में तो उनका प्रत्यक्ष विषाद है—

चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे।
राम-सीय-आस्रमनि चलत त्यो भये न स्रमित अभागे॥
—विनयपत्रिका, १७०

और मूर्तिपूजा के विषय में उनका मत है—

मन, इतनोई या तनु को परम फलु।
सब अँग सुभग बिंदुमाधव छबि, तजि सुभाउ, अवलोकु एक पलु॥
तरुन अरुन अंभोज चरन मृदु, नख-दुति हृदय-तिमिरहारी।
कुलिस-केतु-जव-जलज रेख बर, अंकुस मन-गज बसकारी॥

कनक जटित मनि नूपुर, मेखल कटितट रटति मधुर बानी।
त्रिबली उदर गँभीर नाभि-सर जहँ उपजे बिरंचि ग्यानी॥
उर बनमाल, पदिक अति सोभित, बिप्रचरन चित कहँ करषै।
स्याम-तामरस-दाम-बरन बपु पीत बसन सोभा बरषै॥
कर कंकन केयूर मनोहर, देति मोद मुद्रिक न्यारी।
गदा-कंज-दर-चारु-चक्रधर नागसुंड-सम भुज चारी॥
कंबु ग्रीव छबि सींव चिबुक द्विज अधर अरुन उन्नत नासा।
नव राजीव नयन, ससि आनन, सेवक सुखद बिषद हासा॥
रुचिर, कपोल, स्रवन कुंडल, सिर मुकुट, सुतिलक भाल भ्राजै।
ललित भ्रकुटि, सुंदर चितवनि; कच निरखि मधुप अवली लाजै॥
रूप सील गुन खानि दच्छ दिसि सिंधु सुता रत पदसेवा।
जाकी कृपा कटाच्छ चहत सिव बिधि मुनि मनुज दनुज देवा॥
तुलसिदास भव त्रास मिटै तब जब मति यहि सरूप अटकै।
नाहिंत दीन मलीन हीन सुख, कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भटकै॥

—विनयपत्रिका, ६३

तुलसीदास ने यहाँ इस बात का उल्लेख नहीं किया कि लोग किस प्रकार बिंदुमाधव की पूजा करते हैं। उनका ध्यान तो बस इस पर रहा है कि बिंदुमाधव किस प्रकार किसी हृदय में घर कर जाते हैं और उसकी बुद्धि उसके स्वरूप में रम जाती है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि तुलसीदास मूर्तिपूजा को ठीक नहीं समझते। नहीं, उनकी दृष्टि में मूर्तिपूजा की उपयोगिता है और उपयोगिता है मूर्ति की भी। मूर्ति की छटा तो आपके सामने आ ही गई, पर मूर्तिपूजा का रहस्य अभी आप पर नहीं खुला। सो इसका भेद भी कुछ खोल लेना चाहिए। तुलसी का एक दोहा है—

मूर्तिपूजा

अपनो एपन निज हथा, तिय पूजहिं निज भीति।
फलै सकल मन कामना, तुलसी प्रीति प्रतीति॥

—दोहावली, ४५४

तुलसीदास ने इसी 'प्रीतिप्रतीति' में सब कुछ कह दिया है। जिसकी जैसी प्रीतिप्रतीति होगी, उसको वैसा ही फल भी प्राप्त होगा।

पत्थर की पूजा चली ही क्यों ? इसी प्रीतिप्रतीति के कारण तो ? तुलसी स्वयं इसे कह देते हैं--

बैरी बिदारि भये बिकराल कहे प्रह्लादहि के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तब तें सब पाहन पूजन लागे॥

—कवितावली, उत्तर, १२८

और इसी से तो तुलसी को खुल कर इतना और लिखना पड़ा है कि—

अंतर्बामिहु ते बड़ बाहरजामी हैं राम जो नाम लिए तें।
धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यौ बालक बोलनि कान किए तें॥
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिये ते।
पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिये ते॥

—कवितावली, उत्तर, १२९

तुलसीदास ने रामचरितमानस में मूर्ति को हँसाया तो प्रतिमा को रुलाया भी है। पहले मूर्ति का मुसकाना देख लीजिए—

बिनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसकानी।

—बाल, २४१

रही प्रतिमा के रोने की बात, सो मंदोदरी के साथ देखिए—
दस दिसि दाह होन अति लागा। भएउ परब बिनु रबि उपरागा॥
मंदोदरि उर कंपित भारी। प्रतिमा स्रवहिं नयन मग बारी॥

—लंका, १०२

तो भी भूलना न होगा कि तुलसीदास मूर्ति पूजा को कलियुग का प्रमुख साधन नहीं मानते और इसी से कहते भी हैं—

कृतजुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि, नाम तें पावहिं लोग॥

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि करम भव तरहीं॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाउ न दूजा॥

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥
सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥

—मानस, उत्तर, १०३

नाम

तुलसी ने नाम को इतना क्यों सराहा है, इसको उन्होंने स्वयं बता दिया है। इससे इसके संबंध में अधिक छानबीन करने की आवश्यकता नहीं। हाँ, आवश्यकता है तुलसी के मन और नाम के संबंध को समझने की।

हरिभजन

तुलसीदास ने कागभुसुंडि को परम भक्त के रूप में अंकित किया है अतएव हम कह सकते हैं कि काग का हरिभजन ही तुलसी का भी इष्ट हरिभजन है—

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई। जाप जग्य पाकरि तर करई॥
आँब छाँह कर मानस पूजा। तजि हरि भजनु काज नहिं दूजा॥
बर तर कह हरि कथा प्रसंगा। आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥
राम चरित बिचित्र बिधि नाना। प्रेम सहित कर सादर गाना॥

—मानस, उत्तर, ५७

यह तो हुआ तुलसीदास का शाश्वत हरिभजन। अब इस समय, इस घोर कलिकाल में करना क्या चाहिये, यदि इसे तुलसी के मुँह से सुनना है तो इसे भी सुनें—

बीर महा अवराधिये साधे सिधि होय।
सकल काम पूरन करै, जानै सब कोय॥
वेगि, बिलंब न कीजिए, लीजै उपदेश।
बीज मंत्र जपिए सोई, जो जपत महेश॥
प्रेम बारि तर्पन भलो, घृत सहज सनेहु।
संसय समिधि, अगिनि छमा, ममता बलि देहु॥
अघ-उचाटि, मन बस करै, मारै मद-मार।
आकरषै सुख-संपदा-संतोष-बिचार॥

जे यहि भाँति भजन किए, मिले रघुपति ताहि।
तुलसिदास प्रभु पथ चढ्यो, जो लेहु निबाहि॥

—विनय, १०८

और इस भावभजन किंवा 'मानस-पूजा' की आरती है—

ऐसी आरती राम रघुवीर की करहि मन।
हरन दुख द्वंद गोविंद आनंद घन।
अचर-चर-रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत, इति वासना-धूप दीजै।
दीप निज-बोध गत क्रोध मद मोह तम- प्रौढ़ अभिमान चित्तवृत्ति छीजै॥
भाव अतिसय बिस-प्रदवर नैवेद्य सुभ श्रीरमन परम संतोष कारी।
प्रेम तांबूल, गतसूल संसय सकल, बिपुल-भववासना-बीज-हारी॥
असुभ सुभकर्म घृत-पूर्न दस वर्तिका, त्याग पावक, सतोगुन-प्रकास।
भगति वैराग्य-विग्यान-दीपावली अर्पि नीराजनं जग निवासं॥
विमल हृदि-भवन कृत साति-परजंक सुभ, सयन बिस्राम श्रीराम राया।
छमा करुना प्रमुख तत्र प्रचारिका, यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया॥
एहि आरती निरत सनकादि-स्तुति सेष-सिव देवऋषि अखिलमुनि तत्त्वदरसी।
करै सोइ तरै, परिहरै कामादि मल, बदति इति अमलमति दास तुलसी॥

—विनय, ४७

अमलमति तुलसीदास की इस आरती को देखकर आशा है बहुतों का वह भ्रम भी दूर हो जायगा जो कभी-कभी श्री रामानन्द के कुछ पदों को देखकर उत्पन्न हो जाता है। रामानंद भी इस प्रकार की मानस-पूजा के पक्षपाती थे; इसमें संदेह नहीं और उनकी इसी मानस-पूजा को लेकर जो हिंदी का निर्गुण संत संप्रदाय खड़ा हो उठा तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। निर्गुण संतों की जो योग्यता, रुचि और रुझान थी, उसको देखते हुए और देश-काल की प्रेरणा पर ध्यान रखते हुए यह जान लेना कठिन नहीं कि क्यों हिंदी का निर्गुण संत संप्रदाय सगुण का कुछ विरोधी होकर चला और क्यों कुछ सूफी संतों ने दाशरथि राम का घोर विरोध भी किया। उस समय की इसलामी कट्टरता मूर्ति के विरोध में बहुत कुछ मनमानी कर रही थी और परमार्थ दृष्टि से मूर्ति को बहुत महत्त्व वैष्णवों में भी कभी नहीं दिया गया था। उसे अर्चावतार के रूप में साधना का अंग माना अवश्य

गया था, पर अनिवार्य रूप में नहीं, सहायक के रूप में ही। उसका महत्त्व तभी तक था जब तक मन इष्टदेव में रम नहीं जाता। हाँ, लोक की दृष्टि से बहुत से सिद्ध भी इस साधना में लगे रहते हैं और इसको इसलिये करते रहते हैं कि जन-सामान्य की रुचि इधर हो, अन्यथा तुलसी का पक्ष है यही—

देखु राम-सेवक, सुनु कीरति, रटहि नाम करि गान गाथ।
हृदय आनु धनु-बान-पानि प्रभु, लसे मुनिपट कटि कसे भाथ॥

—विनय, ८४

'विग्रह' के रूप में तुलसीदास बिंदुमाधव के भक्त थे, यह हम पहले देख चुके हैं। वे कहते हैं—

विग्रह

तुलसिदास भवत्रास मिटै तब, जब मति इहि सरूप अटकै।
नाहिंत दीन मलीन हीन-सुख कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भटकै॥

—विनयपत्रिका, ६३

'जब मति यहि सरूप अटकै' से प्रकट ही है कि तुलसीदास यहाँ भी स्वरूप में ही मति को लीन करना चाहते हैं, कुछ पूजा-विधान अथवा अर्चामात्र में नहीं। तुलसीदास के इस पद से इतना और भी विदित हो जाता है कि वे वास्तव मे यति थे। कारण, यति लोग ही इस विग्रह के प्रमुख उपासक हैं। तुलसीदास किस संप्रदाय के यति थे इसका पता भी इसके पहले के पद से हो जाता है। उसमें कहा गया है—

कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहौं समुझाई।
अलप तडित जुग रेख इन्दु महँ रहि तजि चंचलताई॥

—विनयपत्रिका, ६२

किंतु कहा जा सकता है कि यह तो बिंदुमाधव के तिलक का वर्णन है, इससे तुलसी के संप्रदाय का सीधा बोध कैसे हो सकता है। निवेदन है 'गीतावली' में भी तो तुलसी ने ऐसा ही कुछ कहा है। देखिए—

भाल बिसाल विकट भृकुटी बिच तिलक-रेख रुचि राजै।
मनहुँ मदन तम तकि मरकत धनु जुगुल कनक सर साजै॥

—उत्तर, १२

यह तो तुलसी के विग्रह का रूप हुआ। जिस अवतारी का स्वरूप तुलसीदास के सामने नित्य बना रहता था, उसका शाश्वत रूप संभवतः यह है—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

सरद मयंक बदन छबि सींवाँ। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवाँ॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधु कर निकर बिनिन्दक हासा॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥
भृकुटि मनोज चाप छबि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला। पदिक हार भूषन मनि जाला॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन सुन्दर तेऊ॥
करि कर सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा॥

तडित बिनिदक पीत पट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवर छबि छीनि॥

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥

—बालकाड, १५२

और इसी के साथ ही पूरक के रूप में इतना और भी—

बाम भाग सोभित अनुकूला। आदि सक्ति छबि निधि जगमूला॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

यह तो अवतारी राम का वह रूप हुआ, जो अवतार के रूप में प्रगट हुआ और तुलसीदास के चित्त में बसने के लिये पथिक का बाना धारण किया और साथ में अनुज लक्ष्मण को भी ले लिया। तुलसीदास के इष्टदेव यही पथिक राम हैं। और इसी त्रयी के संबंध में तुलसीदास का निष्कर्ष है—

राम बाम दिसि जानकी लषन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानकर सुरतरु तुलसी तोर॥

—दोहावली, १६

राम के रूप को तुलसी ने बहुत सराहा है। पर साधना के क्षेत्र में उन्होंने जो महत्व राम के नाम को दिया, वह उनके रूप को नहीं।

नाम माहात्म्य

देखने में तो यह बात कुछ ठीक सी नहीं जँचती कि नाम को राम से अधिक सराहा जाय, किंतु तुलसी के तर्क और विवेक के सामने सिर झुकाना ही पड़ता है। तुलसीदास ने भाँति भाँति से इसे सिद्ध कर दिखाया है कि राम का नाम राम से क्योंकर बड़ा माना जाता है। रामचरितमानस में तुलसीदास ने जो कुछ नाम और रूप का संबंध दिखाया है वह स्थिति को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। कहते हैं—

राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा॥
नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं॥

बाल०, ३०

इस विचार के साथ ही साखी के रूप में इतना और भी कह देते हैं—

ब्रह्म राम तें नाम बड़ बरदायक बर दानि॥
राम चरित सत कोटि महँ लिय महेस जिय जानि॥

किंतु यह तो सूझ और विश्वास की बात हुई। इसको विवेक का प्रसाद कैसे मान सकते हैं? निदान तुलसीदास पहले विवेक को ही लेते हैं और खुलकर सिद्ध करते हैं कि इसे प्रत्यक्ष क्यों नहीं देख लेते—

देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहि पहिचाने॥
सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेखें॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥

—वही, २६

इसी दोहरे गुण को लेकर तुलसीदास इतना और भी स्पष्ट कहते हैं—

एक दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिवेकू॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउ नाम बड़ ब्रह्म राम तें॥

—वही, २८

तुलसीदास ने अपनी समझ से नाम को ब्रह्म और राम, निर्गुण और सगुण, दोनों से बड़ा सिद्ध कर दिया, पर इससे यह तो सिद्ध नहीं हुआ कि यह राम का नाम ही है, जो सब नामों में श्रेष्ठ है। तुलसीदास ने इसको भी सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। सब तर्कों के साथ ही साथ एक ऐसा भी तर्क उपस्थित किया है जो सबकी समझ में झट से आ जाता है। राम की ध्वनि में क्या भरा है, इसकी अनुभूति सहसा किसी को नहीं हो सकती। पर इसको सभी लोग देख सकते हैं कि लेखन में रकार और मकार की स्थिति क्या होती है –

एक छत्र एक मुकुट मनि सबै बरन पर जोउ॥
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ॥

—दोहावली, २५

'र' छत्र है तो 'म' मुकुटमणि। इनके शासन को कौन नहीं मानता और कौन राम के राजा नाम से बाहर जा सकता है? निदान तुलसी की घोषणा है—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार॥
तुलसी भीतर बाहेरहु जौं चाहसि उँजियार॥

विचारने की बात है कि घर के भीतर ज्योति जगाने वाले निर्गुणी संतों ने भी राम के नाम को ही लिया है, कुछ अन्य के नाम को नहीं। तुलसीदास बाहर और भीतर दोनों को प्रकाशित करने के लिये राम नाम ही को ठीक समझते हैं और संक्षेप में सहज भाव से कह जाते हैं—

हिय निर्गुन नैनन्हि सगुन रसना राम सुनाम॥
मनहु पुरट सम्पुट लसत तुलसी ललित ललाम॥

—दोहावली, ७

इसमें भी सगुण के ध्यान में तो लोगों की सरस रुचि रही नहीं और निर्गुण मन में आ नहीं पाता। अतः विवश होकर नाम की शरण में ही जाना पड़ता है। तभी तो तुलसीदास का निश्चित आदेश है—

सगुण ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुण मन तें दूरि ॥
तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूरि ॥

—दोहावली, ८

स्मरण रहे, यह राम नाम की ही विशेषता है कि इससे दोनों पक्ष सफल हो जाते हैं और किसी की क्षति भी नहीं होती। इसकी विशेषता है—

मीठो अरु कठवति भरो रौताई अरु खेम ॥
स्वारथ परमारथ सुलभ राम नाम के प्रेम ॥

—दोहावली, १५

तुलसीदास को इस राम नाम का इतना इष्ट है कि इसके सामने वह किसी अलख को भी विशेष महत्व नहीं देते और चिढ़कर किसी अलख लखाने वाले से कहते हैं—

हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीच ॥
तुलसी अलखहि का लखहि राम नाम जपु नीच ॥

—दोहावली, १९

सच है. लखना हो तो यह देखना चाहिए कि हम क्या हैं, हमारा क्या है, और हममें और हमारे में यह संबंध कैसे बना हुआ है, और यदि जपना है तो राम नाम क्यों न जपें। भला जो दिखाई ही नहीं देता उसको देखने का स्वाँग रचना कहाँ का न्याय है? तुलसीदास को सर्वत्र राम नाम का ही प्रसार दिखाई देता है और इसी से सारा घर-बाहर सुखी होता है। उनकी दृष्टि में—

दम्पति रस रसना दसन परिजन वदन सुगेह ॥
तुलसी हरहित वरन सिसु सम्पति सहज सनेह ॥

—दोहावली, २४

इस शिशु में शक्ति भी अपार है। यह कलिकाल को क्षण में दलित कर देता है। देखिए—

राम नाम नर केसरी कनक कसिपु कलि कालु ॥
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालहि दलि सुर सालु ॥

—दोहावली, २६

फलतः —

राम नाम कलि कामतरु सकल सुमंगल कंद ॥
सुमिरत करतल सिद्धि सब पग-पग परमानंद ॥

—दोहावली, २७

यही कारण है कि तुलसीदास दृढ़ता से सीख देते हैं—

राम जपु जीह, जानि प्रीति सो प्रतीति मानि
राम नाम जपे जैहे जिय की जरनि।
राम नाम सो रहनि, राम नाम की कहनि,
कुटिल कलि मल सोक संकट हरनि ॥
राम नाम को प्रभाउ पूजियत गनराउ,
कियो न दुराउ कही आपनी करनि।
भव सागर को सेतु, कासी हूँ सुगति हेतु,
जपत सारद संभु सहित घरनि ॥
बाल्मीकि व्याध हे अगाध अपराध निधि,
मरा मरा जपे पूजे मुनि अमरनि।
रोक्यो विन्ध्य, सोख्यो सिंधु घटजहुँ नाम बल,
हार्यो हिय, खारो भयो भूसुर-डरनि ॥
नाम महिमा अपार सेष सुक बार बार,
मति अनुसार बुध वेद हूँ बरनि।
नाम रति कामधेनु तुलसी को कामतरु,
राम नाम है विमोह तिमिर तरनि।

—विनयपत्रिका, २४७

और इसी के बल पर अपने राम से भी खुलकर कहते हैं—

राम, रावरो नाम साधु सुरतरु है।
सुमिरे त्रिबिध घाम हरत पूरत काम
सकल सुकृत सरसिज को सरु है॥
लाभहू को लाभ सुखहू को सुख सरबस
पतित-पावन डरहू को डरु है॥
नीचे हू को, ऊँचे हू को, रंक हू को राव हू को
सुलभ सुखद आपनो सो घरु है॥
वेद हू, पुरान हू, पुरारि हू पुकारि कह्यो
नाम-प्रेम चारि फल हु को फरु है।
ऐसे राम-नाम सों न प्रीति न प्रतीति मन,
मेरे जान जानिबो सोई नर खरु है॥
नाम सों न मातु पितु मीत हित बंधु गुरु
साहिब सुधी सुसील सुधाकरु है।
नाम सो निबाहु नेहु दीन को दयालु देहु,
दास तुलसी को, बलि, बड़ो बरु है॥

—विनय, २५५

साधुमत

तुलसीदास के अध्ययन में इस साधु सुरतरु से विशेष सहायता मिल सकती है और कुछ साधु सज्जन इसके आधार पर बड़े अभिमान से कह भी सकते हैं कि तुलसीदास वस्तुतः साधुमत के पोषक थे, कुछ लोकमत के पुजारी नहीं। संभव है; ऐसे महानुभावों की धारणा ही सत्य हो, परंतु देखना तो यहाँ यह है कि तुलसीदास ने जो बारबार लोकमंगल का नाम लिया है उसका रहस्य क्या है और क्यों उन्होंने बारबार पथिक राम को ही अपना इष्ट बनाया है, कुछ तटस्थ राम को नहीं। तुलसीदास के किसी भी ग्रंथ का अवलोकन कीजिए, आपको स्वयं अवगत होगा कि तुलसीदास ने कहीं उसमें 'साधु' को लिया है, और कहीं 'विप्र' को और 'चरित' तो सर्वत्र है ही। तात्पर्य यह कि तुलसीदास ने 'चरित', 'विप्र' और 'संत' को ही सराहा है और इन्हीं

के द्वारा लोक तथा परलोक दोनों को ही साधा है। यह सच है कि तुलसीदास ने संत को विशेष महत्व दिया है, किंतु संत की जो कसौटी उन्होंने दी है वह लोक से उदासीन आत्मारामी मनमौजी संत की नहीं है। वह तो उसी संत की कसौटी है जो राम के चरित को अपना चरित बनाता और उनके शील, स्वभाव तथा गुण को अपनाकर अपने को लोकहित में लीन कर देता है। स्मरण रहे संत की 'रहनि' के संबंध में उनकी कामना यह है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपा ते संत सुभाव गहौंगो॥
यथा लाभ संतोष सदा काहू सो कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, परगुन, नहि दोष कहौंगो॥
परिहरि देहजनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसीदास प्रभु, यहि-पथरहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो॥

—विनय, १७२

इस पद में जो निरंतर परहित की कामना की गई है वह लोक-हित नहीं, तो और क्या है? विचारने की बात है कि स्वयं राम ने अपने श्रीमुख से जो संतगुण नारद जैसे परम भक्त से कहे हैं उनमें भी विप्र-पद-प्रेम और परहित का स्पष्ट निर्देश है। देखिए और सचेत हो सुनिए—

सुनि मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ॥
षट-विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा।
अमित-बोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कवि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धर्म गति परम प्रवीना॥

गुनागार - संसार दुख रहित विगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुं देह न गेह॥

निज गुन स्रवत सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥

जप तप व्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविंद विप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदित मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति विवेक विनय विग्याना। बोध जथारथ वेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊँ॥
गावहिं सुनहिं सदा मन लीला। हेतु रहित पर हित रत लीला॥
मुनि सुनु साधुन के गुन जेते। कहि न सकैं सारद स्रुति तेते॥

—अरण्य, ४०

साधुओं के असंख्य गुण हैं, किंतु यदि उनमें 'परहित' नहीं तो कुछ भी नहीं। कारण कि स्वयं राम की स्पष्ट घोषणा है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीडा सम नहिं अधमाई।
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥

—उत्तर, ४१

सारांश यह कि जिसमें लोकहित नहीं वह साधु नहीं चाहे जो हो। निदान मानना ही होगा कि तुलसी का साधुमत सचमुच लोकहित का प्रतिपादक है, कुछ उसका विरोधी नहीं।

———

६—मंगल विधान

तुलसीदास के संत मत को ठीक ठीक न समझने के कारण बहुत से लोग उसके संबंध में भाँति भाँति की कल्पना किया करते हैं और उनपर दोपारोपण भी कुछ कम नहीं करते।

संत मत की परख

तुलसी का संत मत लोकमत और लोकहित का प्रतिपादक है और इसी से तुलसी ने सुग्रीव और विभीषण का सत्कार किया है, कभी उनको देशद्रोही के रूप में नहीं देखा है, किंतु भायप का प्रतीक उन्हें नहीं माना, और इसके अभाव में उनको लज्जित भी कराया है। कदाचित् यही कारण है कि जब सुग्रीव और विभीषण भरत और राम को मिलते देखते हैं तब अपनी करनी से लज्जित होते और कुछ ग्लानि में गड़ से भी जाते हैं। विचार करने की बात यहाँ यह है कि क्या सुग्रीव और विभीषण राज्य के लोभ में पड़कर ही राम की शरण में गए थे? क्या वस्तुतः वे राजा बनना चाहते थे? प्रत्यक्ष है कि उनके हृदय में यह भावना कदापि न थी। सुग्रीव और बालि का संग्राम व्यक्तियों का संग्राम था। बालि ने अपना जो आतंक जमा लिया था और उसने अपने बल के दर्प में आकर जो सुग्रीव का 'सर्बस अरु नारी' तक छीन लिया था, उसमें प्रजा का कोई हाथ न था। प्रजा तो उसके प्रतिकूल ही थी। यदि ऐसा न होता तो सुग्रीव के साथ अन्य बानर भी न दिखाई देते और बालि के वध पर कोई न कोई कोलाहल भी अवश्य होता। पर ऐसा नहीं हुआ। यही बात रावण के विषय में भी कही जा सकती है। रावण ने राम से जो युद्ध ठाना था, वह देशहित अथवा जाति के कल्याण के विचार से नहीं और फलतः राम ने उस पर जो चढ़ाई की थी सो भी राज्य की प्राप्ति के लिये नहीं। राम और रावण का संघर्ष पुण्य और पाप का संघर्ष था। राजा और राजा अथवा देश और देश का द्वंद्व कदापि नहीं। यही कारण है कि रावण के पक्ष में मेघनाद के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं दिखाई देता जो सच्चे हृदय से उसका साथ देता हो। रावण अपनी स्थिति को जानता है। कुंभकर्ण जैसे वीर भाई

से भी किसी प्रकार की मंत्रणा नहीं करता। किसी से कुछ पूछता भी है तो इसी दृष्टि से कि उसकी हाँ में हाँ मिल जाय। तात्पर्य यह कि रावण का विरोध देश और जाति का विरोध नहीं अत्याचार और व्यक्ति का विरोध है। तुलसीदास ने इसी से बालिवध और रावण-बध को लोकहित के रूप में ही लिया है और इस लोक-हित को संत-मत का मुख्य अंग समझा है। राम ने रीछों और बानरों को जो अंतिम चेतावनी दी है, वह है—

अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहिं दृढ़ नेम।
सदा सर्वगत सर्वहित, जानि करेहु अति प्रेम॥

इसमें जो 'सर्वगत' के साथ 'सर्वहित' की बात कही गई है वही तुलसीदास को इष्ट है। यह 'सर्वहित' जैसे संपन्न हो वही सबका कर्तव्य है और है वही तुलसी का सच्चा साधुमत भी।

तुलसीदास की दृष्टि में संत के हृदय में द्रोह नहीं होना चाहिए। उनके समय में वेषधारी संतो में जो द्विजद्रोह प्रबल रूप में चल रहा था, उसको लक्ष्य में रखकर तुलसीदास ने अपने संबंध में स्वयं कहा है—

बिप्र-द्रोह जनु बाँट, पर्‌यो हठि सबसों बैर बढावौं।
ताहू पर निज मति बिलास सब सन्तन माँझ गनावौं॥

—विनय, १४२

तुलसी की दृष्टि में संत का विप्र से विरोध नहीं हो सकता कारण कि दोनों की दृष्टि समाज में लोकहित की ही होती है। विप्र श्रुति के आधार पर लोक हित में लीन होता है, तो संत अपनी अनुभूति के बल पर समाज में लोकमंगल का विधान करता है। किंतु इसी से संत के लिये सबसे बड़ी बात है माया से उसका सतत सतर्क रहना। कारण, उसमें माया का लेश आया भी नहीं कि उसका सहसा पतन हुआ और उसकी सारी अनुभूति किसी काम की न ठहरी। और हाँ, माया का पूरा प्रसार दिखाई देता है प्रमदा में, कनक और कामिनी में। अतः प्रमदा से संत को सदा सावधान रहना चाहिए और कनक से बचना चाहिए।

हाँ, काम और क्रोध, इन दो शत्रुओं से संत का विनाश होता है। तुलसीदास ने काम पर नारद की विजय दिखाई है और क्रोध पर काग-भुसुंडि की। नारद सबसे पहले कामजयी के रूप में सामने आते हैं, पर 'लोकमान्यता' के चक्कर में पड़कर पक्के विषयी के रूप में विश्व-मोहिनी के स्वयंवर में उतरते हैं और अपना अच्छा वानरी कौतुक दिखाते हैं। राम के प्रसाद से जब उनके हृदय से 'हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला' की भावना निकल जाती है और जब स्वयं राम उन्हें सीता के वियोग में दुखी दिखाई देते हैं, तब उनके पास पहुँचते और अच्छा अवसर हाथ लगा देखकर उनसे प्रश्न करते हैं—

काम और क्रोध

तब बिवाह मै चाहौं कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥

राम ने पहले तो ज्ञानी और भक्त का भेद बताया और फिर कहा—

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता॥
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोखै सब नारी॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इनहि हरष प्रद बरषा एका॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन कहँ सरद सदा सुखदाई॥
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहै सुख मंदा॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड रजनी अँधियारी॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥

अवगुन मूल सूल प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निबारन, मुनि मै यह जिय जानि॥

—अरण्य, ३८

संत को विवाह के फेर में क्यों नहीं पड़ना चाहिए, इसका तुलसी की ओर से यही समाधान है; किंतु संत की दृष्टि में राम को किस प्रकार रमा रहना चाहिए अथवा संत के हृदय में राम से कैसा नेह होना चाहिए, इसको तुलसीदास ने अन्यत्र स्पष्ट किया है। कहते हैं

कामिहिं नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥

—उत्तर, १३०

इसमें जो भाव व्यक्त किया गया है वही 'विनय पत्रिका' के 'ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को' में भी व्यक्त हुआ है और उसके द्वारा इसको और भी पुष्ट किया गया है। सारांश यह कि तुलसीदास ने इस वासना को निर्मूल करने की शिक्षा नहीं दी है, प्रत्युत इसको राममय बनाने का आदेश दिया है। संत यदि इस वासना के चक्कर में पड़ गया और स्त्री को इसके विपरीत 'सब दुखखानि' के रूप में नहीं देखा और 'प्रमदा सब सुखखानि' को सत्य मान उसको ही अपना मूल मंत्र बना लिया तो इससे न तो उसका उद्धार हुआ और न लोककल्याण ही। अस्तु, संत को तो स्त्री को सदा इसी रूप में अपने मन की आँख से देखना चाहिए और सदा उसके रूप रंग से सतर्क रहना चाहिए। इसके लिये तुलसीदास की चेतावनी भी है—

दीप सिखा सम जुवति तनु मन जनि होसि पतंग।
भजहि रामु तजि कामु मदु करहि सदा सतसंग॥

—अरण्य, ४०

क्रोध पर विजय उस समय दिखाई देती है जब लोमश ऋषि क्रोध में आकर कागभुसुंडि को शाप देते हैं, पर काग इससे तनिक भी विचलित नहीं होते और अपने उसी रूप को शिरोधार्य कर लेते हैं। अवश्य यह भक्ति का प्रसाद है, ज्ञान का प्रताप नहीं। तो भी हम देखते हैं कि नारी के प्रति कागभुसुंडि की धारणा यह है—

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी॥

—अरण्य, ११

इस प्रसंग में ध्यान देने के योग्य बात यह है कि कागभुसुंडि ने गरुड़ से जो सिद्धांत की बात कही है वह स्त्री जाति के प्रति अनुदार कही जाती है, पर ध्यान से देखा जाय तो सूपनखा के प्रति वही उदार

कही जायगी। क्योंकि यही यदि स्त्री की प्रकृति है तो इससे सूपनखा का दोष कुछ कम अवश्य हो जाता है। कम क्या, वह दोष ही नहीं रह जाता। यदि स्त्री की प्रकृति ही ऐसी है कि वह मनोहर पुरुष को देखती है और इस देखने में भ्राता और पुत्र तक का विचार नहीं करती, तो सूपनखा ने यदि राम और लक्ष्मण जैसे अनुपम कामकुमारों को इस दृष्टि से देखा तो इसमें उसका अपराध ही क्या ? तुलसीदास ने 'होइ बिकल सक मनहि न रोकी' में मन की जिस गति का संकेत किया है वह और भी खुल जाती है 'जिमि रबि मनि द्रव रबिहि बिलोकी' के अप्रस्तुत से। जिसकी जो प्रकृति है वही होकर रहती है। तुलसीदास ने 'स्त्री द्रव' को 'रविमणि द्रव' के रूप में दिखाकर स्थिति को श्लील बनाया है, कुछ अश्लील नहीं। स्त्री और पुरुष की प्रकृति मे भ्राता, पिता, पुत्र आदि का कोई सहजात भेद नहीं। यह तो संस्कृति का परिणाम है जो भिन्न भिन्न वर्गों में भिन्न भिन्न रूप से विद्यमान है। वैसे मानवप्रकृति भी तो वैसी ही है जैसी कि कही गई है, किंतु निवृत्ति में ही लोक का कल्याण है। अतएव यदि सूपनखा की निवृत्ति भी इससे हो जाती तो आगे का कांड भी न मचता और उसके नाक, कान भी बचे रहते।

विप्र और शूद्र

हाँ, तो लोकहित में निरत संत को जहाँ स्त्री से बचना पड़ता है वहीं विप्र को शूद्र का उचित ध्यान भी रखना पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में विप्र को बहुत महत्व दिया है। यहाँ तक कि स्वयं राम का कहना है—

सुनु गंधर्व कहौं मै तोही। मोहि न सोहाइ बिप्र-कुल-द्रोही ॥

मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि शिव बस ताके सब देव ॥

सापत ताडत परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहि संता ॥
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना ॥

—अरण्य, २७-२८

राम ने यहाँ विप्र के प्रति जो पूज्य भाव दिखाया है उसका कारण क्या है ? और क्यों उन्होंने शूद्र की ऐसी अवहेलना की है ? जो स्वयं रामचरित पर ध्यान देते हैं तो अवगत होता है कि विप्र परशुराम के प्रति उन्होंने जो आदर का भाव दिखाया वह इस

सापत ताडत परुष कहंता, बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।

का परिणाम कहा जा सकता है। परंतु निषाद के प्रति उनका जो व्यवहार रहा है वह अनादर अथवा अवहेलना का भाव तो कदापि नहीं कहा जा सकता। यदि ध्यान से देखा जाय तो यह आप ही स्फुट हो जाता है कि तुलसीदास ने परशुराम की जो अवहेलना की है अथवा लक्ष्मण के द्वारा रामचरितमानस में कराई है उसका एकमात्र कारण है परशुराम की उग्रता अथवा उनका क्रोध को खोल दिखाना। यहाँ तक कि इसी पूज्य द्विज को लक्ष्मण यहाँ तक डाट जाते हैं कि सभी लोगों को 'अनुचित, अनुचित' कहना पड़ता है। 'द्विज देवता घरहि के बाढ़े' में द्विज का जो उपहास किया गया है उसी को मिटाने और स्थिति को स्पष्ट करने के लिये राम ने पहले तो परशुराम से 'चहिय बिप्र उर कृपा घनेरी' का संकेत किया और फिर स्पष्ट कहा—

जौं हम निदरहिं विप्र यदि सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभट जेहि भयवस नावहिं माथ॥

—बाल, २८८

अच्छा, तो विप्र की प्रभुता का परिणाम है अभय ? राम स्वयं ही तो कहते हैं—

विप्रबंस कै अस प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई॥

—बाल, २८९

विप्र के साथ भय का जो विधान किया गया है, वह विचारणीय है। विप्र को तप का बल होता है। 'तप बल विप्र सदा बरिआरा' में जिस तप को लिया गया है वह तप ही ब्राह्मण को श्रेष्ठ बनाता है और उसमें शाप की शक्ति ला देता है, जिसके कारण वह किसी के कुल का नाश सहज में ही कर सकता है। 'जिमि द्विज द्रोह किए कुल नासा' में इसी का उद्घोष किया गया है; किंतु इस कोप के कारण अथवा शाप

के भय से विप्र पूजनीय नहीं होता, उसकी विशेषता है मोह से उत्पन्न संशय को दूर करना। इसीसे तुलसीदास—

बंदौ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥

का नाम लेते हैं और वसिष्ठ के द्वारा इस कार्य का संपादन भी भली भाँति करा देते हैं। विप्र में यह शक्ति तभी आ सकती है जब वह क्षमा-शील और कृपालु हो। तुलसी ने विप्र के इस गुण को भलीभाँति खोल कर दिखाया है शूद्र हरिभक्त के प्रसंग में। कागभुसुंडि ने अपने गत जीवन की जो कथा कही है उसमें विप्र की क्षमा तो है ही, कृपा की भावना भी बढ़ी चढ़ी है। नीति का विरोध देखकर जब खल को दैवी दंड दिया जाता है तब विप्र उसकी विपदा को देखकर कलप उठता है और पिघल कर भगवान् से यही प्रार्थना करता है कि—

तब माया बस जीव जड संतत फिरै भुलान।
तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु कृपा सिंधु भगवान॥

—उत्तर, १०८

विप्र के इसी शील का परिणाम है कि शंकर की अब यह घोषणा होती है—

सुनु मम बचन सत्य अब भाई। हरि-तोषन व्रत द्विज सेवकाई॥
अब जनि करहि बिप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना॥
इद्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥
जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्र द्रोह पावक सो जरई॥

—उत्तर, १०६

द्विजद्रोह का परिणाम दुःखद होता है यही रामचरितमानस का पक्ष है, द्विजद्रोह नहीं होना चाहिए यही तुलसी का आदेश है; किंतु द्विज को भी अपने आप क्रोध न कर सब को कृपा का ही परिचय देना चाहिए, यही तुलसी का इष्ट मत है। संत की भाँति विप्र में समता का भाव भले ही न हो, पर क्षमा का भाव तो उसमें होना ही चाहिए। यदि उसमें क्षमा और शील नहीं है तो वह लोकमंगल का विधान नहीं कर सकता—शाप से किसी का नाश भले ही कर ले।

राम ने विप्र की जहाँ प्रशंसा की है वहीं शूद्र का भी उल्लेख किया है। विप्र और शूद्र वर्णव्यवस्था अथवा 'व्यवहार' के जीव हैं। व्यव-

हार में मर्यादा की उपेक्षा हो नहीं सकती। इस मर्यादा की अवहेलना के कारण शूद्र को जो दंड मिला उसका उल्लेख पहले हो चुका है। यहाँ बताया यह जाता है कि वस्तुतः तुलसी की दृष्टि में विप्र और शूद्र का संबंध क्या है। तुलसी ने विप्र का प्रतीक वसिष्ठ को बनाया है और शूद्र का प्रतीक निषाद को। पहले निषाद जब दूर से प्रणाम करता है तब वसिष्ठ लपककर उसे हृदय से लगाते नहीं, अपितु भरत से इतना ही कहते हैं कि यह रामसखा है; किंतु जब रामसखा की धर्म भावना और शील को भलीभाँति परख लेते हैं और यह सभी प्रकार से जान लेते हैं कि यह सच्चा रामभक्त और स्वधर्मप्रेमी है तब बरबस उसे हृदय से लगा लेते हैं और फिर इस बात की तनिक भी चिंता नहीं करते कि यह तो लोक में अछूत माना जाता है, हम इसका स्पर्श क्यों करें? यह सच है कि विप्र लोक और वेद दोनों को लेकर चलता है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि विप्र रूढ़ियों का दास है। विप्र का कार्य है लोक में वेद के आधार पर सदाचार का प्रचार करना। वसिष्ठ ने इसी का परिचय दिया है। यहाँ इतना और भी टाँक लेना चाहिए कि निषाद कहीं भी अपने धर्म से विरत हो शंबूक की भाँति किसी दूसरे के, 'पर धर्म' का अनुष्ठान नहीं करता और फलतः राम भी अंत में उसको स्वधर्मपालन का ही आदेश देते हैं। तुलसीदास की शूद्र के प्रति जो भावना है उसको और भी विशेष रूप से देखना है, तो यह जान लें कि तुलसी के यहाँ कोई शंबूकवध नहीं, और उनके राम के राजघाट पर शूद्र भी उसी प्रकार स्नान कर सकता है जिस प्रकार विप्र—

पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं असनाना॥
राज घाट सब बिधि सुंदर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर॥

—उत्तर, २६

तुलसीदास की वर्णव्यवस्था और उनकी धर्मभावना को ठीक ठीक न समझने के कारण लोग प्रायः उनकी भर्त्सना किया करते हैं और जब कभी उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है तब कोई न कोई महाशय—

ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥

का पटाका छोड़ जाते हैं। उनकी इस चेष्टा का अभिप्राय प्रायः यह होता है कि तुलसी सा स्त्री और शूद्र का द्रोही दूसरा कोई कवि नहीं हुआ, किंतु यदि प्रसंग पर विचार किया जाय तो आप ही प्रकट हो जाता है कि तुलसीदास ने यहाँ 'भय बिनु होइ न प्रीति' का प्रतिपादन भर किया है और समुद्र ने विप्र के रूप में इस नीति का उत्कर्ष भर दिखाया है। वह कहता है—

गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए॥
प्रभु आयसु जेहि कहँ जसि अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई॥
प्रभु भल कीन्ह मोहिं सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरिअ कीन्हीं॥
ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥

—सुंदर, ५६

तुलसीदास 'ताड़ना' को ठीक समझते हैं और यह बताना चाहते हैं कि जब प्रकृति स्वयं जड़ है, तब उसमें कोई ऐसा पात्र नहीं जो ताड़ना का अधिकारी न हो। सृष्टि के निर्वाह और उसके मंगल के हेतु 'ताड़ना' का विधान करना ही पड़ता है। ताड़ना के बिना सृष्टि का कार्य सुचारु रूप से चल नही सकता। यही तुलसी का इष्ट मंत्र है और इसी का इसमें आदेश भी। इसे स्त्री और शूद्र का घातक समझना भूल है। 'सकल' पर ध्यान दें तो तुलसी की कला का मुँह खुले। अन्यथा आपकी इच्छा।

जी, तो तुलसी ने व्यक्तिगत रूप में संत और विप्र को लिया है, किंतु उनके द्वारा लोककल्याण तब तक नहीं हो सकता जब तक शासन का पूरा सहयोग समष्टि रूप मे प्राप्त न हो। तुलसीदास ने कलियुग का वर्णन जो जम कर किया है उससे उनकी निराशा प्रकट होती है। कलि के संत, विप्र और शासक सभी अपनी अपनी कर रहे हैं। देखिए—

शासक

नृप पाप परायन धर्म नहीं। करि दंड विडंब प्रजा नित ही॥
धनवंत मलीन कुलीन अपी। द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी॥
नहिं मान पुरान न वेदहि जो। हरि सेवक संत सही कलि सो॥

—उत्तर, १०१

यदि स्थिति यहीं तक रह जाती तो भी कोई बड़ी बात न थी। खेद तो यह है कि कलि के प्रताप से—

द्विज स्रुति बेंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहहिं सब कोई॥

—उत्तर, ६८

कलियुग की इस उलटी दशा से विचलित होकर ही गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में जहाँ भूप को 'प्रजासन' कहा है वहीं 'कवितावली' में 'भूमिचोर'। और 'दोहावली' में तो यहाँ तक कह डाला है—

काल तोपची तुपक महि दारू अनय कराल।
पाप पलीता कठिन गुरु गोला पुहुमी पाल॥५५५॥

तात्पर्य यह कि तुलसीदास को 'पुहुमीपाल' से सदा असंतोष रहा है। उन्होंने उसी 'दोहावली' में इतना और भी स्पष्ट किया है—

गोंड़ गँवार नृपाल महि यवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल॥५५६॥

ऐसे 'गँवार नृपाल' और ऐसे 'यवन महा महिपाल' से गोस्वामीजी को लोकहित की किसी प्रकार की कोई आशा नहीं रह गई थी, और उन्होने इतना मान भी लिया था कि—

माली भानु किसानु सम नीति निपुन नरपाल।
प्रजा भाग बस होहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल॥५०७॥

फिर भी उन्होंने रामचरित के द्वारा यह दिखाने का पूरा प्रयत्न किया कि वस्तुतः राजा को कैसा होना चाहिए। रामचरितमानस तथा विनय पत्रिका अपने दोनों ही अनुपम ग्रंथों में तुलसीदास ने इस राम-राज्य को बड़े भाव से खोल कर दिखा दिया है और अपने राम के द्वारा भरत को चित्रकूट में जो उपदेश दिलाया है वह भी इसी रामराज्य का

द्योतक है। राम अंत में भरत को सावधान करते हुए किस भावना से कहते हैं—

मोर तुम्हार परम पुरुषारथु। स्वारथु सुजसु धरमु परमारथु॥
पितु आयसु पालिहि दुहुँ भाई। लोक बेद भल भूप भलाई॥
गुरु पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहु कुमग पग परहिं न खाले॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भर जाई॥
देसु कोसु पुरजन परिवारू। गुर पद रजहिं लाग छरु भारू॥
तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥

मुखिया मुख सो चाहिये, खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक॥

—अयोध्या, ३१५

सच पूछिए तो तुलसीदास ने इसी एक दोहे में सब कुछ कह दिया है—राजा और प्रजा में मुख और अंग का संबंध होना चाहिए; किंतु यह तभी हो सकता है जब मुख भी उसी शरीर का अंग हो जिस पर उसका शासन हो, अन्यथा यह कदापि नहीं हो सकता अथवा यह कदापि संभव नहीं। 'पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी' में पृथ्वी, प्रजा, और राजधानी के पालन की जो बात कही गई है वह तभी ठीक उतर सकती है जब मुनि, माता और मंत्री की बात पर ध्यान दिया जाय। मनमानी करने से 'देस कोस पुरजन परिवारू' का कल्याण नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने समय की भीषण दरिद्रता का जो रूप उपस्थित किया है उसको वे लोग भलीभाँति नहीं समझ सकते जो मुगल शासन की चमकदमक में ही अंधे हो रहे हैं। अरे! सच्ची बात तो यह है कि उस समय की वस्तुस्थिति यह थी कि सचमुच राजा प्रजा को खाकर ही पुष्ट होता था और उसके रक्त की लालिमा ही जहाँ तहाँ उसके लाल किलों और महलों में फूट निकलती थी। भूलिए नहीं, उसी समय के एक डच यात्री किंवा व्यापारी का कहना है—

यदि किसानो को निर्दयता और क्रूरता के साथ कुचला न जाय तो यहाँ प्रचुर मात्रा में ही नहीं असाधारण रूप मे उपज हो सकती है। क्योकि वे गाँव जो उपज की कमी के कारण पूरी मात्रा में कर नहीं दे पाते, स्वामिवर्ग अथवा शासको के द्वारा एक प्रकार से बिक्री की सामग्री बना लिए जाते हैं।

और विद्रोह का बहाना रचकर उनकी स्त्रियाँ तथा बच्चे बेच दिए जाते हैं। परिणाम यह होता है कि खेत खाली पड़ जाते तथा न बोये जाने के कारण जंगली बन जाते हैं। इस देश में ऐसा उत्पीड़न बहुत ही प्रचलित है।※

जहाँगीर के शासन की जो व्यवस्था कही गई है, उसका भाव यह है कि तुलसीदास ने जो 'भूमिचोर भूप भये' कहा है वह सूत्ररूप में स्थिति को सुस्पष्ट करने के लिये ही। तुलसीदास ने यह भलीभाँति देख लिया था कि इस प्रकार के भूपों से लोकमंगल का विधान किसी प्रकार नहीं हो सकता, अतएव इनसे दूर रहकर उन्होंने प्रजा को राममय बनाने का संकल्प किया और राजा राम का वह रूप उनके सामने लाकर खड़ा कर दिया जो निरा राजा ही नहीं, अपितु 'बानर का चरवाहा' भी था और रामचरितमानस के अंत में दृढ़ विश्वास के साथ घोषणा भी कर दी—

> श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये।
> ते संसारपतङ्ग घोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवः॥

काल इस बात का प्रमाण है कि तुलसी अपने अनुष्ठान में असफल नहीं रहे और भूखी जनता को रामरसायन पिलाकर ऐसा परिपुष्ट किया

※ The land would give a plentiful, or even an extraordinary yield, if the peasants were not so cruelly and pitilessly oppressed; for village which, owing to some small shortage, of produce are unable to pay the full amount of the revenue-farm, are made prize, so to speak, by their masters or governors, and wives and children sold, on the pretext of a charge of rebellion, and consequently the fields lie empty and unsown and grow into wildernesses. Such oppression is exceedingly prevalent in this country.

Jahangirs' India, W. H. Moreland. Cambridge, W, Hefeer & Sons, 1925.

और उसको लाकर उस भावभूमि पर खड़ा कर दिया जिस पर वह आज भी उसी अचल रूप में खड़ी है और उसकी चोरी आज भी कोई भूप नहीं कर सकता।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने समय के शासन की जो आलोचना की है वह उसकी भोगलिप्सा के कारण ही, कुछ धर्म अथवा यवन होने के कारण नहीं। स्मरण रहे, इसी भोगवृत्ति के कारण उन्होंने देवताओं का भी बहुत ही उपहास किया है और बड़ी ही दृढ़ता से कहा है—

बलि मिस देखे देवता कर मिस मानव देव।
मुए मार सुबिचार हत स्वारथ-साधन एव॥

—दोहावली, ३४६

एक दूसरे दोहे में उन्होंने इसको इस प्रकार आड़े हाथों लिया है—

बड़े बिबुध दरबार तें भूमि-भूप दरबार।
जापक पूजक पेखिअत सहत निरादर-भार॥

—दोहावली, ३६३

कहने का तात्पर्य यह कि तुलसीदास ने देवता तथा राजा दोनों की ओर से निराश होकर जनसमाज के कल्याण का मार्ग निकाला है और उसको इधर उधर की पूजा से निकालकर रामभक्ति की 'राज-डगर' पर चलने का आदेश दिया है। इसीसे तुलसीदास को यह बहुत खटकता है कि लोग इधर उधर के प्रलोभनों में पड़कर बहराइच क्यों जाते हैं अथवा क्यों जल में खड़े होकर गंगापुत्रों को दान ही देते है। देखिए, इसी से तो कितना कुढ़कर कहते हैं—

लही आँख कब आँधरो, बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय॥

—दोहावली, ४६६

किंतु यह कुढ़न गंगापुत्रों पर वैसी नहीं रह जाती। इसकी व्यंजना भी परिस्थिति के साथ ही गूढ़ हो जाती है, पर उपेक्षा उनकी भी खूब होती है। कहते हैं—

तुलसी दान जो देत हैं जल में हाथ उठाय।
प्रतिग्राही जीवै नहीं, दाता नरकै जाय॥

—दोहावली, ५३३

सारांश यह कि सभी प्रकार से तुलसीदास ने जनता को सचेत कर सुशील, सुखी और संतोषी बनाने का प्रयत्न किया है और इसमें सफलता भी उनको सच्ची मिली है। तुलसी को

जय जीव

जीव के कल्याण की कितनी चिंता थी, इसे संक्षेप में जानना हो तो इतना अवश्य टाँक लें कि तुलसी के सुमंत जब राजा दशरथ से मिलते हैं तब 'जय जीव' कह करके ही उनका अभिवादन करते हैं। बस, तुलसीदास भी इसी 'जय जीव' के विधायक हैं। उनका सचिव उनके राजा से यही कहता है—

देखि सचिव जय जीव कहि, कीन्हेउ दंड प्रनामु।
सुनत उठेउ व्याकुल नृपति, कहु सुमंत्र कहँ रामु॥

—अयोध्या, १४८

किंतु जीव का कल्याण तभी होगा जब राजा इस संदेश पर ध्यान दे—

कहब सँदेसु भरत के आए। नीति न तजिह राजपद पाए।
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेयेहु मातु सकल सम जानी॥
अउर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई॥

—अयोध्या, १५२

और प्रजा भी सब प्रकार से उसके अनुशासन में लीन रहे। संक्षेप यह कि—

सेवक कर पद नयन से, मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि, सुकवि सराहहिं सोइ॥

—अयोध्या, ३०६

————

७—काव्य दृष्टि

तुलसीदास ने 'काव्य मीमांसा' के रूप में कही स्वतंत्र रूप से कुछ नहीं लिखा। उन्होने इस क्षेत्र में किसी 'प्रकाश वा दर्पण' की रचना भी नहीं की किंतु संक्षेप में, सूत्र रूप से समय समय पर 'मानस' में जो कुछ कह दिया वह उनकी परख को पर्याप्त है और पुकार कर कहता है कि तुलसी की दृष्टि में कविता का स्वरूप क्या है। तुलसीदास ने 'वस्तु' पर विशेष ध्यान दिया है और काव्य को बहुत ही पुण्य दृष्टि से देखा है। उनकी दृष्टि में—

काव्यस्रोत

मनि मानिक मुकता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहही। उपजहि अनत अनत छबि लहही॥
भगति हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥
रामचरित सर बिनु अन्हवाये। सो स्रम जाइ न कोटि उपाये॥
कवि कोविद अस हृदय बिचारी। गावहि हरि जस कलिमल हारी॥
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगति पछिताना॥
हृदय सिंधु मति सीपि समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जौ बरखै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुता मनि चारू॥

जुगुति वेधि पुनि पोहिअहि, राम चरित बर ताग।
पहिरहि सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥

तुलसी का यह पक्ष बहुतो को भा नहीं सकता, परंतु मानना तो सबको होगा ही कि वस्तुतः काव्य की स्थिति है यही। गोस्वामी तुलसीदास के 'स्वांतः सुखाय' की ओट में आज कविसमाज में क्या क्या नहीं किया जा रहा है? किंतु खेद तो यह है कि इस 'स्वांतः सुखाय' को लोगों ने 'स्वसुखाय' समझ लिया है और बना लिया है इसे 'स्वशरीराय'। तुलसी कहते हैं कि कविता जहाँ उपजती है वहाँ छवि नहीं पाती। छवि तो उसे समाज में मिलती है। अतः उसको ऐसा

होना ही चाहिए जिससे वह समाज में खिल सके। (कविता जोड़जाड़ कर नहीं बनती, वह तो हृदय से उमड़कर बाहर निकलती और अपने वेग से लोक में फैल जाती है। उसका विषय यदि ठीक नहीं हुआ, उसका संदर्भ यदि लोकहितकारी नहीं रहा, तो वह नष्ट गई, भ्रष्ट हुई और कवि की वाणी का सर्वथा दुरुपयोग हुआ।) तुलसीदास ने 'प्राकृत जन' की अवहेलना नहीं की है। नहीं, उन्होंने तो प्राकृत जन के गुणगान को अच्छा नहीं माना है। प्राकृत जन को काव्य का आदर्श नहीं ठहराया है। तुलसीदास ने शारदा को स्वाती कहा है। 'स्वाति नक्षत्र' के जल में बड़ा गुण है। सीप में पड़कर वह मोती बन जाता है परंतु साँप के मुँह में पड़कर वही बिष का रूप धारण कर लेता है। तुलसीदास साँप का नाम नहीं लेते, केवल सीप की बात करते हैं और कहते हैं कि जब बुद्धि में श्रेष्ठ विचार का उदय होगा तभी श्रेष्ठ कविता का जन्म होगा, अन्यथा कदापि नहीं। किंतु (कविता भी कंठहार तभी बन सकती है जब उसको युक्ति से गुथा जाय और उसमें रामचरित का सूत्र आदि से अंत तक रमा हो, अन्यथा उससे सज्जनों के हृदय की शोभा नहीं होगी, फिर चाहे वह जिस तिस के गले का हार हो।)

गोस्वामी तुलसीदास ने युक्ति अर्थात् कला को भी सराहा है, किंतु काव्य की मूल को कविकृत नहीं, प्रभुकृत ही माना है—

> सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी।
> जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥
>
> —बाल, ११०

सच है, रामकृपा से ही कवि को वाणी का प्रसाद प्राप्त होता है, किंतु इस शक्ति का सदुपयोग उसके अपने हाथ में ही होता है। इसीसे तुलसीदास और भी कहते हैं—

> अस मानस मानस चष चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
> भयउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू॥
> चली सुभग कविता सरिता सी। राम बिमल जस जल भरिता सी॥
>
> —बाल, ४५

तुलसी ने यहाँ भी कविता की परिक्रिया पर विचार किया है और बताया है कि वह किस प्रकार मन, बुद्धि, हृदय और उल्लास से संबंध

रखती है और किस पुण्ययश से आप्लावित होकर सर्वसुखद बन जाती है।

तुलसी ने 'शंभुप्रसाद' और 'हरिप्रेरणा' को ही सब कुछ नहीं मान लिया है। उसके साथ ही साथ उन्होंने संयम, निष्ठा और ध्येय पर भी ध्यान दिया है। तुलसी भाषा को विशेष महत्व नहीं देते और जो महत्व देते हैं तो भाव, विचार, वस्तु तथा लक्ष्य को ही। उनकी पक्की

ध्येय

धारणा है कि वस्तु और उद्देश्य तो सदा उत्तम होना ही चाहिए फिर भाषा चाहे गँवारी ही क्यों न हो। जब वस्तु भली है तो भाव भी भला ही होगा, जब उद्देश्य अच्छा है तो भाव भी अच्छा ही होगा। इसी से तुलसी कहते है—

भनिति भदेस, वस्तु भलि बरनी। राम-कथा जग मंगल करनी।

—वही, १५

और इसी से उनको ध्रुव विश्वास भी है कि—

प्रिय लागिहि अति सबहि राम, भनिति राम जस संग।
दारु विचार कि करइ कोउ, बंदिय मलय प्रसंग॥
स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥

—बाल, १५

तुलसी ने भाषा से भाव को अधिक सराहा है और भाव से अधिक भक्ति को। कदाचित् यही कारण है कि आपने वाल्मीकि की वंदना में लिख दिया है—

बंदौ मुनि पद कंज, रामायन जेहिं निरमयउ।
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित॥

—बाल, १९

यहाँ 'दूषन सहित' में जो दोष देखा गया है, वह यही है कि इसमें भाषा और भाव तो अपूर्व हैं, पर वह भक्ति नहीं जो भगवान् से झट मिला दे। भक्ति के कारण तुलसीदास की इस अनूठी रचना में जो रस आ गया है वह सर्वसुलभ नहीं, सच्चे रामभक्त अधिकारी को

ही प्राप्त है। यही कारण है कि रामचरितमानम की कविता की सहज गति में यह भक्ति बहुतों को खटक जाती है और तुलसी का यह विधान उनको भलीभाँति भा नहीं पाता। भूलना न होगा कि तुलसीदास ने सर्वत्र इस भक्तिभावना का विधान किया है और राम के शील, स्वभाव और गुण का गान राम में रमाने के हेतु ही किया है। बीच बीच में यत्र तत्र उपदेश भी देते रहे हैं। यहाँ तक कि वहाँ भी जहाँ राम का सामान्य जनजीवन अंकित हुआ है और जिसमें कोई ऐसी अलौकिकता नहीं आई है, जिससे लोगों को उनके पर रूप में कोई संदेह वा भ्रम हो। तुलसी ने आगे चलकर 'विनयपत्रिका' में इस 'उपदेसिबे की बानि' को छोड़ने का संकल्प किया है, 'मानस' में नहीं। 'मानस' में मन को रमाना ही नहीं, उसके द्वारा जीवन को स्वच्छ बनाना भी तो है! तो उपदेश की उपेक्षा हो कैसे सकती है?

भाषा

तुलसीदास ने 'ग्राम्य गिरा' में रचना की है, किंतु उसे ग्राम्यदोष से सर्वथा मुक्त रखा है। उन्होंने संस्कृत के द्रोह के कारण भदेस बानी को नहीं चुना था। नहीं, उनको तो इस बात का बोध था कि ग्रामीण भी इस गिरा को आदर की दृष्टि से देखते और इसी में अपने हृदय तथा जीवन को पाते हैं। अतः उन्होंने इसी भाषा में रचना की, जो सबकी मनभावती नहीं, परंपरागत भाषा भी थी और जिसके शब्द सभी को भाते, किंतु साथ ही उन्होंने संस्कृत को भी मंगलाचरण के रूप में अपनाया और उसमें भी श्लोक लिखे, परंतु उसको भी कहीं जनता से उठाकर निरे पंडितों के बीच में नहीं भेजा। नहीं, उनकी संस्कृत भी तो सबकी संस्कृत है। उसमें वैयाकरणों को व्याकरण का दोष दिखाई देता है तो दे, पर जनता को तो उसमें अपना मंगल ही प्राप्त होता है। तुलसी ने भाषा के क्षेत्र में जिस प्रणाली को अपनाया है वही साधु और समीचीन है। रामचरितमानस में 'सुभाव' ही नहीं 'सुभाषा' भी है। भाषा और भाव में वही संबंध है जो सीता और राम में। तुलसीदास ने इनको इसी रूप मे लिया भी है। तुलसी ने अपनी सारी भावना को समेटकर इस दोहे में रख दिया है—

> गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न।
> बंदौं सीताराम पद, जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥
>
> —बाल, ३०

कहने को तो तुलसीदास कहते यही हैं —

कवि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥
कवित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥

—बाल, १४

हम नहीं चाहते कि तुलसीदास के इस कोरे कागद के सत्य को असत्य कर दिखाएँ। पर हम जानते हैं कि इस काव्यविवेक के अभाव में भी तुलसीदास की कविता में काव्य के सभी अंग उमंग में आकर आए हैं और सभी अपने अपने देश पर ही अवस्थित भी हैं। तुलसी ने छंद और ध्वनि आदि का निर्देश 'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना' के प्रसंग में अति संक्षेप में कर दिया है। उसमें छंद भी है, अलंकार भी है, ध्वनि भी है, वक्रोक्ति भी है, अर्थ भी है, धर्म भी है, रस भी है, भाव भी है, और है सभी को मानस में उचित स्थान भी—घुणाक्षर न्याय से नहीं, अक्षर विज्ञान से। तभी तो तुलसी कहते भी हैं—

काव्यांग

धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥

यहाँ ध्वनि और वक्रोक्ति का मीन कहा गया है और फिर—

नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा॥

में नव रस को भी जलचर बताया गया है। तो क्या इससे यह ध्वनित नहीं होता कि ध्वनि का रस से क्या संबंध है और कविता में वक्रोक्ति का क्या महत्व है? मीन का जल में जो रूप प्रकट होता है वह 'प्रगटत दुरत' का ही रूप होता है। काव्य में ध्वनि का भी यही स्थान है। भाव और भाषा के विषय में तुलसी का कथन है—

अरथ अनूप सुभाव सुभाषा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥

अर्थ पराग है। भाव मकरंद है। भाषा सुगंध है। गंध से हम पुष्प की ओर खिंचते हैं तो भाषा से काव्य की ओर। अर्थ पराग के रूप में प्रस्तुत होता है तो; किंतु कवि का भाव तो मकरंद में ही रमा होता है। वही तो उसका रस है। भाषा छंद को पाकर और भी

खिल उठती है तो चौपाई, छंद, सोरठा आदि पुरइन और रंग रंग के जलज हैं। रस की निष्पत्ति के लिये भाषा को छंदमय बनाना इसीसे तुलसी को इष्ट है। रही अलंकार की बात, सो तुलसीदास ने 'उपमा बीचि बिलास मनोरम' में इसको भी व्यक्त कर दिया है। बहुत से आचार्य तो सभी अलंकारों को उपमामूलक ही समझते हैं। तुलसी का भी यही पक्ष प्रतीत होता है। अलंकार का कार्य है अलंकृत करना, शोभा को उभार कर प्रस्तुत करना। यही तुलसी का इष्ट मत है। अब रही युक्ति की स्थिति। सो तुलसीदास युक्ति को 'मणि सीप' कहते हैं। इस युक्ति की परख प्रबंधकाव्य में जैसी होती है वैसी मुक्तक में नहीं। तुलसी युक्ति को पोहकर मणिहार बनाना चाहते हैं, मणि को बेधना चाहते हैं, कुछ सूक्तियों के द्वारा केवल उपदेश देना अथवा मनोरंजन करना भर नहीं। सीप सागर में डूबने से प्राप्त होती है, कुछ यों ही पानी पीटने से नहीं। सारांश यह कि तुलसीदास के मानस के अवगाहन से तुलसीदास की काव्यकसौटी भी प्रकट हो जाती है और हम उसके द्वारा काव्य को सम्यक् रूप से समझ भी सकते हैं।

काव्य की सीमा

कविता की गति कहाँ तक है, यह प्रश्न भी विकट है और आज कल इस पर विवाद भी बहुत हो रहा है। पर तुलसीदास ने यहाँ भी अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी है। बड़े विषाद के साथ लिखते हैं—

मिलन प्रीति किमि जाइ बखानी। कबि कुल अगम करम मन बानी ॥
परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई ॥
कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई ॥
कबिहिं अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा ॥
अगम सनेहु भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को ॥
सो मैं कुमति कहहुँ केहि भाँती। बाजु सुराग कि गाँडर ताँती ॥

—अयोध्या, २४१

बात बहुत सीधी है। भरत और राम मिल रहे हैं। यह मिलन ऐसा अद्भुत और अपूर्व है कि तुलसीदास इसका वर्णन नहीं कर पाते। ऐसी प्रकट और प्रत्यक्ष बात तुलसीदास के लिये

असंभव क्यों हो जाती है ? इसी का रहस्य तुलसीदास खोलते हैं। प्रकट में जो कुछ हो रहा है उसको तो कह दिया कि राम और भरत मिल रहे हैं, किंतु परोक्ष में जो कुछ है उसको प्रत्यक्ष कैसे किया जाय ? जो राम और भरत के जी में है उसको रूप कैसे दिया जाय ? तुलसीदास ने पहले भी कहा है कि राम शारदा को नचाते हैं। कवि नट की भाँति नाचता है और नाच ताल पर आश्रित है। फिर ताल आए तो कहाँ से आए ? यही असमंजस है। ताल गीत पर आश्रित है और गीत भाव पर। यदि भाव ही नहीं रहेगा तो संगीत की विधि कैसे बैठेगी ? गीत, वाद्य और नृत्य सब कुछ व्यर्थ हो जायगा। तुलसीदास कहते हैं कि भाव का संबंध अंतःकरण से है। अंतःकरण में जो वेदना होती है, कवि उसी को रूप देता है और नट उसी का आचरण करता है। राम और भरत का मिलना इस ढंग का मिलना है कि उसमें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का लेश भी नहीं रह जाता। अंतःकरण का सर्वथा लोप हो जाता है। इस प्रकार जब बिंब ही नहीं रहा तब उसका प्रतिबिंब कवि के हृदय में क्या पड़ेगा और कवि कैसे उसे शब्द में प्रकट करेगा ? कवि को तो केवल अर्थ और शब्द के सहारे अपना काव्य खड़ा करना है; किंतु जब उसके हृदय में कोई भावना ही नहीं उठती और उसके मानस में कोई प्रतिबिंब ही नहीं पड़ता तब वह किस भाव तथा किस भाषा को लेकर कविता करे ? कवि तो छाया को अंकित करता है, मूल तक उसकी गति कहाँ ? यहाँ मूल ही लुप्त हो गया है तो फिर छाया का दृष्टिपथ में आना और उसको काव्यरूप में किसी साँचे में ढाल देना किसी कवि के लिये कहाँ तक युक्त है ? स्थिति तो यह है कि देवता भी इस स्थिति को नहीं समझ पाते कि उनकी प्रेरणा तथा प्रसाद से भी कवि कुछ कह सके। उनका ताल भी नहीं मिलता कि नट कुछ नाच सके। सारांश यह कि कवि का क्षेत्र अंतःकरण तक ही सीमित है। वह कभी अलक्ष्य और अगोचर का वर्णन कर नहीं सकता। वह उसी को रूप देता है जो किसी न किसी रूप में उसके दृष्टिपथ में आ चुका होता है। वह प्रतिबिंब को ही प्रकट करता है, बिंब को नहीं। बिंब प्रतिबिंब से भिन्न नहीं होता, सो तो ठीक, पर रहता है वह उससे सदा निर्लिप्त ही। इसमें भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं। अस्तु, यही तुलसी का कवि की गति

के विषय में अभिमत है और है सर्वथा उपयोगी और विचारणीय भी।

अस्तु, गोस्वामी तुलसीदास के संबंध में अब तक जो कुछ कहा गया है, उसके आधार पर उनकी वाणी के संबंध में यदि यह कहा जाय तो किसी को आश्चर्य न होगा—

अद्भुत बानी

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥
ज्यो मुख मुकुर मुकुरु निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥

—अयोध्या, २९४

तुलसीदास की इस 'अद्भुत' बानी की आलोचना कितनी कठिन है, इसको कहने की आवश्यकता कदाचित् नहीं रही। तुलसीदास की वाणी जहाँ सुगम है वहीं अगम भी, जहाँ मृदु वहीं कठोर भी। फिर भी तुलसीदास ने अपने संबंध में आप ही इतना कह दिया है कि यदि उसी के प्रकाश में हम उनकी रचना के मर्म को देखने का संकल्प करें तो हमें कदाचित् किसी प्रकार का भ्रम न हो। तुलसीदास ने स्थल स्थल पर गूढ़ और मर्म वचन का उल्लेख किया है और उसका जहाँ तहाँ रहस्य भी खोल दिया है। स्वयं रामचरितमानस की भूमिका में उन्होंने काव्य के प्रायः सभी अंगों का निर्देश कर यह बताने का उद्योग किया है कि उनकी रचना में काव्य के सभी अंग अपने अपने रूप में अपने अपने स्थान पर विराजमान हैं। तुलसीदास ने जहाँ कविता के संबंध में बहुत कुछ कहा है वहीं इतना और भी कहा है कि वस्तुतः कविता की खरी कसौटी क्या है? उनकी दृष्टि में सच्ची कविता वही है जिसको सुनकर वैरी भी वैर भूल जाय और सुनते ही उसका बखान कर उठे। सुनिए—

सरल कवित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराय रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥

—बाल, १९

८—भाव व्यंजना

रामचरितमानस की रचना में गोस्वामीजी की दृष्टि काव्य पर भी रही है, इसको तो मानना ही होगा। कारण कि रामचरितमानस का श्रीगणेश ही होता है काव्यांगों को लेकर—

वर्णानामार्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥

'वाणी' और 'विनायक' को जैसे एक में जोड़ दिया गया है, वैसे ही इसमें वर्ण, अर्थ, रस और छंद का उद्घोष भी कर दिया गया है और अंत मे कर दिया गया है मंगल का विधान भी। तात्पर्य यह कि गोस्वामी तुलसीदास ने काव्यमय वाणी को अपनाया है, निरी वाणी को नही।

संविधान

गोस्वामीजी ने रामचरितमानस को जिस रूप में रचा है उसका रूप भी कुछ निराला है। उसकी तुलना संस्कृत के किसी काव्यग्रंथ से नही की जा सकती। है तो वह 'वाल्मीकि रामायण' की परंपरा में, पर उसकी पद्धति उससे सर्वथा भिन्न है। उसमें पुराणों की छाया और आगमों का अनुगमन भी है। इतना सब कुछ होते हुए भी रामचरितमानस की कथा ऐसी गठी हुई है कि कहीं से उखड़ने का नाम तक नहीं लेती। तुलसीदास ने जो 'कथा विचित्र बनाई' की बात कही थी वह विचित्रता कहने को ही रही। आज रामचरितमानस की कथा लोगों के हृदय में इतना घर कर चुकी है कि लोग उसी को सच्ची घटना समझते है और उसकी विचित्रता को सर्वथा सत्य मान चुके हैं। रामचरितमानस में कथावस्तु में जो परिवर्तन हुआ है वह काव्य की दृष्टि से ही। ऐसे स्थलों के इधर उधर हो जाने से काव्य के उत्कर्ष में अवश्य प्रगल्भता आ जाती और इसमें संदेह नहीं रह जाता कि काव्य में संविधान भी बड़े महत्व का होता है। प्रबंध की शोभा तो वस्तु के समुचित सविधान में ही खरी होती है, नहीं तो उसका नामध्येय ही

व्यर्थ हो जाता है। विचार के लिये परशुराम के प्रसंग को ही ले लीजिए। रामचरित में लिया सभी लोगों ने इसे है, पर खटपट और झटपट के रूप में ही, हृदय के उफान के रूप में नहीं।

रामचरितमानस वैसे तो सात सोपानों में विभक्त है, किंतु यदि ध्यान से देखा जाय और उसकी भूमिका के संकेत के सहारे उसको समझने का श्रम किया जाय तो यह स्वतः उद्भूत होगा कि उसके तीन खंड हैं। इन खंडों को हम इस रूप में देख सकते हैं कि रामचरितमानस का प्रथम खंड तो भरतचरित्र तक है और दूसरा रावणवध तक। गोस्वामी तुलसीदास ने इन्हीं को 'सरयू' और 'सोन' का नाम दिया है। रहा तीसरा खंड। सो वह सप्तम सोपान किंवा कागभुसुंडि चरित्र अथवा रामस्वरूप ही है, जिसको तुलसीदास ने 'सिंधु' कहा है। इस सिंधु में सरयू और सोन का सीधे प्रवेश नहीं होता। उनको तो 'राम भगति सुरसरि' का सहारा लेना ही पड़ता है। सारांश यह कि गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस की कथा और भावना को इस प्रकार प्रस्तुत कर दिया है और इसके द्वारा देश की स्थिति को भी इस ढब से सबके सामने ला खड़ी कर दिया है कि रचना और काव्य की दृष्टि से भी इन तीनों खंडो का अपना अलग अलग महत्व बना रहता है।

संवेदना

(काव्य की दृष्टि से प्रथम खंड ही सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। हृदय का मर्म इसी में खुला है। द्वितीय खंड में हृदय की अपेक्षा बुद्धि की प्रधानता है। उसमें व्यवहार की बात ही अधिक कही गई है और तृतीय खंड में तो परमार्थ है ही। यदि इसी को सूत्र रूप में कहा चाहे तो कह सकते हैं कि पहले में भाव दूसरे में विचार और तीसरे में विवेक की प्रधानता है।)

प्रथम खंड में संकट के तीन अवसर आए हैं—(१) धनुषयज्ञ, (२) कैकेयी का वरदान और (३) भरत का आग्रह। धनुषयज्ञ के अवसर पर हमें जो आकुलता दिखाई देती है वह अन्यत्र नहीं। तुलसीदास ने इस अवसर पर हृदय की चटपटी का बहुत ही सरस और सुशील वर्णन किया है। इस अवसर पर चित्त में जो क्षिप्रता

दिखाई देती है वह द्वितीय 'अवसर' में पहुँचकर कुछ गंभीर हो जाती है, किंतु उसकी मति मंद नहीं पड़ती। वहाँ सभी आतुर से हो जाते हैं और व्यग्र हो पद पद में विवशता का अनुभव करते हैं। धनुषयज्ञ का संकट सबके लिये नहीं था। अतः उसमें केवल जनक के परिवार का हृदय उमड़ा है और सो भी विशेषतः पिता, पुत्री और माता का ही। परंतु अयोध्या में जो संकट पड़ा है उससे कोई अछूता नहीं रहा है। राम ने धनुष तोड़कर जैसे पहले संकट को दूर किया वैसे ही घर छोड़कर दूसरे संकट को भी। पहले में भी कुछ जीव दुखी हुए थे, पर दूसरे में कुछ जीवों को छोड़कर सभी दुखी हुए। तीसरा संकट और भी विकट निकला। आशा थी भरत राज्य करेंगे और चौदह वर्ष में राम भी वन से लौट आएँगे, पर बात ठीक इसके विपरीत निकली। भरत भी वन को चल पड़े। चित्रकूट में सबका चित्त उलझ गया और किसी की बुद्धि कोई मार्ग निकालने में सफल नहीं हुई। अंत में राम की चरणपादुका ने उस संकट को भी दूर किया और लोगों के हृदय की आँधी दूर हुई, वह जाती रही और सबके हृदय में आशा छा गई। इस प्रकार तुलसीदास ने इन तीनों अवसरों पर हृदय के भावों को बहुत ही रम्य और सजग रूप में प्रदर्शित किया और इसमें सफलता भी उनको ऐसी मिली है कि क्या कभी फिर किसी को ऐसी स्थिति में ऐसी दिव्य सफलता प्राप्त होगी। विह्वलता, व्यग्रता और व्यथा का ऐसा मार्मिक और मनोरम चित्रण अन्यत्र कहाँ? तुलसीदास ने वेदना को वाणी देने में जो सफलता प्राप्त की है वह उन्हीं की है। यदि किसी को भावमय शील का दर्शन करना है तो वह इसी खंड को देखे। इसमें शक्ति की अपेक्षा शील ही का महत्व है, और है सर्वत्र उसी का सरस शासन भी। शक्ति का प्रदर्शन तो 'सोन खंड' में हुआ है और स्वभाव का 'सिंधु खंड' में।

गोस्वामी तुलसीदास के सामने सबसे बड़ा संकट था स्त्री के रूप का। भक्त लोग स्त्री को, विशेषतः उसके रूप को, जिस रूप में देखते आए हैं उसको कहने की आवश्यकता नहीं।

विभाव

तुलसीदास भक्ति का प्रतिपादन करें और स्त्री के नखशिख को खोल दिखाएँ, यह कैसे संभव था? यह तो हुई भक्तिक्षेत्र की कठिनाई। इधर रस के प्रेमियों का

कहना है कि विभाव के उत्कर्ष के बिना रस का सच्चा परिपाक ही नहीं होता। नायिका के नखशिख के बिना रस को संतोष कहाँ। गोस्वामी जी इसी संकट में घिरे थे। किंतु उन्होंने इसको भी दूर किया और अपनी अनुपम रचना में नखशिख को भी ला दिया; परंतु सबके लिये नहीं, अधिकारियों के लिये ही और सो भी अपने ढंग पर रूपकातिशयोक्ति के रूप में ही। देखिए, वियोग की दशा में राम के सामने सीता का कौन सा रूप मँडरा रहा है। कहते हैं—

> हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी॥
> खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥
> कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥
> बरुनपास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
> श्रीफल कनक कदलि हरपाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
> सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरपे सकल पाइ जनु राजू॥
>
> —अरण्य, २४

नखशिख प्रेमियों के लिये तुलसीदास ने स्त्री के नखशिख को यहीं तक रहने दिया है। इसके आगे उनसे कुछ और करते न बना। तो भी उन्होंने संयोग में शृंगार रस का ऐसा दिव्य स्रोत बहाया कि वैसा पवित्र और प्रसन्न प्रवाह किसी से दिखाते न बना। पुष्पवाटिका में सीता और राम का जो मिलन होता है और उसमें जो 'चितवन' दिखाई देती है वही मारीचवध तक बनी रहती है। तुलसीदास ने किया यह है कि कुछ को अकथनीय के रूप में अंकित किया और कुछ को सरस रूप में चित्रित। उन्होंने इसी अकथनीय रूप में सीता के सौंदर्य अथवा स्त्री के रूप को भी रखा है। यह रूप राम के हृदय में किस प्रकार भिन्नता और सीता के हृदय में किस प्रकार रम जाता है इसको उन्होंने पुष्पवाटिका के प्रसंग मे बड़े ही मार्मिक ढंग से दिखाया है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि स्त्री और पुरुष की भावव्यंजना में भेद क्या होता है। यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि राम को सीता का पता चलता है 'कंकन किंकिन नूपुर धुनि' से और सीता को राम की सूचना मिलती है एक सखी के द्वारा। राम हृदय के क्षोभ को कह कर रह जाते हैं, पर सीता पर राम के दर्शन का प्रभाव यह पड़ता है कि समाधि लग जाती है—

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुबर छबि देखे। पलकन्हिहू परिहरी निमेखे॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी॥
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥

—बाल, २३७

राम इस दशा को कभी प्राप्त नहीं होते। उनके हृदय में तो बस सीता की मूर्ति बस जाती है अथवा वे उसे भलीभाँति अपने चित्त में उतार लेते हैं—

प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी॥
परम प्रेम मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्हीं॥

—बाल, २४०

गोस्वामीजी इस बात को ठीक ठीक समझते हैं कि स्त्री की भावना और पुरुष की भावना मे भेद क्या होता है। जब कभी जिस किसी अवसर पर उन्होंने इसको लिया है तब इसको दिखाया भी इसी रीति से है। रंगभूमि में राम को जिसने जिस रूप मे देखा वह तो संस्कृत की छाया कही जाती है अतएव उसे छोड़िए और देखिए यह कि धनुष के टूट जाने पर किसके हृदय में कैसी लहर दौड़ती है और किसको कैसा सुख प्राप्त होता है। लीजिए—

सखिन सहित हरषीं सब रानी। सूखत धानु परा जनु पानी॥
जनक लहेउ सुख सोच बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई॥
श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे 'दिवस दीप छबि छूटे॥
सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥
रामहिं लखन बिलोकत कैसे। ससिहि चकोर किसोरक जैसे॥

—बाल, २६८

इसमें भूपों को तो दूर कीजिए और रानी तथा राजा और सीता तथा लक्ष्मण के हृदय की थाह लीजिए और देखिए कि तुलसी ने एक के भाव को दूसरे से कैसे फरिया दिया है। देख लिया न, अप्रस्तुत से कैसा काम लिया गया है? कृपया 'चातकी' और 'चकोर' को न भूलिए।

एक ही भाव धीरे धीरे किस प्रकार हृदय पर अपना आसन जमाता और धीरे धीरे आश्रय को ढीठ बनाता जाता है इसको भी थोड़ा देख लीजिए। चातकी सीता राम के रूप को आँख भर देखना चाहती हैं, किंतु ऐसा कर नहीं पातीं। फलतः उनके नैनों की दशा यह हो जाती है—

प्रभुहि चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु विधुमंडल डोल॥

—वही, २६३

इस 'डोल' की गति पर ध्यान रखते हुए देखिए यह कि मन की बात हो जाने पर मन की स्थिति क्या हो जाती है और सीता की उससे कैसी ठन जाती है—

पुनि पुनि रामहिं चितव सिय, सकुचति मन सकुचै न।
हरत मनोहर मीन छबि, प्रेम पियासे नैन॥

—वही, ३३१

छबि भी ऐसी निखर जाती है कि अब 'मीन' का रंग फीका पड़ जाता है और मन तो यहाँ तक ढीठ हो जाता है कि सीता को उस अनुपम सौंदर्य के हेतु यह उपाय रचना पड़ता है—

निज पानि मनि महुँ देखियति मूरति सुरूप निधान की।
चालति न भुजबल्ली बिलोकनि बिरह भय बस जानकी॥

—वही, ३३२

धीरे धीरे यह भाव बहुत गहरा और प्रौढ़ हो जाता है। फिर भी यह भूलना न होगा कि शील कभी लज्जा और संकोच को छोड़ नहीं सकता। फलतः वनयात्रा में सीता को अपने पति का परिचय इस प्रकार देना पड़ता है—

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसकानी॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचित बर बरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लषन लघु देवर मोरे॥

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

—अयोध्या, ११७

'मन महुँ मुसकानी' पर मर्यादा का बहुत कड़ा अनुशासन है, अन्यथा बात तो कुछ खुलकर मुसकाने की ही है। 'कवितावली' में तुलसीदास ने इसी को इस रूप में अंकित भी किया है—

तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछू मुसकाइ चली।

—अयोध्या, २२

'कछू' हाँ कछू ही।

उधर राम की चितवनि की यह दशा है कि—

अस कहि फिर चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा॥
भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल॥

—बाल, २३५

राम को फिर सीता की ओर देखने का अवसर तब प्राप्त होता है जब वह रंगभूमि में आतीं और 'करिहिं मोहिं रघुबर कै दासी' की कामना करती हैं। गोस्वामी तुलसीदास भी इसी अवसर पर कहते हैं—

राम बिलोके लोग सब, चित्र लिखे से देखि।
चितईं सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि॥

—बाल, २६५

और फिर तो दोनों की दशा यह हो जाती है कि—

सिय राम अवलोकनि परस्पर प्रेम काहु न लखि परै।
मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसे करै॥

—वही, ३१८

किसी कवि को इस 'अगोचर अवलोकनि' के संकेत से संतोष नहीं हो सकता। वह तो जिस चितवनि की जोह में लगा है वह तो वह चितवनि है जिसको सभी एकटक देख सकें। अतएव उसका निश्चय है—

तुम अति हित चितइहौ नाथ तन बार बार प्रभु तुमहि चितैहैं।
यह सोभा सुख समय बिलोकत काहू तो पलकैं नहि लैहैं॥

—गीतावली, सुंदर, ५१

संयोग

राम और सीता के संयोगशृंगार के संबंध में यह जान लेना चाहिए कि तुलसीदास ने उसको बहुत ही दिव्य और सहज रूप में अंकित किया है। इसे देखना ही हो तो बस धीरे से चित्रकूट पहुँच जाइए और साँस रोक कर देखिए यह कि—

फटिक सिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललित-लता-जाल हरति छबि बितान की।
मन्दाकिनी तटिनि-तीर, मंजुल मृग बिहग भीर,
धीर मुनिगिरा गभीर सामगान की।

मधुकर पिक बरहि मुखर, सुंदर गिरि निर्झर झर।
जल कन घन छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ,
जनु बिहार बाटिका नृप पंचबान की।

बिरचित तहँ पर्नसाल, अति बिचित्र लखन लाल,
निवसत जहँ नित कृपालु राम-जानकी।
निज कर राजीव-नयन पल्लव-दल-रचित सयन,
प्यास परसपर पियूष प्रेमपान की।

सिव अंग लिखैं धातुराग, सुमननि भूषन-बिभाग,
तिलक करनि का कहौं कलानिधान की।
माधुरी बिलास हास, गावत जस तुलसिदास,
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की॥

—गीतावली, अयोध्या, ४४

गोस्वामी तुलसीदास के हृदय में जो जोड़ी इस प्रकार बस गई है वह है तो पुष्पवाटिका की ही जोड़ी, पर इसमें अब कुछ विशेषता आ गई है। राजधानी छोड़ते समय जिसको लेशमात्र भी क्लेश नहीं हुआ था उसी की दशा पुर से बाहर होते ही यह हो जाती है कि—

पुरतें निकसीं रघुबीर-बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये, मधुराधर वै।
फिरि बूझति हैं चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।

—कवितावली, अयोध्या, ११

राम की आँख में आँसू भी समा सकते हैं और सो भी 'तिय' के सरल से प्रश्न पर, इसको कौन जानता था। राम धीरे धीरे पहुँच गए उस स्थान पर जहाँ उनकी 'पर्णशाला' बनी और प्रिया को प्रेमपीयूष का पान मिला; किंतु वहाँ तक पहुँचने में कितने पानी की आवश्यकता पड़ी और राम की आँख से कितना पानी गिरा, इसका भी कुछ ठिकाना है? इस संयोग की वेदना भी कैसी दिव्य है कि सीता राम से कहती हैं—

जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखौ पिय, छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढे।
तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै, बैठि बिलंब लौं कंटक काढे।
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े।

—कवितावली, अयोध्या, १२

संयोग में सीता और राम की जब यह दशा है तब वियोग में कैसी होगी, इसे कोई भी समझ सकता है; परंतु इसी तुलसी के सामने दो ऐसी भी जोड़ियाँ हैं जिनकी दशा निराली है।

दंपति

जहाँ जहाँ कभी खटपट नहीं होती, वहाँ वहाँ सदा खटपट ही रहती है। बालि तारा की सुनता नहीं तो रावण मंदोदरी की मानता नहीं। दशरथ भी कैकेयी की मानना नहीं चाहते, पर मरते हैं उसकी मान कर ही। राम भी सीता को साथ लेना नहीं चाहते, पर चलते हैं सीता को साथ लेकर। बस, इन दंपतियों में विरोध एक ही बार हुआ और हुआ ऐसा कि सब की बन गई, पर उन दंपतियों में मेल कभी नहीं हुआ, पर उससे भी लाभ सबका हुआ। तुलसीदास ने दंपतिप्रेम को कब कहाँ और किस रूप में व्यक्त किया है, इस पर विचार करने का यह

अवसर नहीं। दिखाना तो इतना भर इष्ट है कि तुलसी किस प्रकार शृंगार को दिव्य और रम्य बनाते, साथ ही रहने उसे सदा देते हैं लौकिक ही। अच्छा होगा, राम और सीता के वियोग को दिखाने के पहले एक झाँकी रावण और मंदोदरी की भी ले ली जाय। देखिए, मंदोदरी रावण को समझाती है तो रावण कैसा प्रेम दिखाता है और भीतर ही भीतर कैसा विरस हो जाता है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

बिहँसा नारि बचन सुनि काना। अहो मोह महिमा बलवाना॥
नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिवेक असौच अदाया॥
रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहिं सुनावा॥
सो सब प्रिया सहजु बस मोरे। समुझि परा प्रसाद अब तोरे॥
जानेउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि बिधि कहेउ मोरि प्रभुताई॥
तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भय मोचनि॥
मदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पियहिं काल बस मतिभ्रम भयऊ॥

एहि बिधि करत बिनोद बहु, प्रात प्रगट दसकंध।
सहज असंक लंकपति, सभा गयेउ मद अंध॥

—लंका, १६

इस दंपतिरति की दशा ही कुछ और है। यहाँ 'प्रिया' की भरमार है, पर हृदय का प्रसार नहीं। यहाँ 'विनोद' की वार्ता है, पर विलास का हुलास नहीं। अतः इसे यहीं छोड़ देखिए यह कि तुलसी ने रामसीता के प्रेमप्रमोद को किस रूप में लिया है।

देखा, आपने देख लिया है कि चित्रकूट की रमणीय पर्णशाला में रमण ने रमणी के शृंगार में कैसा योग दिया है। अब मायाकृत वियोग का परिणाम भी देखिए। अच्छा, तो होते होते हुआ यह कि माया की सीता की कामना और लक्ष्मण की विवेकहीनता के कारण सीता का वियोग हो गया और राम को अपनी गृहस्थी ऐसी दीख पड़ी—

वियोग

आस्रम निरखि भूले द्रुम नव फले न फूले।
अलि खग मृग मानो कबहुँ न हे।

मुनि न मुनिबधूटी उजरी परन कुटी
पंचवटी पहिचानि ठाढ़ेइ रहे ॥ १ ॥

उठी न सलिल लिये प्रेम प्रमुदित हिये
प्रिया, न पुलकि प्रिय बचन कहे।
पल्लव सालन हेरी प्राण बल्लभा न टेरी
विरह बिथकि लखि लषन गहे ॥ २ ॥

देखे रघुपति-गति बिबुध बिकल अति
तुलसी गहन बिनु दहन दहे।
अनुज दियो भरोसो, तौलौं है सोचु खरो सो,
सिय समाचार प्रभु जौलौं न लहे ॥ ३ ॥

—गीतावली, अरण्य, १०

'उठी न सलिल लिये' में राम का जो पारिवारिक जीवन जंगल में सामने आता है वह रामचरितमानस में राजभवन में भी 'निज कर गृह-परिचर्या करई' के रूप में व्यक्त होता है और तुलसी के आदर्श को प्रस्तुत करता है। इस वियोग का परिणाम क्या हुआ इसको कौन नहीं जानता? किंतु इसके उपरांत जो महावियोग अपने आप मोल लिया गया उसको तुलसी सबको सर्वत्र नहीं बताना चाहते और रामचरितमानस में तो उसको सर्वथा पी ही जाते हैं और सीताराम के आनंद में किसी प्रकार का विघ्न पड़ने नहीं देते। उनके रामराज्य में किसी दुर्मति की आशंका नहीं, फिर कोई कुछ कहे तो कैसे कहे!

हाँ, गोस्वामी तुलसीदास करुणा के कवि हैं, वियोग के नहीं। वियोग उनको नहीं भाता। जब कभी वियोग का अवसर जहाँ कहीं आता है तब तुलसीदास सीधे से कह देते हैं कि कवि के हृदय में हुलास ही नहीं होता है, फिर वह इसका वर्णन कैसे करे। तुलसीदास की समझ में वियोग का वर्णन करना कठोरता का काम है, सहृदयता का नहीं। कहते हैं—

बरनत रघुबर भरत बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू॥
सो सकोचु रसु अकथ सुबानी। समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी॥

—अयोध्या, ३१८

जब राम और भरत के वियोग के प्रति कवि की यह धारणा है तब राम और सीता के वियोग में उसकी तल्लीनता कैसे हो सकती है? सो भी ऐसी स्थिति में जब उसे पता है कि यह बनावटी अथवा माया की सीता का वियोग है। कवि का इसी से तो यहाँ तक कहना है कि—

प्रभु की दसा सो समौ कहिबे को कवि उर आह न आई।

—गीतावली, अरण्य, ११

किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि कवि ने वियोगदशा का वर्णन ही नहीं किया है। नहीं, वियोग में राम की जो दशा होती है उसका वर्णन पहले ही आ चुका है। यहाँ कुछ सीता की दशा को भी देख लेना चाहिए। रामचरितमानस में कई अवसरों पर सीता के वियोग को अंकित किया गया है। 'हरण' के अवसर पर, हनुमान के प्रसंग पर और रावण के प्रपंच के समय हमारी दृष्टि में इन तीनों प्रसंगो में सबसे अच्छा प्रसंग है रावणवध का ही। इसी अवसर पर सीता के हृदय की सच्ची वेदना बही है। कहती हैं—

होइहि काह कहसि किन माता। केहि बिधि मरिहि बिस्व दुखदाता॥
रघुपति सर सिर कटेहु न मरई। बिधि बिपरीत चरित सब करई॥
मोर अभाग्य जिआवत ओही। जेहि हौ हरिपद कमल बिछोही॥
जेहि कृत कपट कनक मृग झूठा। अजहुँ सो दैव मोहिं पर रूठा॥
जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाए। लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए॥
रघुपति बिरह सबिष सर भारी। तकि तकि मारि बार बहु मारी॥

—लंका, ६६

क्षोभ, ग्लानि, चिंता, उद्वेग आदि भावों की जैसी व्यंजना इन थोड़े से पदों में हुई है वैसी और कहीं नहीं। 'गीतावली' में तुलसीदास' ने इस वियोग को और ही रूप में लिया है। देखिए हनुमान राम से कहते हैं—

तुम्हरे बिरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु, राम करुनानिधि, जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न।
लोचन नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचन कौन।
'हा धुनि' खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन।

जेहि बाटिका बसति तहँ खग मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहुँ तेहि मग पगु न धर्यो तिहुँ पौन।
तुलसिदास प्रभु, दसा सीय की मुख करि कहत होति अति गौन।
दीजै दरस दूरि कीजै दुख हौ तुम्ह आरत आरति दौन।

—सुंदर, १५

गोस्वामीजी की सच्ची धारणा यही है कि जी की वेदना जी से ही जानी जाती है, जीभ से वह बखानी नहीं जा सकती। उन्होंने सूत्र रूप से प्रेम के मर्म को इस चौपाई में मथकर रख दिया है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं॥

—सुंदर, १५

और इस पद में सविस्तर दिखा भी दिया है—

कपि के चलत सिय को मन गहबरि आयो।
पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयनन्हि छायो॥
कहन चह्यो सन्देस, नहि कह्यो, पिय के जिय की जानि हृदय दुसह दुख दुरायो।
देखि दसा व्याकुल हरीस, ग्रीसम के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो॥
मीच तें नीच लगी अमरता, छल को न बल को निरखि थल परुष प्रेम पायो।
कै प्रबोध मातु सो' असीस दीन्ही ह्वैहै तिहारोई मन भायो॥
करुना कोप लाज भय भरो कियो गौन, मौन ही चरन कमल सीस नायो।
यह सनेह-सरबस समौ तुलसी-रसना रूखी ताही तें परत गायो॥

—गीतावली, सुंदर, १५

रामचरित में केवल पतिपत्नी का ही वियोग नहीं है; उसमें एक प्रकार से सभी का सबसे कुछ न कुछ वियोग है ही। राम के भावी वियोग से लक्ष्मण की जो दशा होती है उसको तो थोड़े में ही तुलसी-दास ने टाल दिया है, किंतु लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर राम के हृदय में जो वेदना उठी हुई है उसको कुछ दूर तक चलने दिया है। रामचरितमानस में राम की व्याकुलता दो अवसरों पर उबल पड़ी है और उनका प्राकृत रूप सर्वथा निखर कर हमारे सामने आ गया है। इनमें एक तो सीताहरण के अवसर पर जब वह पशुपक्षियों से सीता

का पता पूछते हैं और दूसरा लक्ष्मणशयन पर जब वह मूर्च्छित हो पृथ्वी पर पड़ जाते हैं। राम का यह विलाप उनके भ्रातृस्नेह को व्यक्त करता है—

जौं जनत्यों बन बन्धु बिछोहू। पिता बचन नहिं मनतेउँ ओहू ॥

पर तो न जाने कितना विवाद होगा, पर है वस्तुतः इसमें उनकी मर्म-व्यथा ही का उत्कर्ष।

तो भी, वियोग के वर्णन में तुलसी को सच्ची सफलता मिली है कौशल्या के प्रसंग में ही। वियोग की जैसी गहरी और व्यापक अनुभूति कौशल्या को हुई है वैसी किसी दूसरे को नहीं। रामचरितमानस में उनकी वियोग-दशा का चित्रण है, तो 'गीतावली' में उनके वियोगी हृदय का। उनके हृदय में कैसा उन्माद छा गया है इसको देखना हो तो इस पद को पढ़ें—

वात्सल्य

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार बार उर नैननि लावति प्रभु जू की ललित पनहियाँ॥
कबहुँ प्रथम ज्यों जाय जगावति कहि प्रिय बचन सकारे।
'उठहु तात, बलि मातु बदन पर, अनुज सखा सब द्वारे'।
कबहुँ कहति यों 'बड़ी बार भइ जाहु भूप पहँ, भैया।
बंधु बोलि जेईय जो भावै गई निछावरि मैया'॥
कबहुँ समुझि बन गवन राम को रहि चकि चित्र लिखी सी।
तुलसिदास वह समय कहे ते लागति प्रीति सिखी सी॥

—गीतावली, अयोध्या,

'सिखी सी' की व्याख्या क्या करें? सचेत दशा में उनकी मर्म-व्यथा को जानना हो तो जान लें कि—

माई री, मोहिं कोउ न समुझावै।
राम-गवन साँचो किधौं सपनो, मन परतीति न आवै॥
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम लषन अरु सीता।
तदपि न मिटइ दाह या उर को विधि जो भयउ बिपरीता।
दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे।
करत न प्रान पयान सुनहु सखि अरुझि परी यहि लेखे॥

कौसल्या के बिरह-बचन सुनि रोइ उठीं सब रानी।
तुलसिदास रघुबीर-बिरह की पीर न जात बखानी॥

—वही, ५३

सचमुच रघुवीर का विरह था ऐसा ही कि उसका वर्णन नहीं हो सकता, किंतु इसका पछतावा भी तो कम नहीं कि सुत को वन में छोड़कर भवन में चली आई ? निदान—

हाथ मीजिबौ हाथ रह्यौ।
लगी न संग चित्रकूटहु ते ह्यॉ कहॉ जात यह्यो॥
पति सुरपुर सिय राम लषन बन, मुनिव्रत भरत गह्यो।
हौ रहि घर मसान पावक ज्यो मरिबोइ मृतक दह्यो॥
मेरोइ हिय कठोर करिवे कहॅ विधि कहुॅ कुलिस लह्यो।
तुलसी बन पहुॅचाइ फिरी सुत, क्यो कछु परत कह्यो॥

—वही, ८४

[गोस्वामी तुलसीदास ने विरहवेदना को और व्यापक रूप देने के विचार से पशुपक्षियों को लिया है।] राम के वियोग में उनके 'बाजि' की जो दशा होती है उसको देखकर माता कौशल्या और भी द्रवित हो जाती हैं और सहसा फूटकर कह पड़ती हैं—

राघो एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहि सिधावौ॥
जे पय प्याय पोखि कर पंकज बार-बार चुचकारे॥
क्यो जीवहिं मेरे राम लाड़ले! ते अब निपट बिसारे॥
भरत सौगुनी सार करत हैं अति प्रिय जान तिहारे॥
तदपि दिनहिं दिन होत झॉवरे मनहु कमल हिम मारे॥
सुनहु पथिक जो राम मिलहि बन कहियो मातु सॅदेसो॥
तुलसी मोहिं और सबहिन ते इनको बड़ो अॅदेसो॥

—वही, ८७

उधर शुक सारो की दशा यह है कि उनमें भी इस व्यापक वियोग की चर्चा छिड़ती है, पर एक कुहुक के साथ वह भी वहीं की वहीं रह जाती है—

सुक सों गहबर हिय कहै सारो।
बीर कीर, सिय राम लषन बिनु लागत जग अँधियारो॥
पापिन चेरि, अयानि रानि, नृप हित अनहित न बिचारो।
कुलगुरु सचिव साधु सोचतु विधि को न बसाइ उजारो?
अवलोके न चलत भरि लोचन, नगर कोलाहल भारो।
सुने न बचन करुनाकर के जब पुर परिवार सँभारो॥
भैया भरत भावते के संग बन सब लोग सिधारो।
हम पँख पाइ पींजरनि तरसत, अधिक अभाग हमारो॥
सुनि खग कहत अंब, मौंगी रहि समुझि प्रेम पथ न्यारो।
गए ते प्रभुहिं पहुँचाइ फिरे पुनि करत करम गुन गारो॥
जीवन जग जानकी लषन को मरन महीप सँवारो।
तुलसी और प्रीति की चरचा करत कहा कछु चारो॥

—वही, ६६

नहीं, राम के वियोग से दुःखी तो सभी हुए, किंतु सभी ने जैसे-तैसे उसे सहा ही। वह जिसके लिये असह्य हुआ वह दशरथ ही? निदान उसका मानसिक पश्चात्ताप है—

मुएउ न मिटैगो मेरो मानसिक पछताव।
नारिबस न बिचार कीन्हो काज, सोचत राउ॥
तिलक को बोल्यो, दियो बन, चौगुनो चित चाउ।
हृदय दाड़िम ज्यों न बिदर्यो समुझि सील सुभाउ॥
सीय रघुबर लषन बिनु भय भभरि भगी न आउ।
मोहि बूझि न परत याते कौन कठिन कुघाउ॥
सुनि सुमंत, कि आनि सुंदर सुवन सहित जिआउ।
दास तुलसी, नतरु मोको मरन अमिय पिआउ॥

—वही, ५७

माता कौसल्या के 'मरिबोइ मृतक दह्यो है' और पिता दशरथ के 'मरन अमिय पिआउ' में क्या नहीं बसा है? वेदना की ये दो आँखें कभी बंद नहीं हो सकतीं और अवध की सारी

करुणा

स्थिति को स्पष्ट कहने के लिये सदा खुली रहती हैं। महाराज दशरथ के आँख मूँदने पर अवध में वैसा शोकसागर नहीं उमड़ा जैसा उनके कैकेयी के वरदान देने

पर उमड़ा था। रामचरितमानस में केवल दो निधन ऐसे हुए हैं जो राम के पक्ष के हैं। इन दोनो के प्रति शोक की बाढ़ वह नहीं आती जो ऐसे अवसरों पर आया करती है। इनमें से भी दशरथ का मरण ऐसे अवसर पर हुआ जब अवध में कोई उनका उत्तराधिकारी नहीं रह गया था। राम-लक्ष्मण बन को जा चुके थे और भरत-शत्रुघ्न अभी ननिहाल में ही पड़े थे। ऐसी स्थिति में सबको राज्य की चिंता हुई और सभी इस तर्कवितर्क में पड़ गए कि भरत आकर क्या करेंगे। उधर राम और इधर भरत की स्थिति ने स्नेहियों को अपने हाथ में ऐसा समेट कर जकड़ लिया कि दशरथ के लिये किसी के हृदय में उतना स्थान ही नहीं रहा जितना ऐसे अवसर पर स्वभावतः रह सकता था। उधर दशरथसखा बूढ़े जटायु की स्थिति यह है कि उसको राम की गोद में मरने मे जो आनंद आता है वह किसी जीवन में नहीं, अतः उसके प्रति भी शोक का कोई स्थान नहीं। अब रही विपक्ष की बात। विपक्ष में कई अवसरों पर शोक का प्रसंग आया है, पर कहीं भी उसको विलपने से आगे नहीं बढ़ने दिया गया है। इसका कारण एक तो गोस्वामीजी की प्रवृत्ति है, जिसका उल्लेख पहले भी हो चुका है और दूसरा है आलंबन के प्रति लोगों की अवज्ञा। मेघनाद, कुंभकर्ण और रावण जैसे वीर योद्धाओं के निधन पर स्त्रियाँ रोती अवश्य हैं, पर साथ ही उनके हृदय में यह भी भाव बना रहता है कि राम के विरोध का परिणाम यही होना था। रावण जैसे प्रतापी वीर के प्रति उसकी पत्नी मंदोदरी की जो भावना है वह उसके शोक को बहुत दूर तक फैलने नही देती और अंत में सबको समेटकर उसे राम का भक्त बना देती है। उसका कहना है—

राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कुल कोउ रोवनिहारा॥
तव बस बिधि प्रपंच सब नाथा। सभय दिसिप नित नावहिं माथा॥
अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं। राम बिमुख यह अनुचित नाहीं॥
—लंका, १०४

तात्पर्य यह कि रामचरितमानस में जो शोक उमड़ता है वह अनिष्ट के कारण नहीं, अनिष्ट की चिंता में। तुलसीदास ने अनिष्ट की चिंता से अवध को जितना शोकमग्न किया है उतना किसी अनिष्ट से कभी

किसी ने किसी को नहीं। काव्य में जैसी करुण विप्रलंभ की ख्याति है वैसी ही तुलसी के 'मानस' में करुण संभोग की भी। कैकेयी और दशरथ का कोपभवन का प्रसंग ही इसके लिये पर्याप्त है और सारा अवधकांड ही इसका प्रमाण है। अवधवासी ऐसी स्थिति में एक दूसरे से मिलकर कितना दुखी और शोकमग्न होते हैं उतना एकांत में नहीं। तुलसीदास की यह विशेषता विशेष रूप से विचारणीय है और इसको देखते हुए मानना पड़ता है कि शोक की जैसी परख तुलसी की है वैसी किसी की नहीं। 'उत्तर रामचरित' मे भवभूति ने राम को रुलाया है, पर उनका रोना सबको नहीं भाया। रामचरितमानस में राम रोते नहीं, पर अवध की सुधि आते ही उनकी आँखों में भी आँसू आ ही जाते हैं। रामचरितमानस में जी सभी का रोता है, पर रोने का काम किसी का नहीं होता। सभी को अपने धर्म और अपने कर्म की चिंता है। अस्तु, रामचरितमानस में जो करुण धारा दिखाई देती है वह अनिष्ट की आशंका से उत्पन्न होती और धीरे धीरे बहुत ही व्याप्त होती जाती है। वास्तव में तुलसीदास ने विषाद को वाणी के रूप मे बहाया है, पर कहीं उसको वाचाल नहीं होने दिया है। इसीसे उसकी अनुभूति भी सहज, गंभीर और निर्भ्रांत होती है, जो जी से निकलकर जी में पैठती और उसको करुणा का घर बना लेती है।

तुलसीदास ने इस प्रसंग में इतना और भी किया है कि काम और क्रोध को एक साथ ही एक ही प्रसंग मे पकड़ा है और अंत में बड़ी सरलता से दिखा दिया है कि काम और क्रोध का दुष्परिणाम अंत में शोक ही कैसे होता है। दशरथ में काम और कैकेयी में कोप, यही तो कोपभवन की लीला है ? राजा दशरथ उमंग में आकर जब कहते हैं—

कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू॥
सकौं तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर नारी॥
जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मनु तव आनन चंद चकोरू॥

—अयोध्या, २६

तब काम की दृष्टि से कोई बड़ी बात नहीं होती और फलतः उधर से भी यही सीधी सी बात निकलती है—

सुनहु प्रान प्रिय भावत जी का । देहु एक बर भरतहि टीका ॥
माँगहुँ दूसर बर कर जोरी । पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ॥
तापस बेष बिसेषि उदासी । चौदह बरिस राम बनवासी ॥

—वही, २६

बात बहुत सीधी है, पर परिणाम ऐसा भयंकर होता है कि—

सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू । ससि कर छुवत बिकल जिमि कोकू ॥
गयेउ सहमि नहिं कछु कहि आवा । जनु सचान बन झपटेउ लावा ॥
बिबरन भयेउ निपट नरपालू । दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू ॥
माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन । तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन ॥
मोर मनोरथ सुरतरु फूला । फरत करिनि जिमि हतेउ समूला ॥
अवध उजारि कीन्हि कैकेई । दीन्हेसि अचल बिपति कै नेई ॥

—वही, २६

दशरथ का इतना झंखना था कि कैकेयी और भी उबल पड़ी और उसका काम क्रोध में परिणत हो गया । फिर तो—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढी । मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी ॥
पाप पहार प्रगट भइ सोई । भरी क्रोध जल जाइ न जोई ॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा । भँवर कूबरी बचन प्रचारा ॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला । चली बिपति बारिधि अनुकूला ॥
लखी नरेस बात फुरि साँची । तिय मिस मीचु सीस पर नाँची ॥

—वही, ३४

अवध के इस काम और इस रोष का परिणाम यह हुआ कि विषाद घर घर में फैल गया और, और तो और सचिव सुमंत्र की दशा भी ऐसी हो गई कि—

लोचन सजल दीठि भइ थोरी । सुनइ न स्रवन बिकल मति भोरी ॥
सूखहि अधर लागि मुँह लाटी । जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी ॥

—वही, १४५

उन्हीं के नहीं, सच पूछिए तो इसी अवधि कपाट ने सबके जीव की रक्षा की, नहीं तो रामवियोग में न जाने अवध में क्या हो जाता । गोस्वामीजी ने काम और क्रोध के मिलेजुले रूप को पहले मिथिला में भी लिया था और यह जता भी दिया था कि इसका परिणाम सुखद ही

क्यों हुआ। काम और क्रोध की स्थिति को ठीक ठीक समझने और उनके द्वारा इष्ट तक पहुँचने का मार्ग यदि ढूँढ़ निकालना हो तो तुलसी के 'मानस' का अवगाहन करें।

क्रोध का सबसे अच्छा और प्रखर प्रसंग परशुराम के संवाद में ही हमारे सामने आया है। रौद्र रस के परिपाक के लिये तुलसीदास ने इसी रुद्र परशुराम और कौतुकी लक्ष्मण को लिया है। और आगे चलकर कुछ रावण तथा अंगद को भी। दोनों प्रसंगों में वक्रोक्ति अथवा व्यंग्य का विधान भी भरपूर हुआ है और लगती हुई बात भी कसकर कही गई है। परंतु जोड़तोड़ ठीक न होने के कारण उसमें थोड़ी सी कमी आ गई है। स्वयं तुलसीदास ने 'अनुचित कहि सब लोग पुकारा' में इसकी व्यंजना कर दी है। इसके अतिरिक्त समरभूमि में जहाँ तहाँ इसके दर्शन होते हैं और वीर तथा भयानक के साथ साथ इसका भी आना जाना होता रहता है। रावणसभा में अंगद ने जो अपना क्रोध दिखाया था वह था—

रौद्र

कटकटान कपि कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि गहि मारी॥
डोलत धरनि सभासद खसे। चले भाजि भय मारुत ग्रसे॥
गिरत सँभारि उठा दसकंधर। भूतल परे मुकुट अति सुंदर॥

—लंका, ३२

अंगद के प्रताप से रावण के तेज की जो हानि हुई वह यहाँ तक बढ़ती गई कि अंत में उसका कायर भाई विभीषण भी उसके लिये भीम बन गया और—

देखि विभीषण प्रभु स्रम पायो। गहि कर गदा क्रुद्ध होइ धायो॥

—लंका, ९४

क्रोध के प्रसंग में भूलना न होगा कि इस क्रोध पर तुलसी का नियंत्रण भी पूरा रहा है। धनुषयज्ञ के अवसर पर जब लक्ष्मण के कान में 'बीर-विहीन मही मैं जानी' की ध्वनि पड़ती है तब उनके क्रोध की सीमा नहीं रह जाती, पर वह राम की उपस्थिति के कारण अपनी मर्यादा को तोड़ भी नहीं सकता। उस समय की स्थिति यह हो जाती है कि एक ही लक्ष्मण का हृदय उधर जनक को देखकर क्रुद्ध हो

जाता है तो इधर राम के कारण उसे विनीत होना पड़ता है। फिर भी क्रोध का वेग ऐसा मंद नहीं कि वह सहसा हाथ में आ जाय और अपना करतब न दिखाए। निदान होता यह है—

माखे लषनु कुटिल भै भौहैं। रदपट फरकत नयन रिसौहैं॥

कहि न सकत रघुबीर डर, लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिर, बोले गिरा प्रमान॥

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। विद्यमान रघुकुल मनि जानी॥
सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहौ सुभाव न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुसासनि पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक इव तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना॥
नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुक करौं विलोकिय सोऊ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥

तोरौं छत्रकदंड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जौ न करौ प्रभु पद सपथ, कर न धरौं धनु भाथ॥

—बाल, २५७-५८

लक्ष्मण के इस कथन में किसी रसमीमांसक को चाहे जितना दोष दिखाई दे और इस 'रिसौंहैं' के कारण तुलसीदास पर चाहे जितना नाक भौं चढ़ाये, पर खरी बात तो यह है कि रस का यह आस्वाद अपूर्व है। व्यंग्य, कूट और प्रहेलिका के पुजारी चाहे जो कहें, पर यह तो माना नहीं जा सकता कि किसी रस के प्रसंग में उसका नाम आया नहीं, उसके नाम की गंध मिली नहीं कि उसका आस्वाद नष्ट गया। यह और कुछ नहीं कुतूहल और अद्भुत को बहुत महत्व देने का परिणाम है। अतएव हमारा कहना यह है कि यहाँ तुलसीदास ने जो कहा है, समझकर कहा है और यह दिखाने की सफल चेष्टा की है कि क्रोध का भाव क्या होता है और परिस्थिति में पड़कर कैसा रंग पकड़ता है। कायिक और वाचिक अनुभावों पर विचार करते समय भूलना न होगा कि हमारा वचन पर जितना अधिकार होता है उतना काया पर नहीं। आपका वाणी पर जैसा अनुशासन होता है आँख पर नहीं।

आँख पर भाव का प्रभाव सहसा पड़ता है और दाँत पीसकर रह जाना तो रूढ़ हो गया है। सारांश यह कि तुलसी ने यहाँ क्रोध की अच्छी व्यंजना की है। स्मरण रहे, यह क्रोध उभरा है तो राजा जनक की अनुचित वाणी के कारण, पर यह अपना करतब दिखाना चाहता है पिनाक पर। कारण, पिनाक ही तो सबका कारण है। परंतु अड़चन यह आ गई है कि राम की आज्ञा के बिना कुछ हो नहीं सकता और राम मौन मारे हैं। निदान लक्ष्मण को भी कुछ संयम से काम लेना पड़ा और उनके क्रोध की धारा कुछ दूसरी ओर भी मुड़ी। राम, जनक और पिनाक, इन तीनों पर उनकी दृष्टि पड़ी और इन तीनों का उनके चित्त पर प्रभाव भी पड़ा। उनका आवेग भीतर से वही बना रहा और तुलसी को इसी हेतु कहना पड़ा—'लषन सकोप बचन जे बोले, डगमगानि महि दिग्गज डोले।' सकोप को यों ही नहीं टाला जा सकता। आगे के उत्साह का प्रेरक भी यही है। लक्ष्मण में जो उत्साह इस अवसर पर दिखाई देता है वह इसी कोप के प्रभाव से। कोप कायर नहीं कि चुपचाप किसी को सह ले और अपना मुँह भी न खोले। आँख दिखाए बिना क्रोध से रहा नहीं जाता। कीजिएगा क्या? उसका स्वभाव ही यही है।

लक्ष्मण पहले ही से भरे बैठे थे। कायर और कुपूत भूपों की बातों पर उन्हें क्रोध आ रहा था; किंतु राम का भय भी कुछ कम न था। बात भी कोई वैसी न थी। फलतः—

अरुन नयन भृकुटी कुटिल, चितवत नृपन सकोप।
मनहुँ मत्त गज गन निरखि, सिंह किसोरहु चोप॥

—वही, २७२

इसी अवसर पर घटा यह—

तेहि अवसर सुनि सिव धनुभंगा। आए भृगुकुल कमल पतंगा॥
देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने॥
गौर सरीर भूति भल भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा॥
सीस जटा ससि बदन सुहावा। रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा॥
भृकुटी कुटिल नयन रिसि राते। सहजहु चितवत मनहुँ रिसाते॥
बृषभ कंध उर बाहु बिसाला। चारु जनेउ माल मृग छाला॥
कटि मुनिबसन तून दुइ बाँधें। धनु सर कर कुठार कल काँधें॥

सांत बेष करनी कठिन, बरनि न जाइ सरूप।
धरि मुनि तन जनु बीर रसु, आयउ जहँ सब भूप ॥

—वही, २७३

तुलसी ने परशुराम के जिस वीर रूप का चित्रण किया है वह विचित्र है। उसमें क्रोध है और है उत्साह; पर देखने का वेष है शम-।' यही दशा इस प्रसंग की भी है। इसमें परशुराम, राम और लक्ष्मण के भावों का उतारचढ़ाव देखते ही बनता है। उधर भूपों की बातों से लक्ष्मण भरे बैठे थे, इधर पिनाक के टूट जाने से परशुराम भी क्रुद्ध थे। फिर क्या था, क्रोध से क्रोध की भिड़ंत हो गई। राम ने बीचबचाव का यत्न किया तो उनको भी इसका फल भोगना पड़ा और अंत में उनमें भी कुछ क्रोध का दर्शन हो ही गया। उन्होंने भी मन ही मन खीझकर कुछ बड़ी गंभीरता से कहा—

जौ हम निदरहि बिप्र बदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभट जेहि, भयबस नावहिं माथ ॥

—वही, २८८

बात ठिकाने की थी, घर कर गई। क्रोध का काम शांति से निकल गया और उसका प्रदर्शन भी अच्छा हो गया। परशुराम बड़े से बड़े और लक्ष्मण छोटे से छोटे थे। जोड़ की विषमता परिस्थिति की विषमता से बढ़कर थी। किंतु राम की विशालता से सब सध गया। काम और क्रोध का फल सुखद रहा। क्रोध का दुष्परिणाम हुआ लंका में। विभीषण ने रावण को सुझाकर कहा कि 'काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ' तो उसने उसकी अवहेलना की और अंत में—

सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई ॥
जियसि सदा सठ मोर जियावा। रिपु कर पच्छ मूढ तोहि भावा ॥
कहसि न खल अस को जग माहीं। भुजबल जेहि जीता मैं नाहीं ॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती ॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा ॥

—सुंदरकांड, ४१८

और इस 'प्रहार' का परिणाम हुआ 'दशानन' का 'संहार' और इस 'पदग्रहण' का प्रसाद हुआ 'लंकेश' की पदप्राप्ति। फिर तो विभी-

षण भी राम का बल पाकर इतना प्रतापी बना कि उसने रावण पर झपट कर आक्रमण किया और डपटकर कहा—

रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे। तैं सुर नर मुनि नाग बिरुद्धे॥
सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाये। एक एक के कोटिन्ह पाए॥
तेहि कारन खल अब लगि बाँच्यो। अब तव काल सीस पर नाच्यो॥
राम बिमुख सठ चहसि संपदा। अस कहि हनेसि माँझ उर गदा॥

—लंका, ९४

रावण का क्रोध जगा तो ऐसा संग्राम हुआ कि—

भागे बानर धरहिं न धीरा। त्राहि त्राहि लछिमन रघुबीरा॥
दस दिसि धावहिं कोटिन्ह रावन। गर्जहिं घोर कठोर भयावन॥
डरे सकल सुर चले पराई। जय कै आस तजहु अब भाई॥

—लंका, ९६

रावण का उत्साह प्रतिपल बढ़ता गया और रणभूमि का दृश्य

भयानक

और भी भयंकर हो उठा। क्रोध, उत्साह, जुगुप्सा ने एक साथ धावा बोल दिया और—

जोगिनि गहे कर बाल। एक हाथ मनुज कपाल॥
करि सद्य सोनित पान। नाचहिं करहिं बहु गान॥
धरु मारु बोलहिं घोर। रहि पूर धुनि चहुँ ओर॥
मुख बाइ धावहिं खान। तब लगे कीस परान॥
जहँ जाहिं मरकट भागि। तहँ बरत देखहिं आगि॥

—लंका, १०१

भय! किंतु यह तो भय का स्फुट रूप रहा, जो कहीं कहीं रणभूमि में दिखाई दिया और कल्पित आग के कारण भड़क उठा है। उधर लंका में जो सच्ची आग लगी है वह किसी दावाग्नि से कम नहीं है। वहाँ की स्थिति तो और भी भयंकर है। देखिए कैसा हाहाकार है—

जहाँ तहाँ बुबुक बिलोकि बुबकारी देत,
बरत निकेत धाओ धाओ लागि आगि रे।
कहाँ तात, मात, भ्रात, भगिनी, भामिनी, भाभी,
ढोटे छोटे छोहरा अभागे भोरे भागि रे॥

हाथी छोरो, घोरा छोरो, महिष बृषभ छोरो,
छेरी छोरो, सोवै सो जगावो जागि जागि रे।
तुलसी विलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
बार बार कह्यो पिय कपि सो न लागि रे॥

—कवितावली, सुंदर, ६

किंतु यह पुकार उस व्यापक भय के सामने कुछ कर न सकी और हुआ यह कि—

'लागि लागि आगि', भागि भागि चले जहाँ जहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार बसन उघारे, धूम धुंध अंध;
कहैं बारे बूढ़े 'बारि बारि' बार बारहीं॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेल पेलि रौंद खौंद डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
तात तात! तौंसियत झौंसियत झारहीं॥

—वही, १५

परंतु जायँ तो कहाँ जायँ। भय की आकुलता में चारों ओर बानर ही बानर तो दिखाई देता है—

बीथिका बजार प्रति, अटनि अगार प्रति,
पँवरि पागर प्रति बानर बिलोकिये।
अर्ध ऊर्द्ध बानर, बिदिसि दिसि बानर है,
मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिये॥
मूदे आँख हीय में, उघारे आँख आगे ठाढ़ो,
धाइ जाइ जहाँ तहाँ और कोऊ को किए?
लेहु अब लेहु, तब कोउ न सिखाओ मानो,
सोइ सतराइ जाइ जाहि जाहि रोकिए॥

—वही, १७

रावण सा वीर पुरुष इस भयावह दृश्य से विचलित नहीं होता और क्रोध कर 'प्रलय-पयोद' को आज्ञा देता है—

उत रावन इत राम दोहाई। जयति जयति जय परी लराई॥
निसिचर सिखर समूह ढहावहिं। कूदि धरहिं कपि फेरि चलावहिं॥

धरि कुधर खंड प्रचंड मर्कट भालु गढ़ पर डारहीं।
झपटहिं चरन गहि पटकि महि भजि चलत बहुरि प्रचारहीं॥
अति तरल तरुन प्रताप तरपहिं तमकि गढ़ चढ़ि चढ़ि गए।
कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ राम जसु गावत भए॥

एक एक निसिचर गहि, पुनि कपि चले पराइ।
ऊपर आपुनु हेठ भट, गिरहिं धरनि पर आइ॥

—लंका, ४१

इन भटों की विशेषता अपनी अपनी वीरता के साथ दृष्टिपथ में न आ रही हो तो रामचरितमानस का मनन ध्यान से करें और यह जान लें कि तुलसी की दृष्टि यहाँ भी कैसी पैनी है। यहाँ केवल हनुमान का युद्ध लें और देखें यह कि—

हाथिन सों हाथी मारे, घोरे घोरे सों सहारे,
रथनि सों रथ बिदरनि बलवान की।
चंचल चपेट चोट चरन चकोट चाहें,
हहराती फौजें महरानी जातुधान की॥
बार बार सेवक सराहना करत राम,
तुलसी सराहै रीति साहेब सुजान की।
लाँबी लूम लसत लपेटि पटकत भट,
देखौ देखौ, लषन, लरनि हनूमान की॥

—कवितावली, लंका, ४०

राम, लक्ष्मण और हनुमान के संहारने में क्या भेद है, यह भी एक घनाक्षरी से व्यक्त हो जाता है। कहते हैं—

अंग अंग दलित ललित फूले किंसुक से,
हने भट लाखन लषन जातुधान के।
मारि कै पछारे कै उपारि भुजदंड चंड,
खंड खंड डारे ते बिदारे हनुमान के॥

कूदत कबंध के कदंब बंब सी करत,
धावत दिखावत हैं लाघौ राघौ बान के।
तुलसी महेस, बिधि, लोकपाल, देवगन
देखत विमान चढ़े कौतुक मसान के॥

—वही, लंका, ४८

इस मसान में जो कुछ हो रहा है, उसकी चर्चा आगे आ रही है। यहाँ इतना और भी कह देना है कि तुलसीदास ने जो कुछ जिस किसी की वीरता में लिखा है वह बहुत कुछ समझ कर ही। कहना चाहें तो यहाँ तक कह सकते हैं कि उन्होंने जो कुछ लिखा है अपनी आँखों देख कर लिखा है। उसका अध्ययन करने से आप ही अवगत हो जाता है कि नर, बानर, भालू और राक्षस की युद्धकला में क्या भेद है और किसका उत्साह कब कैसा रूप पकड़ता अथवा रंग दिखाता है। तुलसी ने गीतावली में हनुमान के जिस उत्साह को दिखाया है वह और भी साहस और संकल्प से परिपूर्ण है। समय भी कैसी विपत्ति का है। लक्ष्मण को शक्ति लगी है। सूरज निकला नहीं कि उनका अंत हुआ। उपाय है, पर सहज नहीं। निदान हनूमान का उद्घोष है—

जौ हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥
कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृतकुंड महि लावौं।
भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥
बिबुध-बैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं।
पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहिं को पापु बहावौं॥
तुम्हरिहिं कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं।
दीजै सोइ आयसु तुलसी प्रभु जेहि तुम्हरे मन भावौं॥

—गीतावली, लंका, ८

सारांश यह कि तुलसीदास ने वीर रस के वर्णन में भी सच्ची सफलता प्राप्त की है और उत्साह को भी सभी प्रकार से व्यापक बनाने की पूरी चेष्टा की है। उनका यह प्रयास परम प्रशंसा का पात्र है।

हाँ, तो रणभूमि में जो कांड मचता है उसमें वीरों को आनंद तो तभी तक आता है जब तक वे उसके अंग बने रहते हैं; परंतु कुछ ऐसी योनियाँ भी हैं, जिनको यही अवसर परम प्रिय होता है और रणभूमि की रक्तमयी धारा ही उनके आनंद की धारा होती है। इस अवसर पर जोगिनी, झुटुंग आदि का उल्लेख कर कवि लोग वीभत्स रस दिखाना चाहते हैं। तुलसीदास ने ऐसा तो किया ही है; किंतु इसके साथ ही साथ कुछ और भी दिखाया है। देखिए, मेघनाद की माया से रणभूमि में कैसा दृश्य उपस्थित हो जाता है—

वीभत्स

नभ चढ़ि बरसहिं बिपुल अँगारा। महि तें प्रगट होहिं जलधारा॥
नाना भाँति पिसाच पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिं नाची॥
बिष्ठा पूय रुधिर कच हाड़ा। बरषै कबहुँ उपल बहु छाड़ा॥
बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथ पसारा॥
कपि अकुलाने माया देखें। सब कर मरनु बना एहि लेखें॥

—लंका, ५२

और उधर भूत पिशाच भी रणभूमि में राम की कृपा से कैसा उत्सव मना रहे हैं—

मज्जहिं भूत पिसाच बिताला। प्रथम महा झोटिंग कराला॥
काक कंक लै भुजा उड़ाहीं। एक ते छीनि एक लै खाहीं॥
एक कहहिं ऐसिउ सौंघाई। सठहु तुम्हार दरिद्रु न जाई॥
कहरत भट घायल तट गिरे। जहँ तहँ मनहुँ अर्धजल परे॥
खैंचहिं गीध आँत तट भए। जनु बंसी खेलत चित दए॥
बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं। जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं॥
जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहिं। भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं॥
भट कपाल करताल बजावहिं। चामुंडा नाना बिधि गावहिं॥
जंबुक निकर कटक्कट कट्टहिं। खाहिं हुहाहिं अघाहिं दपट्टहिं॥
कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोल्लहिं। सीप परे महि जय जय बोल्लहिं॥

—लंका, ८८

ऐसे महामहोत्सव में भला भूतनाथ योग न दें और किसी तापसी का कोई तप भी न सधे, यह कैसे संभव हो सकता है? निदान—

ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेली बाँधे,
मूड के कमंडलु, खपर किये कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
तीर तीर बैठी सो समर-सरि खोरि कै॥
सोनित सो सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिये भूतनाथ,
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै॥

—कवितावली, लंका, ५०

हास

भूतनाथ की हँसी बेतुकी होती है। कहते हैं, रुद्र ही ने हनुमान का रूप धारण किया था। हनुमान की वीरता और हर की हँसी को साथ ही देखना हो तो इस घनाक्षरी को ले लें—

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड वीर,
धाये जातुधान हनुमान लियो घेरि कै।
महाबल पुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट,
जहाँ तहाँ पटकै लँगूर फेरि फेरि कै।
मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हाहा खात,
कहैं 'तुलसीस राखि राम की सौं' टेरि कै।
ठहर-ठहर परे कहरि कहरि उठैं,
हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरि कै॥

—वही, लंका, ४२

(हास में रुदन और रुदन में हास होता ही है। अतएव रामचरित-मानस में इस प्रकार के हास का अभाव नहीं।) प्रायः हम देखते है कि जब कहीं विषाद छा जाता है तब कहीं किसी को हर्ष भी होता है। देवताओं को हर्ष तो अवध के विषाद में ही होता है। अतएव इस प्रकार के हास के संबंध में अधिक न कह देखना यह चाहिए कि तुलसी ने दूसरी ओर मृदुल हास को कैसे चित्रित किया है। राम के प्रसंग में निषाद को छोड़ जाना कभी ठीक नहीं हो सकता। निषाद की भावभरी

भोली वाणी में राम को जो रस मिलता है वह हँसी में फूटे बिना रह नहीं सकता। देखिए—

> रावरे दोष न पायन को पग धूरि की भूरि प्रभाउ महा है।
> पाहन ते बन-बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है॥
> पावन पायँ पखारि कै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है ?
> तुलसी सुनि केवट के बर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥

—कवितावली, अयोध्या, ७

केवट के 'बर बैन' में जो भाव भरा था, वह आगे चलकर किसी और रूप ही में प्रकट हुआ और फलतः राघव को भी 'हहा' के स्थान पर 'हेरि हेरि' हँसना पड़ा—

> प्रभु रुख पाइ कै बुलाइ बाल घरनिहिं,
> बंदि कै चरन चहुँदिसि बैठे घेरि घेरि।
> छोटो सो कठौता भरि आनि पानि गंगाजू को,
> धोइ पाँय पीयत पुनीत बारि फेरि फेरि॥
> तुलसी सराहैं ताको भाग सानुराग सुर,
> बरषैं सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि।
> बिबुध-सनेह-सानी बानी असयानी सुनि,
> हँसे राघौ जानकी लषन तन हेरि हेरि॥

—वही, १०

राघव की इस हँसी को भूतनाथ की उस हँसी से मिलाकर देखिए तो पता चले कि पालन और संहार की हँसी में कैसा भेद होता है और यदि विष्णु और महादेव के हास को साथ साथ देखना हो तो पार्वतीमंगल अथवा शिवविवाह को ले लीजिए। वहाँ शिव की बारात को देखकर सुर भी हँसते हैं और सुरत्राता विष्णु भी। ऐसी स्थिति में—

> विष्णु कहा अस विहँसि तब, बोलि सकल दिसिराज।
> बिलग बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज॥

बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई॥
बिस्नु बचन सुनि सुर मुसकाने। निज निज सेन सहित बिलगाने॥
मन ही मन महेस मुसुकाहीं। हरि के व्यंग्य बचन नहिं जाहीं॥

—बाल, ६८

यहाँ भी भूतनाथ को अपने समाज की सूझी तो उन्होंने अपने गणों को टेरा और परिणाम यह हुआ कि—

नाना वाहन नाना बेषा। बिहँसे सिव समाज निज देखा॥
कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू॥
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्ट पुष्ट कोउ अति तन खीना॥

तन खीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरे।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरे॥
खर स्वान सुअर शृगाल मुख गन बेष अगनित को गनै।
बहु जिनिस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै॥

नाचहिं गावहिं गीत, परम तरंगी भूत सब।
देखत अति बिपरीत, बोलहिं बचन बिचित्र बिधि॥

—बालकांड, ६८

यह बारात जब नगर के निकट पहुँची और अगवानी होने को चली तब—

हिय हरषे सुर सैन निहारी। हरिहि देखि अति भए सुखारी॥
सिव समाज जब देखन लागे। बिडरि चले बाहन सब भागे॥
धरि धीरजु तहँ रहे सयाने। बालक सब लइ जीव पराने॥
गए भवन पूछहिं पितु माता। कहहिं बचन भय कंपित गाता॥
कहिअ कहा कहि जाइ न बाता। जम कर धारि किधौं बरिआता॥
बरु बौराह बसह असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा॥

तन छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकट मुख रजनीचरा॥
जो जियत रहिहि बरात देखत पुन्य बड़ तेहि कर सही।
देखहि सो उमा बिबाह घर घर बात असि लरिकन्ह कही॥

समुझि महेस समाज सब जननि जनक मुसुकाहिं।
बाल बुझाए बिबिध बिध निडर होहु डर नाहिं ।।

—बालकांड, १००

एक ही आलंबन से किसी के हृदय में भय और किसी के हृदय में हर्ष का संचार कैसे होता है, इसका यह दिव्य उदाहरण है। बालकों का भयभीत होना कितना स्वाभाविक है। बच्चों को डराकर आनंद लूटने वाले आज भी न्यून नहीं। इसके अतिरिक्त हास्य रस का यदि पूरा परिपाक देखना हो तो नारद-मोह-लीला को ले लीजिए। शील-निधि राजा की विश्वमोहिनी राजकुमारी कन्या को देखकर नारद सोचते हैं—

जप तप कछु न होहि येहि काला। हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला ।।

और नारद को जो बिधि सूझी भी तो—

जेहि समाज बैठे मुनि जाई। हृदय रूप अहमिति अधिकाई ।।
तहँ बैठे महेस गन दोऊ। बिप्र बेस गति लखै न कोऊ ।।
करहिं कूट नारदहि सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई ।।
रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी। इनहिं बरिहि हरि जानि बिसेखी ।।
मुनिहिं मोह मन हाथ पराएँ। हँसहिं संभुगन अति सचु पाएँ ।।

—बालकांड, १३६

हास का परिणाम प्रायः दुःख ही होता है। नारद का इस स्वयंवर में जो उपहास हुआ उसका फल यह निकला कि उनके हृदय में क्रोध उत्पन्न हुआ और रमापति के 'मुनि कहँ चले बिकल की नाईं' पर तो वही बरस पड़ा। हास के उपरांत रौद्र का ऐसा रंग और कहाँ है? इसके विभाव भी तो अनुपम ही हैं। रमापति और उनकी लीला। हास और उपहास के साथ ही परिहास भी चला करता है और तुलसीदास ने उसको दिखाने में भी कुछ चूक नहीं की है। गोस्वामीजी ने अहिल्या के प्रसंग पर जहाँ कहीं जो कुछ लिखा है, बड़े चाव से लिखा है। परि-हास के प्रसंग में भी कहते हैं—

सिला छोर छुवत अहिल्या भई दिव्य देह,
गुन पेखे पारस के पंकरुह पाय के।

राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भए,
रावरेहु सतानन्द पूत भये माय के।
प्रेम परिहास-पोख वचन परसपर,
कहत सुनत सुख सबही सुभाय के।
तुलसी सराहैं भाग कौसिक जनक जू के,
बिधि के सुढर होत सुढर सुदाय के॥

—गीतावली, बाल, ६५

और यदि इसे स्वयं दशरथ के घर में देखना हो तो 'नाउनि' के इस कथन को लीजिए—

काहे राम जिउ सँवर, लछिनन गोर हो।
की दहुँ रानी कौसिलहि परिगा भोर हो।
राम अहहिं दसरथ कै, लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाइ तौ श्रीरघुनाथ क हो।

—रामलला, नहछू, १२

हास का एक दूसरा रूप भी होता है जो बड़ी से बड़ी बात को नगण्य कर दिखाने में प्रकट होता है। तुलसीदास ने एक स्थल पर इसके इस रूप को भी दिखा दिया है और यह भी बता दिया है कि वस्तुतः राम और रावण में करने और कहने का भेद है। विभीषण की अभिमान भरी बात को सुनकर राम ने जो कुछ किया यह था—

प्रभु मुसुकान समुझि अभिमाना। चाप चढ़ाइ बान संधाना॥

छत्र मुकुट ताटंक तब, हते एक ही बान।
सबके देखत महि परे, मरमु न कोऊ जान॥
अस कौतुक करि राम सर, प्रबिसेउ आइ निषंग।
रावन सभा ससंक सब, देखि महा रस भंग॥

कंप न भूमि न मरुत बिसेषा। अस्त्र शस्त्र कछु नयन न देखा॥
सोचहिं सब निज हृदय मँझारी। असगुन भयउ भयंकर भारी॥
दसमुख देखि सभा भय पाई। बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई॥
सिरौ गिरे संतत सुभ जाही। मुकुट परे कस असगुन ताही॥

—लंका, १४

राम की 'मुसुकान' और रावण की 'बिहँसनि' में यही तो भेद है। रावण हँसी में बहुत सी बातों को टाल जाता है और मंदोदरी की सीख भरी पते की बातों को विनोद का रूप दे हवा में उड़ा देता है; पर राम की 'मुसुकान' भी कुछ कर दिखाती है। हास के साथ आश्चर्य और भय का दर्शन भी यहाँ कुछ हो जाता है। किंतु यदि विविध भावों से भरे हास को देखना हो तो तुलसी के 'बावरो रावरो नाह भवानी' को देखें। कहते हैं—

बावरो रावरो नाह भवानो।
दानि बड़ो दिन, देख दए बिनु, वेद बड़ाई भानी॥
निज घर की घरबात बिलोकहु, हो तुम परम सयानी।
सिव की दई सम्पदा देखत श्रीसारदा सिहानी॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयों नकवानी॥
दुख दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी॥
प्रेम प्रसंसा बिनय व्यंग जुत सुनि बिधि को बर बानी।
तुलसी मुदित महेस, मनहिं मन जगत मातु मुसकानी॥

—विनय, ५

सब तो हुआ, पर तुलसी का वह पद अभी सामने नहीं आया जिसमें उन्होंने विंध्य के उदासियों को आड़े हाथों लिया है और हास का गहरा हाथ दिखाया है। कैसी फबती में कहते हैं—

विन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारी दुखारे।
गौतम तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनिबृन्द सुखारे॥

ह्वैहैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

—कवितावली, अयोध्या, २८

हास की दृष्टि से हास्य का जो विचार हुआ उसमें हर्ष का सच्चा उल्लास अभी तक देखने में नहीं आया। विजय में जो प्रसन्नता होती है वह जैसी बानरों में दिखाई देती है वैसी नरों में नहीं। तुलसीदास

हनुमान को बहुत कुछ समझते हैं और उनकी रामकाज में प्रथम सफलता को देखकर बानरों को जो हर्ष होता है उसकी कैसी सजीव व्यंजना करते हैं—

> गगन निहारि किलकारी भारी सुनि,
> हनुमान पहिचानि भये सानँद सचेत हैं।
> बूड़त जहाज बच्यो पथिक समाज, मानो,
> आजु आये जानि सब अंकमाल देत हैं।
> जै जै जानकीस, जै जै लषन कपीस कहि,
> कूदैं कपि कौतुकी, नचत रेत रेत हैं।
> अंगद मयंद नल नील बलसील महा,
> बालधी फिरावैं, मुख नाना गति लेत हैं।
>
> —कविता, सुंदर, २६

भाव विचार

इस हर्ष को संचारी कहना ठीक नहीं और यदि यह संचारी है तो इसका स्थायी क्या है ? कहा जा सकता है—रति। इसमें संदेह नहीं कि रति का क्षेत्र बहुत व्यापक है और सच पूछिए तो एक शम को छोड़कर सभी भावों में रति का कोई न कोई योग रहता ही है। शम अथवा निर्वेद का रति से विरोध हो सकता है और जुगुप्सा का भी। कदाचित् यही कारण है कि निर्वेद के पहले जुगुप्सा उत्पन्न की जाती है। निर्वेद और जुगुप्सा के अतिरिक्त शोक भी स्वतंत्र भाव है, किंतु वह तभी होता है जब रति की पुष्टि में बाधा पड़ती है और उसका आलंबन नष्ट हो जाता अथवा अनिष्ट में घिर जाता है। कहना चाहें तो कह सकते है कि रति ही वस्तुतः हृदय का मुख्य भाव है, इतर भाव उसमें क्षोभ के कारण उत्पन्न होते हैं। इस भाव का क्षेत्र बहुत व्यापक है, पर इसका रसपरिपाक उतना व्यापक नहीं हो पाता। रतिभाव का रस शृंगार होता है, किंतु शृंगार केवल दंपत्तिरति के परिपाक में ही रहता है, इतर रति के परिपाक में नहीं। इसी कारण कुछ लोग तो अन्य रतियों के आधार पर वात्सल्य और भक्ति रस का भी विभेद करते हैं और कुछ लोग उनको भाव तक ही रहने देते हैं। उनमें रस की सिद्धि नहीं मानते। जो हो, इतना तो मानना ही होगा कि रस

मीमांसा में जितना रस की निष्पत्ति पर विचार हुआ है उतना क्या, उसका शतांश भी रसों और भावों के नामकरण पर नहीं। हमारी दृष्टि में हास हृदय का कोई भाव नहीं, हृदय के भाव का व्यंजक मात्र है। कदाचित् यही कारण है कि हम इसकी व्यंजना के द्वारा अपने हृदय के भाव को छिपाते अथवा कुछ अन्यथा ही कर दिखाते भी हैं। यदि यह भाव होता तो हम इसके द्वारा आसानी से ऐसा कर नहीं पाते। हमारी दृष्टि में भाव तो हर्ष ही है और यह संचारी भाव माना भी जाता है। हर्ष का थोड़ा बहुत अनुभव सभी लोगो को है ही, जिसके आधार पर सभी लोग कह सकते हैं कि हर्ष संचरण ही नहीं करता, वह स्थायी भी होता है। सच तो यह है कि चित्त तटस्थ दशा में बहुत ही कम रह पाता है। वह तो सदा हर्ष और विषाद में से किसी एक का होकर ही रहता है और यही उसका होना सुख दुख का विधायक होता है। अतएव हर्ष को स्थानीय मानना ठीक नहीं! हास को तो हम अनुभव समझते हैं। स्मरण रहे, रुदन कोई भाव नहीं, और है तो अनुभाव ही, फिर हास की गणना क्यों भाव में की जाय?

हर्ष और विषाद की मिली हुई स्थिति आश्चर्य में होती है। आश्चर्य में आलंबन की विशेषता होती है और उसके कार्य की भी। अद्भुत रस अद्भुत ही होता है, उसमें चित्त की दशा भी अद्भुत होती है। (गोस्वामी तुलसीदास ने राम के अद्भुत चरित में अद्भुत रस की व्यंजना भरपूर की है।) इसके अनेक अवसर 'मानस' में आए हैं, जिनमें सर्व प्रथम सती का मोह है और इसका अंत है कागभुसुंडि के मोह में। इसके अतिरिक्त स्फुट प्रसंगों में भी अद्भुत रस दिखाया गया है, किंतु इस रस का समुचित परिपाक राम के अद्भुत चरित में ही हुआ है। इस अद्भुत चरित को देखकर सती की स्थिति यह हो जाती है कि—

अद्भुत

> हृदय कम्प तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठी मग माँहीं॥
> बहुरि बिलोक्यो नैन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छ कुमारी॥
>
> —बाल, ६०

और भुसुंडि की दशा यह—

देखि चरित यह सो प्रभुताई। समुझत देह दसा बिसराई॥
धरनि परेउ मुख आव न बाता। त्राहि त्राहि आरत जन त्राता॥

—उत्तर, ८३

सारांश यह कि अति अद्भुत से त्रास ही उत्पन्न होता है, कुछ हास नहीं। अद्भुत की भावना किंकर्तव्यविमूढ़ की भावना है, पर उस प्राणी के लिये जो उसको देखता है। सामाजिकों को तो इसमें भी आनंद ही आता है। हमारी बुद्धि में जो बात नहीं धँसती और हम जिसको ठीक ठीक नहीं समझ पाते वही तो हमारे विस्मय का कारण और हमारी मति में विचित्र होती है। अस्तु, इस अद्भुत का वर्णन कवि ने अन्य रूपों में भी किया है। हनुमान के पराक्रम में इसके दर्शन प्रायः हो जाते है। उनकी शिशुलीला को लीजिए और देखिए यह कि इस छोटी सी अवस्था में ही वे कैसा अनुपम कार्य कर दिखाते हैं—

भानु सों पढ़न हनुमान गये भानु, मन
अनुमानि सिसुकेलि कियो फेर फार सो।
पाछिले पगनि गम गगन मगनमन,
क्रम को न भ्रम, कपि-बालक-बिहार सो।
कौतुक बिलोकि सुरपाल हरि हर बिधि,
लोचननि चकाचौंधी चित्तनि खँभार सो।
बल कैधौ बीररस, धीरज कै, साहस, कै,
तुलसी सरीर धरे सबनि को सार सो॥

—हनुमानबाहुक, ४

एवं प्रौढ़ होने पर—

लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलम्ब न लायो।
मारुतनन्दन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायो॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो, पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यो धुकि धायो॥

—कवितावली, लंका, ५४

गोस्वामी तुलसीदास ने राम के शील और सौंदर्य को व्यक्त करने के लिये भी इस रस से विशेष काम लिया है। राम मृगया खेल रहे हैं, फिर भी मृग भागते नहीं, प्रत्युत उनको देखते ही रह जाते हैं—

सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि, पानि सरासन सायक लै।
बन खेलत राम फिरैं मृगया, तुलसी छबि सो बरनै किमि कै॥
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग, चौंकि चकैं चितवैं चित दै।
न डगैं न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रति नायक है॥

—अयोध्या, २७

राम के अलौकिक कर्मों को देखकर माता कौशल्या को सहसा विश्वास नहीं होता। वह आश्चर्य के साथ राम से पूछती हैं कि तुमने ऐसा अनुपम कार्य कैसे कर डाला—

भुजनि पर जननी बारि फेरि डारी।
क्यो तोर्‌यौ कोमल कर-कमलनि संभु सरासन भारी!
क्यों मारीच सुबाहु महाबल प्रबल ताडका मारी!
मुनि-प्रसाद मेरे राम लषन की बिधि बड़ि करवर टारी॥
चरन रेनु लै नयननि लावति, क्यो मुनि बधू उधारी।
कहौ धौं तात, क्यो जीति सकल नृप बरी है बिदेह कुमारी॥
दुसह-रोष-मूरति भृगुपति अति नृपति-निकर-खयकारी।
क्यो सौंप्यो सारंग हारि हिय, करी है बहुत मनुहारी॥
उमँगि उमँगि आनन्द बिलोकति बधुन सहित सुत चारी।
तुलसिदास आरती उतारति प्रेम मगन महतारी॥

—गीतावली, बाल, १०७

शांत

गोस्वामी तुलसीदास ने वात्सल्य को जिस रूप में लिया है उसको कुछ दिखाने के पहले यह बता देना चाहिए कि तुलसीदास ने 'विनय-पत्रिका' में शांत रस को विविध पदों में व्यक्त किया है। 'विनयपत्रिका' वास्तव में शांत रस का ही ग्रंथ है। शांत रस की जैसी धारा विनयपत्रिका में बही है वैसी हिंदी साहित्य में अन्यत्र नहीं। संस्कृत की 'स्तुति कुसुमांजलि' से तुलसीदास प्रभावित अवश्य हुए है, परंतु

तुलसीदास की पहुँच वहीं तक सीमित नहीं रही है। तुलसीदास ने 'कुसुमांजलि' को 'विनयपत्रिका' का रूप दिया है और उसे ठीक ठीक घटा भी दिया है। हास के प्रसंग में यह दिखाया गया था कि 'विनयपत्रिका' में हास्य रस भी है। हास्य ही क्यों सभी रस जहाँ तहाँ कुछ न कुछ दिखाई दे जाते हैं। उनका 'केसव कहि न जाय का कहिये' तो अद्भुत रस के लिये प्रमाण ही माना जाता है और भी बहुत से पद ऐसे हैं जिनमें अन्य भावों को दिखाया गया है, किंतु जो भाव सदा आदि से अंत तक बना रहता है वह निर्वेद ही है। उनका मूल उपदेश है—

लाभ कहा मानुष तन पाये।
काय, बचन, मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराए॥
जो सुख सुरपुर नरक गेह बन आवत बिनहिं बुलाये।
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन, समुझत नहिं समुझाये॥
पर-दारा, पर-द्रोह, मोहबस कियो मूढ मन भाए।
गरभबास दुखराशि जातना तीव्र विपति बिसराए॥
भय निद्रा मैथुन अहार सबके समान जग जाए।
सुर दुरलभ तनुधरि न भजे हरि, मद अभिमान गवाए॥
गई न निज-पर-बुद्धि, सुद्ध ह्वै रहे न राम-लय लाए।
तुलसिदास यह अवसर बीते का पुनि के पछताए?

—विनय, २०१

और उसका खरा निश्चय है—

तुम अपनायो तब जानिहौ जब मन फिरि परिहै॥
जेहि सुभायँ विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सो नेह छाँड़ि छल करिहै॥
सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की नृप ज्यो डर डरि है।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सो चहुँ विधि चातक ज्यो एक टेक ते नहि टरिहै॥
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।
हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित हित अनहित कलि कुचाल परिहरिहै॥
प्रभु-गुन सुनि मन हरषिहै, नीर नयननि ढरि है॥
तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनँद उमगि उर भरिहै॥

—वही, २६८

जिससे कहने को जी तो यही चाहता है कि 'विनयपत्रिका' में निर्वेद की प्रधानता होने पर भी उसकी इति राम-रति ही में होती है और यह इसी का परिणाम है कि 'विनयपत्रिका' काव्य की ऐसी सरस रचना मानी जाती है और कुछ लोग तो उसको तुलसीदास का सर्वश्रेष्ठ काव्य ही मानते हैं। औरों की भक्ति के बारे में चाहे जो कहा जाय पर तुलसी की भक्ति राम में वही थी जो किसी प्रकृत जन की किसी प्राकृत व्यक्ति में होती है। गोस्वामीजी की दृष्टि में प्राकृत राम ही परब्रह्म भी थे। अतः उनके संबंध में वैसा विवाद नहीं उठ सकता जैसा प्रायः अन्य भक्तों के प्रसंग में उठा करता है। कदाचित् यही कारण है कि कतिपय आचार्य देवविषयक 'रति' को स्वतंत्र स्थान दे भक्ति नाम का एक अलग रस ही मान लेते हैं। कुछ भी हो 'विनय' में निर्वेद का राज्य है, इसमें संदेह नहीं।

वात्सल्य-विचार

हाँ, तुलसी का वात्सल्य सूर के सामने दब जाता है। यहाँ सूर का सामना विश्व का कोई कवि नहीं कर सकता। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसी का वात्सल्य अच्छा नहीं और सूर के सामने उसकी कोई विशेषता नहीं। सूर ने भी कृष्ण के वियोग को लिया है, पर राम के वियोग में माता कौशल्या की जो स्थिति होती है उसके सामने यशोदा की वेदना छूछी पड़ जाती है। तुलसी का करुण वात्सल्य अपूर्व है और है पिता का प्राणलेवा भी। उसके कई पद पहले भी आ चुके हैं, अतः यहाँ संक्षेप में बताया यह जाता है कि तुलसी ने भुसुंडि के द्वारा जो राम के बालरूप का दर्शन कराया है वह किसी सूर से कम नहीं। कहते हैं—

अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर॥
कंध बाल केहरि दर ग्रीवाँ। चारु चिबुक आनन छबि सीवाँ॥
कलबल बचन अधर अरुनारे। दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे॥
ललित कपोल मनोहर नासा। सकल सुखद ससिकर सम हासा॥
नील कंज लोचन भव मोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन॥
बिकट भृकुटि सम स्रवन सुहाए। कुंचित कच मेचक छबि छाए॥
पीत झीन झिगुली तन सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही॥
रूप रासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥

मोहि सन करहिं बिबिध बिधि क्रीडा । बरनत मोहिं होति अति ब्रीडा ॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिं । चलौं भागि तब पूप देखावहिं ॥

आवत निकट हँसहिं प्रभु, भाजत रुदन कराहिं ।
जाउँ समीप गहन पद, फिरि फिरि चितै पराहिं ॥

—उत्तर, ७७

कहने को तो रामचरितमानस में भी एक बालकांड है परंतु उसमें बालभाव का विस्तार न होकर बालचरित का वर्णन ही विशेष हुआ है । तुलसीदास ने रामचरितमानस' में माता कौशल्या के राम की बाललीला को थोड़ा सा दिखा दिया है और फिर उनको रंगभूमि में ला खड़ा करने का यत्न किया है जिससे सूर की भाँति उन्हें बालकेलि का व्यापक क्षेत्र नहीं मिला है । किंतु इसका यह अर्थ नही कि यहाँ माता का हृदय नही खुला है । नहीं, मैना के विलाप पर ध्यान तो दीजिए । सुनिए क्या कहती है—

कस कीन्ह बर बौराह बिधि जेहि तुम्हहि सुंदरता दई ।
जो फलु चहिअ सुरतरुहि सो बरबस बबूरहि लागई ॥
तुम्ह सहित गिरि तें गिरौ पावक जरौ जलनिधि महँ परौं ॥
घरु जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिबाहु न हौ करौं ॥

सच है, माता सब कुछ कह सकती है, पर संतान का कष्ट नहीं देख सकती । उधर सीता की माता ऐसे ही अवसर पर कुछ और ही सोचती हैं । उन्हें यह अच्छा नहीं लगता कि कोमल बालकों से पिनाक उठाने को कहा जाय । 'ए बालक अस हठ भल नाहीं' में क्या नहीं भरा है ? हाँ ये ही वे बालक हैं जो अवध में पिता दशरथ की गोद में जहाँ दिखाई देते हैं वहीं तुलसीदास की वत्सलता बोल उठती है—

अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे ।
अवलोकि हौं सोच विमोचन को ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से ॥
तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नयन सु खंजन जातक से ।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से बिकसे ॥
पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये ।
नवनील कलेवर पीत झँगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिये ॥

अरबिंद सो आनन, रूप मरंद अनंदित लोचन-भृंग पिये।
मन मो न बस्यौ अस बालक जौ तुलसी जग में फल कौन जिये॥

—कवितावली, बाल, १-२

कीजिएगा क्या, राम गोपाल नहीं कि कोई गोपी बोल उठे 'नेकु गोपालहिं मोको दै री', यहाँ तो बस दर्शन कीजिए और दूर से ही छवि निहार अपने जीवन को कृतकृत्य कीजिए—

तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरै।
अति सुंदर सोहत धूरि भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरै॥
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर में बिहरैं॥

—वही, ३

और इतना जान लें कि—

पद कंजनि मंजु बनी पनहीं धनुहीं सर पंकजपानि लिये।
लरिका सँग खेलत डोलत हैं, सरजू तट चौहट हाट हिये॥
तुलसी अस बालक सों नहिं नेह, कहा जप जोग समाधि किये।
नर ते खर सूकर स्वान समान, कहौ जग में फल कौन जिये॥

—वही, ६

और यदि यहाँ कोई अभिलाष है तो यह—

ह्वैहौ लाल कबहिं बड़े बलि मैया।
राम लषन भावते भरत रिपुदवन चारु चार्‌यौ भैया।
बाल—विभूषन बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनैहौं।
सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ बारने जैहौं।
छगन-मगन अँगना खेलिहौ मिलि ठुमुक ठुमुक कब धैहौ।
कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि 'माँ' मोहिं बुलैहौ।
पुरजन सचिव राउ रानी सब सेवक सखा सहेली।
लैहैं लोचन-लाहु सुफल लखि ललित मनोरथ-वेली।

जा सुख की लालसा लटू सिव, सुक सनकादि उदासी।
तुलसी तेहि सुख-सिंधु कौसिला मगन, पै प्रेम-पियासी॥

—गीतावली, बालकांड, ८

'प्रेमपियासी' कौशल्या का कलेजा किस वज्र का बना था कि वह राम वियोग में भी जीती रही, इसका उल्लेख तो पहले हो चुका है, किंतु अभी तक कहीं यह नहीं कहा गया है कि माता सुमित्रा का हृदय कितना कठोर है कि लखनलाल की चिंता न कर अपने लाड़ले शत्रुघ्न को खड़ा करती हैं और अवध में यह कांड उपस्थित हो जाता है कि पवनसुत हनुमान भी ग्लानि में गल जाते हैं। हृदय को कड़ा कर सुनिए वीर माता का प्रसंग है। कहते हैं—

सुनि रन घायल लषन परे हैं।
स्वामि काज संग्राम सुभट सों लोहे ललकारि लरे हैं।
सुवन सोक संतोष सुमित्रहि रघुपति भगति बरे हैं।
छिन छिन गात सुखात छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं।
कपि सो कहति सुभाय अंब के अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं।
'तात! जाहु कपि सँग' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिवत सुढर ढरे हैं।
अंब अनुज गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥

—गीतावली, लंकाकांड, १३

माता के सचेत प्यार का परिणाम भी कितना सुखद होता है! राम वन में स्वतंत्र थे, पर माता घर में भी परतंत्र थी। तुलसी की वाणी का रस तो लीजिए। कैसा अभूत दृश्य उपस्थित है—

कौसल्यादि मातु सब धाईं। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाईं॥
जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन वन परबस गईं।
दिन अंत पुररुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं॥

अति प्रेम प्रभु सब मातु भेटी बचन मृदु बहु बिधि कहे।
गइ बिषम बिपति बियोग भव तिन्ह हरष सुख अगनित लहे॥

—उत्तरकांड, ६

और कुछ चित्त स्थिर हुआ तो—

सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं। मंगल जानि नयन जल रोकहिं॥
कनक थार आरती उतारहिं। बार बार प्रभु गात निहारहिं॥
नाना भाँति निछावरि करहीं। परमानंद हरष उर भरहीं॥
कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहिं। चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं॥
हृदय बिचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंकापति मारा॥
अति सुकुमार जुगल मम बारे। निसिचर सुभट महा बल भारे॥

लछिमन अरु सीता सहित, प्रभुहिं बिलोकति मातु।
परमानंद मगन मन, पुनि पुनि पुलकित गातु॥

—उत्तरकांड, ७

बस इसी पुलक में माता का सर्वस्व है।

६—काव्य कौशल

तुलसी की भाव व्यञ्जना से यदि उनकी काव्य-कुशलता अभी तक न निखरी हो तो उनके इस प्रसंग को पढ़िए और देखिए कि इसमें किस प्रकार तुलसीदास ने भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के साथ ही साथ अलंकार और मानव-जीवन की व्याप्ति को व्यक्त किया है और यह भी प्रकट दिखा दिया है कि मानव का पशु से और पशु का मानव से कितना गहरा लगाव है और संसर्ग में बने रहने के कारण एक दूसरे को कहाँ तक और कितना प्रभावित करते हैं। मर्यादा के क्षेत्र में वर्ण की दृष्टि से चाहे निषाद और द्विज में जितना भेद हो, पर हृदय के व्यापार में उनमें कहीं कोई बंधेज नहीं।

काव्य कौशल

हाँ, तो निषाद राम को पहुँचाकर वापस आ गया है और अब उसे सचिव की सुधि लेनी है। सचिव भी जैसे अब भी जानना चाहते हैं कि राम, लक्ष्मण और सीता ने किया क्या? आशा बलवती होती ही है। वह सहसा किसी का भी पिंड नहीं छोड़ती। निदान सचिव भी इसी आशा के आधार पर वहाँ टिके थे; किन्तु जब उन्होंने देखा कि उनकी अंतिम आशा पर भी पानी फिर गया और अकेला निषाद ही उनके सामने आकर खड़ा हो गया, तब उनके विषाद का ठिकाना न रहा और—

राम राम सिय लखनु पुकारी। परेउ धरनि तन ब्याकुल भारी॥
देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जिमि बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं॥

वेदना की तीव्रता की अभिव्यक्ति में अचेत हो जाने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या था। तुलसी ने बड़ी चातुरी से सुमंत्र को मूर्च्छित कर इस गूढ़ वियोगदशा की व्यंजना आखों की गति-विधि में व्यक्त की है। कहते हैं—

नहिं तृन चरहिं न पियहिं जलु, मोचहिं लोचन बारि।
ब्याकुल भयेउ निषाद सब, रघुबर बाजि निहारि॥

यह दशा देखकर निषाद घबड़ा उठा और सोचा कि किसी प्रकार सुमंत्र को शीघ्र सचेत करना चाहिए, अन्यथा काम बनने का नहीं। वियोग का यह अवसर ही ऐसा था कि इसको चुपचाप सह लेना किसी के लिये संभव न था। इसी से तो—

धरि धीरजु तब कहइ निषादू। अब सुमंत्र परिहरहु बिषादू॥
तुम पंडित परमारथ ग्याता। धरहु धीर लखि बाम बिधाता॥

निषाद ने किसी प्रकार सुमंत को समझाकर रथ पर बैठा तो दिया किन्तु उनमें इतनी शक्ति कहाँ कि रथ को ठीक से हाँक सकें और सो भी तब जब उसको खींचनेवालों की स्थिति यह हो—

बिबिध कथा कहि कहि मृदु बानी। रथ बैठारेउ बरबस आनी॥
सोक सिथिल रथु सकै न हाँकी। रघुबर बिरह पीर उर बाँकी॥
चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे॥
अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे। राम बियोग बिकल दुख तीछे॥

वियोगवश यदि पाँव ठीक से नहीं पड़ता है तो कोई बात नहीं। गति की दिशा में तो कोई अन्तर नहीं किन्तु नहीं, एक और भी अड़चन यह है कि जिस किसी के मुँह से राम-ध्वनि सुनाई पड़ती है अश्वों की दृष्टि में ही स्वभावतः उधर को मुड़ जाती है और उनका लक्ष्य हो जाता है राम के विषय में कुछ और जानना। फलतः—

जो कह रामु लषनु बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही॥
बाजि बिरह गति किमि कहि जाती। बिनु मनि फनिक बिकल जेहिभाँती॥

भयउ निषादु बिषादु बस, देखत सचिव तुरंग।
बोलि सुसेवक चारि तब, दिये सारथी संग॥

सारथी की सहायता के लिये जो चार सेवक मिल गए उनकी कृपा से किसी प्रकार मार्ग तो कट गया पर इस यात्रा में सुमंत की दशा यह थी कि उनसे कुछ सोचते ही नहीं बनता था। लीजिए—

गुह सारथिहि फिरे पहुँचाई। बिरहु बिषादु बरनि नहिं जाई ॥
चले अवध लै रथहि निषादा। होहिं छनहिं छन मगन बिषादा ॥
सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना ॥
रहिहि न अंतहु अधमु सरीरू। जसु न लहेहु बिछुरत रघुबीरू ॥
भये अजस अघ भाजन प्राना। कवन हेतु नहिं करत पयाना ॥
अहह मन्द मनु अवसर चूका। अजहु न हृदय होत दुइ टूका ॥
मीजि हाथ सिरु धुनि पछिताई। मनहु कृपिन धन रासि गँवाई ॥
बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई ॥

बिप्र बिवेकी बेद विद, संमत साधु सुजाति।
जिमि धोखें मद पान कर, सचिव सोच तेहि भाँति ॥

जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पति देवता करम बन बानी ॥
रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू ॥
लोचन सजल डीठि भई थोरी। सुनइ न स्रवन बिकल मति भोरी ॥
सूखहिं अधर लागि मुँह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी ॥
बिबरन भयउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुँ पिता महतारी ॥
हानि गलानि बिपुल मन व्यापी। जमपुर पंथ सोच जिमि पापी ॥
बचनु न आउ हृदय पछिताई। अवध काह मैं देखब जाई ॥
राम रहित रथ देखिहिं जोई। सकुचिहि मोहि बिलोकत सोई ॥

धाइ पूछिहहि मोहिं जब, बिकल नगर नर नारि।
उतरु देब मै सबहि तब, हृदय बज्र बैठारि ॥

पूछिहहिं दीन दुखित सब माता। कहब काह मै तिन्हहिं बिधाता ॥
पूछहिं जबहिं लषन महतारी। कहिहौ कवन सँदेस सुखारी ॥
राम जननि जब आइहिं धाई। सुमिरि बच्छु जिमि धेनु लवाई ॥
पूछत उतरु देब मै तेही। गे बनु राम लषनु बैदेही ॥
जोइ पूछिहि तेहि ऊतरु देबा। जाइ अवध अब एहु सुख लेबा ॥
पूछिहिं जबहिं राउ दुख दीना। जिवनु जासु रघुनाथ अधीना ॥
देहौं उतरु कौन मुँह लाई। आयेउँ कुसल कुँवर पहुँचाई ॥
सुनत लषन सिय राम सँदेसू। तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू ॥

हृदय न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहिं दीन्ह बिधि, येह जातना सरीरु॥

—अयोध्या, १४२-४६

इस प्रसंग में निषाद, सुमंत्र और तुलसी की जो वार्ता है उसे अभी अलग ही रखिए। वह तो और भी गूढ़ है, पर पहले राम के हयों को देख लेने से उसकी गूढ़ता भी आप ही पानी हो जायगी और फिर आप संभवतः उसका पार भी सहज ही पा लेंगे। संभवतः इसलिये कि इसमें उलझन भी कम नहीं है। मंत्री ने तो 'राम राम' कहकर साँस ली और अपनी व्याकुलता को इस प्रकार दूर करना चाहा, परंतु इसका प्रभाव यह पड़ा कि राम के बाजियों ने समझ लिया कि राम आ गए। फिर क्या था? उनकी दृष्टि भी दक्षिण दिशा में दौड़ पड़ी, पर आशा से उन्हें भी धोखा हुआ। परिणाम यह हुआ कि—

नहिं तृन चरहि न पियहिं जलु, मोचहि लोचन बारि

उनकी इस दशा का प्रभाव निषाद पर इतना गहरा पड़ा कि वह भी व्याकुल हो गया और किसी प्रकार धीरज धरकर सुमंत्र को समझाने में लगा। उसने जैसे तैसे उन्हें उठाकर रथ पर तो रख दिया, पर उनसे भला रथ चलाया कैसे जा सकता था? चलाना चाहते भी तो—

चरफराहिं मग चलहिं न घोरे, बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे।

और यदि जैसे तैसे विवशता के कारण चलना भी चाहते थे तो—

अढुकि परहि फिरि हेरहि पीछे, राम वियोग बिकल दुख तीछे।

यदि बात यहीं तक रह जाती तो भी कोई बात न थी। उनकी दशा तो यह हो गई कि—

जो कहु राम लषन वैदेही, हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही।

बस, उनका हितू तो वही है जो राम, लखन और वैदेही का नाम लेता है। उससे उनका ऐसा नाता जुट जाता है कि उन्हें यह आशा हो जाती है कि इसके द्वारा फिर हमें राम का दर्शन होगा। सचिव और तुरंग की इस दशा को देखकर निषाद भी विषाद के वश में हो गया और

उसने यह प्रत्यक्ष देख लिया कि सुमंत्र को साथ देना उसके वश का काम नहीं। निदान—

बोलि सुसेवक चारि तब, दिये सारथी संग।

गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रसंग में अश्वों की वेदना का वर्णन कर यह दिखा दिया कि वही राम प्राणिमात्र में किस प्रकार रमा है, और किस प्रकार विवश होने पर भी पशुजीवन उससे दूर नहीं। अश्व की व्यथा को व्यक्त करने के लिये जो उपमान लाए गए हैं उन पर दृष्टि डालने के पहले उनके अनुभावों पर ध्यान देना चाहिए और यह टाँक लेना चाहिए कि अश्व की वाणी में हिनहिनाने और हिंकरने में क्या अंतर है?

अलंकृति

गोस्वामी तुलसीदास ने स्थिति को स्पष्ट करने के विचार से पहली दशा में 'जिमि बिनु पंख बिहंग अकुलाहीं' का उल्लेख किया है और दूसरी दशा में 'बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती' का। एक में अशक्त दशा की व्यंजना है तो दूसरे में अलक्ष्य वस्तु की। हैं दोनों ही उपमा के रूप में, किंतु दोनों की वेदना में बड़ा भेद है। पंख कहीं जाने का साधन भर है, किंतु मणि में यह बात नहीं है। साँप का वही सर्वस्व है। बीच में एक 'बन-मृग मनहुँ आनि रथ जोरे' का उपमान भी है। यहाँ उपमा नहीं, उत्प्रेक्षा है। 'बन-मृग' रथ में तो चल नहीं सकता। उसका मन भी बन की ओर भागने को ही होगा। निषाद को विषाद में ही छोड़ दीजिए। उसका विषाद भी शोकग्रस्त सुमंत्र के कारण ही विशेष है। अतः सुमंत्र को ही परखिए। सुमंत्र ने जो कुछ अपने आप सोचा उसे एक ओर रखिए और दूसरी ओर तुलसीदास ने जिस रूप में उसे बताया उसको रखिए और तीसरी ओर देखिये यह कि अप्रस्तुतो के द्वारा यहाँ कौन सा काम लिया गया है। सुमंत्र के सोच का प्रारंभ होता है 'धिग जीवन' से और उसका अंत होता है 'यातना शरीर' में। उनको चिंता है कि वे ही ऐसे अभागी जीव हैं जिन्होंने रघुवीर के वियोग में कोई यश प्राप्त नहीं किया और वे ही ऐसे पतित प्राणी हैं कि राम के वियोग में उनका हृदय विदीर्ण नहीं हुआ। जब उनको अपने जीवन की सुधि आती है तब उनको चारों ओर से यही

दिखाई देता है कि उनको अयश प्राप्त हुआ, अघ लगा; फिर भी उनका प्राण प्रस्थान नहीं करता। न जाने अभी और क्या उसे प्राप्त करना है ? मन से भी उस समय तो कुछ भी न बन पड़ा जब वह कुछ कर सकता था, किंतु अब नाना प्रकार के संकल्प विकल्प में पड़कर गहरी चिंता उत्पन्न कर रहा है। और हृदय तो वज्र ही का निकला कि अब भी फट कर दो टूक नहीं हो जाता। अपनी स्थिति तो यह है और कार्य है अवध में पहुँच कर सब समाचार सुनाना। अवध में जो कोई राम से रहित रथ को देखेगा वह देखने में भी संकोच करेगा। किसी प्रकार मुँह छिपाकर यदि नगर में पहुँच भी गया तो लोग दौड़ दौड़ कर बड़ी व्याकुलता से न जाने क्या क्या प्रश्न करेंगे। तब अपनी स्थिति यह होगी कि हृदय पर पत्थर रखकर सब का समाधान करना ही होगा। तो क्या इसी हेतु मैं जीवित हूँ ? अरे! जैसे तैसे यदि उनसे निकल भी गया तो जब दीन और दुखारी माताएँ आकर राम, लक्ष्मण और सीता आदि के विषय में कुछ मुझसे पूछेंगी तब मैं उनसे क्या कहूँगा ? हा विधाता! इसका भी सामना करना ही होगा! और जब लक्ष्मण की माता सुमित्रा मुझसे पूछेंगी तब कौन सा सुखसंदेश उन्हें सुनाऊँगा ? माना कि उनको उतनी चिंता नहीं, किंतु जब राम की माता का सामना होगा तब क्या करूँगा ? क्या उनसे यही कह दूँगा कि राम, लक्ष्मण और वैदेही वन में चले गए ? बस, अब तो इस जीवन का एक यही सुख भोगना शेष रह गया है कि अवध में जो कोई जो कुछ पूछे उसका वही उत्तर दिया जाय। यहाँ तक तो कोई बात नहीं। जैसे तैसे इसे भी भोग लिया जायगा, किंतु जब राजा दशरथ का प्रश्न होगा तब अपना संदेश क्या होगा ? यही न कि कुशलपूर्वक मैंने राजकुमारों को वन में पहुँचा दिया। क्या इसी कुशल समाचार के लिये मैं जी रहा हूँ ? किंतु उसका परिणाम क्या होगा ? राजा दशरथ का प्राणपरित्याग! प्रतीत होता है कि अब यह शरीर यातनाशरीर के रूप ही में रह सकेगा, अन्यथा कोई उपाय नहीं। यदि होनहार ऐसा न होता तो राम के वियोग में यह हृदय फट क्यों नहीं जाता और क्यों यह शरीर इस रूप में बना रहता ? सुमंत्र के जी में जो कुछ बीत रही है उसको व्यक्त करने के हेतु जो उपमान आये हैं, वे हैं कृपिण, सुभट, विप्र, कुलीन तिय, महतारी (पुत्र) और पापी। उधर हम देखते हैं कि उपमेय के रूप में भी जोई, नगर नारि नर, सब माता, लषन-महतारी,

राम जननि और राउ हैं। तो क्या इसका निष्कर्ष यह नहीं निकाला जा सकता कि तुलसीदास ने अप्रस्तुत के द्वारा सुमंत्र की चिंता को ही रूप देने का यत्न किया है। टीकाकारों ने उपमानों की विशेषता पर बहुत कुछ विचार किया है और उन्हें सुमंत्र के जीवन में घटाकर दिखा भी दिया है, किंतु हमारी समझ में उन्होंने पति देवता के दारुण दाह को समझने में कुछ भूल की है और 'मारेसि मनहुँ पिता महतारी' का तो कुछ अर्थ ही और लिया है। 'रहइ करम बस परिहरि नाहू' का अर्थ इससे आगे नहीं लगाया जा सकता कि वह अपने नाथ से अलग है और कर्म वश जी रही है। चाहें तो यहाँ तक इसको ले सकते हैं कि नाह को उसने अपने आप छोड़ दिया है, पर इसके आगे यह कल्पना करना कि वह किसी की घर बसी हो गई है सर्वथा अनिष्ट और अनर्गल है। बात भी यही है। सचिव ने राम को छोड़ दिया, और उनकी यह स्थिति तब होती है जब उनके सामने सुमित्रा का प्रश्न आता है। यहाँ तक तो कोई बड़ी बात न थी। यह दारुण वेदना भी सुमंत्र सह सकते थे, किंतु इसके आगे जो उनकी दशा हुई उसका वर्णन पहले कवि के मुँह से सुन लीजिये और फिर समझिये यह कि 'मींजि हाथ सिरु धुनि पछिताई' में क्या परिवर्तन हो गया और हुआ क्यों? तुलसी कहते हैं—

> लोचन सजल दीठि भई थोरी। सुनै न श्रवन बिकल मति भोरी॥
> सूखहिं अधर लागि मुँह लाटी। जिव न जाइ उर अवधि कपाटी॥
> बिबरन भयउ न जाइ निहारी। ....

इन अनुभावों के द्वारा जिस भाव की व्यंजना होती है वह भाव है क्या? तुलसीदास उसे दिखा नहीं सकते। हाँ, बता अवश्य सकते हैं और बताते भी हैं इस रूप में कि मान लो कि किसी की माता ने उसके पिता को मार डाला। फिर उसकी जो स्थिति होगी वही सुमंत्र की स्थिति है। इसमें माता कैकेयी के द्वारा पिता दशरथ के मारे जाने का संकेत भी है। इस प्रकार के लेखा-जोखा से जो हानि और जो ग्लानि मन में व्याप्त हुई वह दशरथ के निधन से ऐसी चारों ओर फैलती हुई दिखाई दी कि उसकी उपमा पापी की यमपुर-यात्रा से दी गई। सुमंत्र जिस 'जातना-सरीरु' का उल्लेख करते हैं वह यमपुर में ही तो अपना भोग भोगेगा। बस यही है इस अप्रस्तुत-विधान का रहस्य,

जो सुमंत्र के हृदय की वेदना को साकार बना देता है और उसकी पूर्ति को हमारी दृष्टि में ला खड़ी करता है कि हम कभी उसे भूल नहीं सकते। अनुभाव भी ऐसे ही हैं कि जो कह तो बहुत कुछ देते हैं पर सच पूछिये तो खुलकर कुछ भी नहीं कह पाते। विवर्ण के बाद क्या होगा इसको कौन नहीं जानता ?

प्रस्तुत प्रसंग में खटकने की बात यह हो सकती है कि गोस्वामीजी ने सुमंत्र के प्रसंग में 'कुलीन-तिय' और 'महतारी' के अप्रस्तुत क्यों ला दिये हैं ? क्या इनके स्थान पर पुरुष-वर्ग का उपमान लाना ठीक नहीं होता ? निवेदन है, इसका भी कुछ रहस्य है। जहाँ तक शोक और करुण का संबंध है यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि इनकी अनुभूति जितनी प्रखर, प्रशस्त, प्रगल्भ और गम्भीर स्त्री में होती है उतनी पुरुष में कदापि नहीं। इसीसे तो कोप-भवन में कैकेयी ने दशरथ से फटकार कर कहा था —

जनि अबला जिमि करुना करहू।

—अयोध्या, ३५

अतएव यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि यदि शोक की पराकाष्ठा को व्यक्त करना है, तो स्त्री का उपमान लाना ही होगा। यही कारण है कि तुलसीदास ने इस शोक की पराकाष्ठा के लिये पत्नी और महतारी का उपमान लिया है। पत्नी की वेदना की अभिव्यक्ति तो सीधे से हो गई है, किंतु महतारी का उपमान महतारी की वेदना को व्यक्त करने के हेतु ही नहीं, पुत्र की वेदना को सतर्क करने के विचार से भी लिया गया है। माता के अपराध का प्रभाव पुत्र पर क्या पड़ेगा, और स्वयं माता की ऐसी दशा में अवस्था क्या होगी, यह भी विचारणीय है। इसीसे तुलसीदास ने यहाँ उस पुत्र की मर्म-वेदना को खड़ा किया है, जिसकी माता ने अपने पति का वध किया हो और फिर भी उसके सामने ही खड़ी हो। इसमें कोरी वेदना ही नहीं, किंकर्तव्यविमूढ़ता भी है।

गोस्वामीजी ने उपमा और उत्प्रेक्षा की स्थिति को भली भाँति परखा है और तौलकर ही जहाँ-तहाँ जब कभी उनका प्रयोग किया

है। दोनों की स्थिति में क्या भेद है इसे तुलसी से सीखिये। तुलसी ने उपमा को उतना महत्व नहीं दिया है जितना उत्प्रेक्षा को। मानस-रूपक में जो 'उपमा बीचि बिलास मनोरम' का उद्‌घोष किया गया है, वह निरी उपमा के लिये नहीं। नहीं, वह तो उपमा-मूलक अलंकार मात्र के लिए है। उपमा से उत्प्रेक्षा को तुलसीदास क्यों अधिक काव्य-प्रद समझते है इसकी ऊहापोह में पड़ने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने स्वयं दो प्रसंगों में इसका निर्देश भी कर दिया है। अच्छा होगा, पहले राम के प्रसंग को लीजिए। तुलसीदास का एक गीत है--

उपमा और उत्प्रेक्षा

आँगन फिरत घुटुरुवनि धाये।
नील-जलद-तनु-स्याम राम-सिसु जननि निरखि मुख निकट बोलाए ॥ १ ॥

बंधुक-सुमन अरुन पद पंकज अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए।
नूपुर जनु मुनिवर-कलहसनि रचे नीड, दै बाँह बसाए ॥ २ ॥

कटि मेखल, बर हार, ग्रीव दर, रुचिर बाँह भूषन पहिराए।
उर श्रीवत्स मनोहर हरि नख हेम मध्य मनि गन बहु लाए ॥ ३ ॥

सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका स्रवन कपोल मोहिं अति भाए।
भ्रू सुन्दर करुनारस-पूरन, लोचन मनहुँ जुगल जलजाए ॥ ४ ॥

भाल बिसाल ललित लटकन बर, बाल दसा के चिकुर सोहाए।
मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आए ॥ ५ ॥

उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पट पीत ओढ़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनो तड़ित छपाए ॥ ६ ॥

अंग अंग पर मार-निकर मिलि छबि समूह लै लै जनु छाए।
तुलसीदास रघुनाथ-रूप-गुन तौ कहौ जो बिधि होहि बनाए ॥ ७ ॥

—गीतावली, बाल, २३

इसमें हम जिस बात पर विशेष ध्यान देना चाहते हैं वह है 'उपमा एक अभूत भई'। इस 'अभूत उपमा' को लेकर एक प्रसिद्ध अलंकार शास्त्री ने 'अभूत उपमा' का इसी को उदाहरण बना दिया है और किया यह है कि 'मनो तड़ित छपाये' को 'जिमि तड़ित छपाये' में परिणत कर दिया है। हमारी दृष्टि मे यह ठीक नहीं। वास्तव में तुलसीदास ने

भूत और अभूत उपमा का भेद खोलने की दृष्टि से ही यहाँ 'मनो' का प्रयोग किया है। उत्प्रेक्षा और कुछ नहीं, 'अभूत उपमा' ही है।

उत्प्रेक्षा का महत्व

उपमा और उत्प्रेक्षा में भूत और अभूत का भेद तो है ही। इसी को सरल ढङ्ग से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उपमा अलंकार में जो दृश्य उपस्थित किया जाता है वह सृष्टि का अंश होता है; प्रकृति में पहले से ही बना होता है, किंतु उत्प्रेक्षा में यह बात नहीं होती। उत्प्रेक्षा अपने खरे रूप में वहीं खड़ी होती है जहाँ कवि प्रकृतिमात्र से तृप्त न हो कई प्रकृति खंडों को एकत्र देखना चाहता है और उसके निमित्त प्रकृति के नाना रम्य रूपों को एकत्र करता है। उत्प्रेक्षा में जो 'उत्' लगा हुआ है उसका यही संकेत है। और यही है कल्पना का वह उत्कर्ष जो उत्प्रेक्षा को उपमा से ऊपर उठा सौंदर्य की वेदना को और भी गहरी, रमणीय तथा तीव्र बना देता है। कदाचित् यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदास ने एक दूसरे अवसर पर कुछ उपमा की त्रुटि की ओर भी संकेत किया है। किंतु उस पर दृष्टि डालने से पहले यह देख लेना चाहिये कि प्रस्तुत प्रसंग में 'मनो' को 'जिमि' कर देने से दोष क्या आ जाता है? अच्छा, तो 'जिमि और 'मनो' का सामान्य भेद है क्या? यही न कि 'जिमि' में जैसा है वैसा ही देख लेने की आकांक्षा है और 'मनो' में जैसा है वैसा ही न मान लेने की प्रेरणा। अस्तु, कहा जा सकता है कि उपमा मानी हुई बात में होती है और उत्प्रेक्षा बात को मनाने के हेतु होती है। जो है नहीं किंतु जो हो जाय तो कितना बढ़िया और हृदयग्राही हो यही उत्प्रेक्षा का मूल विषय है—

'नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनो तड़ित छपाये।'

'तड़ित' का स्वभाव क्या है? चंचलता ही न? कहा जा सकता है कि 'स्वभाव को छोड़ कर जैसे तड़ित ने छपा लिया' में क्या आपत्ति है? निवेदन है 'जैसे' क्रियाविशेषण के रूप में आ जायेगा और सौंदर्य की वह अनुभूति भी न हो सकेगी। कवियों की यह परिपाटी सी रही है कि वे उत्प्रेक्षा के साथ साथ कहीं उपमा का प्रयोग भी कर जाते हैं और उपमा के साथ साथ कहीं उत्प्रेक्षा का भी। अलंकार-शास्त्री उनकी वेदना के उतार-चढ़ाव को न परखकर उनकी रचना में दोष निकालने लगते हैं, परंतु ऐसा करना साधु नहीं, वितंडा है।

उपमा की स्थिति को स्पष्ट करने का दूसरा अवसर हाथ लगा है 'सिय-सोभा' के बखान में वे कहते हैं—

सिय सोभा नहिं जाय बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी॥
उपमा सकल मोहिं लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥
सीय बरनि तेहि उपमा देई। कुकबि कहाइ अजस को लेई॥
जौ पटतरिय तीय सम सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
विष बारुनि बधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥
जौ छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥

एहि विधि उपजै लच्छि जब, सुंदरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कबि, कहहिं सीय सम तूल॥

—बाल, २५२

तुलसीदास यहाँ भी उपमा की उपेक्षा 'प्राकृत नारि अंग अनुरागी' के कारण करते हैं और उसके द्वारा सीता की शोभा को व्यक्त करना कुकवि कहाना और अयश मोल लेना बताते हैं। जब उनकी दृष्टि स्त्री-मात्र पर पड़ती है तब नारी की कौन कहे, कोई देवी भी उनकी दृष्टि में नहीं टिकती। सभी में कुछ न कुछ त्रुटि दिखाई देती है। निदान सोचते हैं कि यदि कहीं इस प्रकार की विधि बैठ जाय तो कुछ काम निकल आए। यहाँ तुलसीदास करते तो हैं संभावना, किंतु उतर आते हैं उत्प्रेक्षा की भूमि में ही। यही कारण है कि आगे चलकर तुलसीदास उत्प्रेक्षा के द्वारा ही सीता के सौंदर्य को व्यक्त करते हैं और उसकी अभिव्यक्ति में अपनी कल्पना का कौशल दिखाते हैं।

तुलसीदास ने राम के रूप का जो वर्णन किया है उसको लेकर हम नहीं चलना चाहते। हमको दिखाना तो यह है कि तुलसीदास ने रण-भूमि में विजयी राम की छटा को किस रूप में देखा है और उनके शरीर पर पड़ी हुई शोणित की छींटों को किस रूप में लिया है। उपमा तो यहाँ आ नहीं सकती थी। फलतः उत्प्रेक्षा ही हुई है और ऐसी हुई है कि इसमें तुलसी का हृदय खिल उठा है। कहते हैं—

राम सरासन ते चले तीर रहे न सरीर हड़ावरि फूटी।
रावन धीर न पीर गनी, लखि लै कर खप्पर जोगिनी जूटी॥
सोनित छीटि-छटानि-जटे तुलसी प्रभु सोहैं, महाछबि छूटी।
मानौ मरकत-सैल बिसाल में फैलि चली बर बीर बहूटी॥

—कवितावली, लंका, ५१

रावण का रक्त राम के शरीर पर पड़ा नहीं कि उससे महाछबि छूट पड़ी और तुलसीदास को विशाल मरकत-शैल पर बीर-बहूटियों का फैल चलना सूझ गया। फिर तो राम की ऐसी शोभा बढ़ी कि कामदेव उसके सामने क्या ठहरेगा ? तुलसीदास लिखते हैं—

राजत राम काम सत सुन्दर।
रिपु रन जीति अनुज संग सोभित, फेरत चाप बिसिष बनरुह-कर॥
स्याम सरीर रुचिर स्रम-सीकर, सोनित—कन बिच बीच मनोहर।
जनु खद्योत-निकर हरिहित-गन, भ्राजत मरकत-सैल - सिखर पर॥
घायल बीर बिराजत चहुँदिसि, हरखित सकल रिच्छ अरु बनचर।
कुसुमित किंसुक-तरु-समूह महँ तरुन तमाल बिसाल बिटपवर॥
राजिव नयन बिलोकि कृपा करि किए अभय मुनि नाग बिबुध नर।
तुलसिदास यह रूप अनूपम हिय सरोज बसि दुसह बिपति हर॥

—गीतावली, लंका, १६

ध्यान देने की बात है कि यहाँ शोणित-कण अपने स्थान पर जम गए हैं। उनमें गति नहीं रह गई है। साथ ही पसीने की बूँदें भी बनी हुई हैं। तुलसीदास इस रूप को इस ढंग से बताना चाहते हैं कि दोनों का मिला जुला दृश्य हमारे सामने आ जाय। यहाँ भी वही मरकत शैल और वही बीर बहूटियाँ हैं, परंतु साथ ही हैं यहाँ खद्योत भी। खद्योत के द्वारा जो श्रमसीकर की अभिव्यक्ति हुई है वह देखने के योग्य है, और देखने के योग्य है वह श्रेष्ठ विशाल तरुण तमाल भी, जो फूले हुए पलाशवृक्षों के समूह में खड़ा है। उक्त सवैया में जहाँ शत्रु का रक्त दिखाई देता है प्रकृत गीत में वहीं स्वपक्षियों का घाव भी। तुलसीदास को राम का रूप इतना भाता है कि अंत में उनका कहना ही यही होता है कि—

तुलसिदास यह रूप अनूपम हिय सरोज बस दुसह बिपति हर ।।

अवश्य ही जो विपत्ति में पड़ा हुआ है वह इसी अनुपम रूप को अपने हृदयकमल में धारण करेगा और इस असुर संहारी रूप को कभी भूल न सकेगा। तुलसीदास इस अनुपम रूप पर सुख से रायमुनी को कैसे बिठा देते हैं, इसे भी देखिए—

सिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजही ।।
जनु नील गिरि पर तडित पटल समेत उडगन भ्राजहीं ।।
भुज दंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने ।।
जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने ।।

—लंका, १०३

रायमुनी और बीरबहूटी पर तुलसीदास की जैसी दृष्टि पड़ी है वैसी क्या किसी की होगी? यहाँ 'तडितपटल' और 'उडगन' का अप्रस्तुत भी कितने ठिकाने से ला दिया गया है।

राम के संग्राम के लाघव को देखना हो तो तुलसी के इस छंद को पढ़ें और देखें कि राहु से दिनकर का कैसा बदला लिया गया है—

जनु राहु केतु अनेक नभ पथ स्रवत सोनित धावहीं।
रघुबीर तीर प्रचंड लागहि भूमि गिरन न पावहीं ।।
एक-एक सर सिर निकर छेदे नभ उड़त इमि सोहहीं।
जनु कोपि दिनकर कर निकर जहँ तहँ बिधुंतुद पोहहीं ।।

—लंका, ६२

'इमि' की तोड़ में 'जिमि' को देखने वाले इस 'जनु' में क्या देखेंगे, यह हम नहीं कह सकते, परंतु इतना अवश्य जानते हैं कि इस 'जनु' के द्वारा जो बात व्यक्त की गई है वह अनुपम ही नहीं अद्भुत भी है। उर्दू के लोग 'अनीस' की बड़ी प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि अब्बास के मुखमंडल में जो शत्रु के भाले चुभे हुए थे उनकी सूर्य किरणों से उपमा देकर अनीस ने कमाल कर दिया है। किंतु सच तो यह है कि उस कमाल में भी बहुत कुछ इस लाघव का हाथ है। अनीस अथवा लखनऊ के मरसिया लेखक तुलसी से कितना प्रभावित हैं, यह भी विचारने की बात है। यहाँ हम इतना ही कह कर संतोष करते हैं

कि अनीस की उपमा प्रकरण के अनुकूल नहीं ठहरती। कारण कि भाले चुभे तो हैं अपने इष्ट के मुख में ही। फिर उससे जो वेदना उत्पन्न होगी वह ऐसी न होगी कि हम उसी में अपने प्रिय की शोभा का साक्षात्कार करें और उसके प्रति हमारा जी कलप न उठे।

राम की रक्तचर्चित अनुपम छबि के पान तथा उनके हस्तलाघव के दर्शन के उपरांत देखना यह चहिए कि इसका परिणाम हुआ क्या और आसुरी लोगों की गति बनी क्या? सो, रणभूमि में जो रुधिर सरिता बही तो विपक्षियों की दशा कुछ और ही हो गई। रावणी भटों की जो गति बनी उसको तुलसीदास ने उत्प्रेक्षा के रूप में व्यक्त किया और प्रकारांतर से प्रकट भी कर दिया कि इस उत्प्रेक्षण में उस उत्प्रेक्षण से कितना विभेद है। यहाँ भी है तो उत्प्रेक्षा ही, किंतु इस उत्प्रेक्षा में कल्पना की वह उड़ान और प्रतिभा का वह उल्लास नहीं है। यहाँ तो जो उपमान लाए गए हैं वे प्रति दिन के देखे सुने हैं। देखिए—

> कहरत भट घायल तट गिरे। जहँ तहँ मनहु अर्धजल परे॥
> खैंचहिं गीध आँत तट भए। जनु बंसी खेलत चित दए॥
> बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं। जनु नावरि खेलहि सरि माहीं॥
> जोगिनि भरि-भरि खप्पर संचहिं। भूत पिचास बधू नभ नंचहिं॥
> भट कपाल करताल बजावहिं। चामुंडा नाना विधि गावहिं॥
>
> —लंका, ८८

दिखाने को तो तुलसीदास ने यहाँ भी उछाह ही को दिखाया है, किंतु विशेषता यह है कि यह उछाह विपक्ष के नाश पर होता है। इसमें स्वपक्ष की क्षति की आशंका भी नहीं है। तुलसीदास ने पहले उपमान में जो 'जहँ तहँ मनहुँ अर्ध जल परे' को ला दिया है वह विशेष महत्व का है। जो भट घायल होकर गिर पड़े हैं और व्यथा के मारे कराह रहे हैं, उनमें इतनी शक्ति नहीं कि वे टस से मस हो सकें। उधर रुधिर की धारा भी उमड़ती हुई बहती चली जाती है, जिससे स्थिति यह हो गई है कि इनका धड़ कुछ रुधिर में डूब गया है और कुछ अभी बाहर दिखाई दे रहा है। तुलसीदास इसी को प्रत्यक्ष दिखाना चाहते हैं और इसी से कह भी देते हैं कि मानों वे अर्धजल में पड़े हुए हैं। किंतु अर्धजल की व्याप्ति यहीं समाप्त नहीं हो जाती। इस अर्धजल

में जो भाव भरा है, वह आप ही अवगत हो जायगा यदि आप इसके साथ सूरदास के अर्धजल को भी जान लें और उसकी व्यंजना को भी भली भाँति समझ भी लें। सूर की गोपियाँ किस भंगिमा में किससे क्या कहती हैं और उसके द्वारा सिद्ध क्या करना चाहती हैं, इसको लक्ष्य में रख कर प्रकृत पद पर विचार करें। सूर कहते हैं—

उधौ, तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहति की लागै किन बेकाज ररौ।
जाय करौ उपचार आपनौ हम जो कहत हैं जी की॥
कछू कहत कछुवै कहि डारत धुनि देखियत नहिं नीकी।
साधु होय तेहि उत्तर दीजै तुमसो मानी हारि॥
याही ते तुम्हैं नंदनँदन जू यहाँ पठाये टारि।
मथुरा बेगि गहौ इन पाँयन उपज्यो है तन रोग॥
सूर सुबैद बेगि किन ढूँढ़ौ भए अर्धजल जोग।

प्रस्तुत पद में 'भए अर्धजल जोग' में अर्धजल का जो संकेत है, वही 'मनो अर्धजल परे' के अर्धजल में भी है। उद्धव अर्धजल के योग्य हो गये हैं तो भी उनकी ममता अभी उनसे दूर नहीं हुई। उन्हें अभी 'योग' का उपदेश जो देना है। किंतु गोपियाँ कहना चाहती हैं यह कि यदि आपको शिष्य बनाने की धुन है तो पहले किसी अच्छे वैद्य से अपनी दवा करा लीजिये और ऐसा अच्छा वैद्य आपको वहीं मथुरा में ही मिलेगा। यहाँ तो आपका कोई उपचार हो नहीं सकता। और यदि आपका कोई उपचार नहीं हो पाता तो अब दशा यह है कि 'हरि बोल, हरि बोल' के अतिरिक्त आपका कोई उपाय नहीं। बस, अब आप चला ही चाहते हैं। जीवन लीला समाप्त होने ही को है। हाँ, तो तुलसीदास ने इसी से पहले ही कह दिया था कि—

करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं॥
एहि लागि तुलसीदास इन्हकी कथा कछु एक है कही।
रघुबीर सर तीरथ सरीरन्ह त्यागि गति पैहहिं सही॥

—सुंदर, ३

अस्तु, इनमें जो 'सर' के लगते ही चल बसे थे, उनकी गति तो पहले ही हो चुकी थी। अब जो कायर रह गए थे उनकी यह कदर्थना हुई। अतः तुलसीदास इस उपमान के द्वारा बताना चाहते हैं कि निदान उनकी भी मुक्ति होने ही वाली है। इसी से तो मानो वह अर्धजल की स्थिति में आ गए हैं और उनसे जैसे यह कहा जा रहा है कि अब कहरना छोड़कर राम राम कहो और अपने जीवन को राममय बना कर राम धाम के वासी बनो और छोड़ो इस धरा धाम को। इसमें अब तुम्हारे लिये रहा क्या ? अरे ! इन भटों ने बहुतों का माँस खाया था और इसी से अब इनका माँस भी बहुतों के उछाह का कारण बना। उधर मलिक मुहम्मद जायसी ने भी इसी को ठीक अवसर पर और ठौर ठिकाने से बताया था कि जो जिसका मांस खाता है उसी का माँस अगले जन्म में वह भी खाता है। तुलसीदास बताते तो नहीं, पर इसी को चित में उतार देते हैं। गीध तट से होकर आँत को खींच रहे हैं तो इधर पक्षी बहते हुए भटों पर बैठे हुए विहार कर रहे हैं। तुलसीदास इसी से कहते हैं कि यदि उनकी अवस्था को यथातथ्य अंकित करना है तो किसी मछली के शिकारी और नाव पर आमोद प्रमोद करने वाले प्राणी को क्यों नहीं देख लेते। ठीक ऐसा ही तो उस रुधिर सरिता में भी हो रहा है। यहाँ तक तो उत्प्रेक्षा का कार्य रहा। इसके आगे और इसके पहले उन जीवों का उल्लेख हुआ है जो ऐसे अवसरों की बाट जोहते रहते हैं और हाथ लगते ही परम उछाह का परिचय देते हैं। उनका वर्णन जितना स्वाभाविक है उतना ही सजीव भी और उसी सजीवता के बीच तुलसी का यह उत्प्रेक्षण भी विशाल है।

हाँ, तो तुलसी के रक्तरंजित उत्प्रेक्षण से जी भर गया हो तो उनके अनुरक्त उपमानों को लीजिए और स्मरण रखिए कि—

दूलह राम सीय दुलही री।

घन-दामिनि-बर-बरन, हरन-मन सुन्दरता नखसिख निबही, री ॥ १ ॥

ब्याह बिभूषन-बसन-बिभूषित, सखि-अवली लखि ठगि सी रही, री।
जीवन जनम-लाहु लोचन-फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही, री ॥ २ ॥

सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमिय-मय कियो है दही, री।
मथि माखन सिय राम सँवारे, सकल भुवन-छबि मनहुँ मही, री ॥ ३ ॥

तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही, री।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही, री ॥ ४ ॥
—गीतावली, बाल, १०४

इसमें जो 'अभूत उपमा' निखर उठी है उसकी चर्चा और नहीं होगी। यह तो तुलसी की वह कला है जिसकी जोड़ी नहीं और यह उसी जोड़ी के लिये सुरक्षित भी है जिसकी कोई उपमा नहीं। अतएव इसको यहीं छोड़ इस जोड़ी के उस रूप को लीजिए जो सर्वथा प्राकृत है और प्राकृत रूप में ही अपना कुछ कौतुक दिखा रहा है।

गोस्वामी तुलसीदास कब किस आँख से क्या देखते हैं और किस ढङ्ग से किस अवसर पर क्या दिखाते हैं, इसे जानना ही हो तो उनकी इस चौपाई को कंठ कर लीजिए—

रूपकातिशयोक्ति

राम सीय सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जात बिधि केहीं॥
अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥
—बाल, ३३०

पराग, जलज, ससि और अहि किसके उपमान हैं, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। तुलसीदास इस दृश्य में इतने मग्न हैं कि इसे छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहते और न यही चाहते हैं कि कोई सहृदय भी कहीं अन्यत्र जाय। फलतः उपमान और उपमेय को इस रूप में रख देते हैं कि उन्हें आप रूपकातिशयोक्ति के रूप में चट ग्रहण कर लेते हैं। इतना ही नहीं। यह तो तुलसी की प्रतिभा के लिये बहुत ही तुच्छ बात है। इसमें जो 'लोभ अमी के' का विधान किया गया है वह फल ही इस उत्प्रेक्षण को सफल बना रहा है और यह पुकार कर कह रहा है कि तुलसी की वाणी कवि की वाणी नहीं, सरस्वती की देन है। सो, यहाँ जिस अमृत का लोभ दिखाया गया है वह रामजीवन से कभी अलग नहीं हुआ है और हुआ भी है तो वह लोभ और भी बढ़ गया है। कहाँ तो यह दशा थी कि सीता को आशंका हुई तो उनके नूपुरों ने भी मुखर होकर कवि हृदय में कुछ कह दिया—'हमहि सीय पद जनि परिहरहीं' और कहाँ यह परिस्थिति आ गई कि 'हम कहीं और तुम कहीं।' परिणामतः वियोग में राम की जो वेदना जगी उसका

वर्णन पहले भी आ चुका है और तुलसी ने वहाँ भी रूपकातिशयोक्ति से ही विशेष काम लिया है। यहाँ दिखाना यह है कि कभी सीता की सुषमा के सामने जो चंद्रमा 'बापुरो' और 'रंक' दिखाई देता था वही आज परिस्थिति के प्रताप से राम को केसरी के रूप में गोचर हुआ और राम ने भी उससे वह पाठ पढ़ा कि मत्त नागों का विध्वंस हो गया और उससे वह 'मुकुताहल' हाथ लगा जो सीता का शृंगार बना। परंतु है वह रूपक का प्रसंग ही। अतः यहाँ उसका उल्लेख न कर बताया यह जाता है कि कुछ उस देश को भी देख लीजिए जहाँ—

निज कर राजीव नयन पल्लव-दल-
रचित सयन प्यास परस्पर पीयूष प्रेम पान की

की लीला चल रही थी। तभी तो तुलसीदास भी हुलस कर कहते हैं—

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा ऋतु प्रवेश विसेष गिरि देखन मन अनुरागत ॥ १ ॥
चहुँ दिसि बन संपन्न, बिहँग मृग बोलत सोभा पावत।
जनु सुनरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत ॥ २ ॥
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृङ्गनि ॥ ३ ॥
सिखर परस घन घटहिं, मिलति बग पाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी ॥ ४ ॥
जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ, बन-प्रतिबिंब तरंग।
मानहुँ जग-रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अंग ॥ ५ ॥
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि झरि झरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम भगति के पाछे ॥ ६ ॥
—गीतावली, अयोध्या, ५०

तुलसीदास ने वर्षा ऋतु में चित्रकूट को जिस रम्य रूप में देखा है वह तो यथार्थ है ही, उसमें उत्प्रेक्षण कर जिस राम को रमाया है वह भी अलभ्य है। तुलसीदास के हृदय में पहले तो प्रफुल्ल भ्रमर से गुंजायमान ब्रह्मा का पिता अंभोज प्रकट होता है और फिर वह आदि वाराह, जिसने पृथ्वी फोड़कर हिरण्याक्ष का संहार किया और किया

पृथ्वी का उद्धार। तुलसी की दृष्टि यहीं नहीं रुकती। चित्रकूट की विचित्रता इतनी ही नहीं है। वहाँ की शिलाओं में यत्रतत्र जो जल रह गया है उसमें तुलसीदास को विश्व की झाँकी मिल रही है और उसी में सृष्टि का रहस्य खुल रहा है। ज्ञान के क्षेत्र में प्रतिबिंबवाद की अनुभूति भी यहीं हो जाती है, किंतु सुख संतोष और सुकृत की प्राप्ति होती है रामभक्ति ही में। यही तो चित्रकूट की मंदाकिनी है, जिसमें सभी झरनों का जल मिलता और एकरस हो जाता है।

अस्तु, गोस्वामी तुलसीदास ने प्रकृति के वर्णन में उत्प्रेक्षा का जो प्रयोग किया है वह कहीं भी देखा जा सकता है। हिंदी कवियों की यह परिपाटी सी रही है कि वे प्रकृति के वर्णन में प्रायः उत्प्रेक्षा से काम लेते रहे हैं। तुलसीदास ने भी प्रायः ऐसा किया है। उत्प्रेक्षा के विषय में और अधिक कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और न यही दिखाने में कोई लाभ दिखाई देता है कि किस प्रकार उन्होंने ग्रहों को भी उत्प्रेक्षा का विषय बनाया है। तुलसीदास की रचनाओं में जैसी उत्प्रेक्षा चाहें, और अन्य अलंकारों के साथ भी प्राप्त हो जायगी। संभावना और रूपकातिशयोक्ति के साथ हमने उसकी प्रगल्भता को देखा है। अतएव इसके संबंध में अधिक न कह कुछ तुलसी के रूपकों पर विचार होना चाहिए।

रूपक

अच्छा तो उत्प्रेक्षा में कल्पना का जितना ही उत्कर्ष होता है उतना ही रूपक में उसे रूप देने का श्रम। समर्थ और कुशल कवि रूपक के द्वारा ही दृश्य को खड़ा करते हैं और उसको भली भाँति जी में जमा भी देते हैं। उत्प्रेक्षा के प्रकरण में तुलसीदास की शोणित सरिता और उनकी भक्तिमंदाकिनी को देख लिया। अस्तु, यहाँ अब उनकी करुणा और स्नेह की सरिता को भी देख लीजिए। प्रसंग चित्रकूट ही का है। जो कठोर चित्रकूट पहले कोमल कमल बना था वही अब आकुल अंबुधि बन गया है। कहते हैं—

आश्रम सागर सांत रस, पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना सरित, लिये जाहिं रघुनाथ॥

बोरति ग्यान बिराग करारे । बचन ससोक मिलत नद-नारे ॥
सोच उसास समीर तरंगा । धीरज तट तरुवर कर भंगा ॥
बिषम बिषाद तोरावति धारा । भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा ॥
केवट बुध विद्या बड़ि नावा । सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा ॥
बनचर कोल किरात बिचारे । थके बिलोकि पथिक हिय हारे ॥
आश्रम उदधि मिली जब जाई । मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई ॥
सोक बिकल दोउ राज समाजा । रहा न ग्यानु न धीरजु लाजा ॥
भूप रूप गुन सील सराही । रोवहिं सोक सिंधु अवगाही ॥

अवगाहि सोच समुद्र सोचहिं नारि नर व्याकुल महा ।
दै दोष सकल सरोष बोलहिं बाम बिधि कीन्हो कहा ॥
सुर सिद्ध तापस जोगिजन मुनि देखि दसा बिदेह की ।
तुलसी न समरथु कोउ जो तरि सके सरित सनेह की ॥

—अयोध्या, २७५–२७६

इस सांग रूपक में तुलसीदास ने जो 'मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई' की उत्प्रेक्षा कर दी उससे काव्य की वेदना बढ़ी अथवा मंद पड़ी, इसकी मीमांसा में हम नहीं पड़ते। हमारी दृष्टि में तो कोई भी सहृदय इसे आप ही समझ सकता है और यह जान भी सकता है कि साहित्य समीकरण अथवा लेखाजोखा का बहीखाता नहीं है। उसमें तो बीच बीच में अनेक भाव भी उठते बैठते वा घटते बढ़ते रहते हैं और उसके उल्लास में इतना अवकाश नहीं रहता कि हम चुपचाप अति काल तक किसी आवेश का लेखा लेते रहें और उसकी तरंगों को ठुकराकर तटस्थ पड़े रहें। निदान साहित्यशास्त्र के पंडितों को कुछ हृदय पर हाथ रख कर कहना चाहिए, सर्वत्र शब्द पर कान देकर ही नहीं।

तुलसीदास ने सरिता का रूपक बहुत बाँधा है और उसको भिन्न भिन्न रूपों में दिखाया भी खूब है। उन सभी रूपकों पर विचार करना व्यर्थ है। यहाँ अभीष्ट तो यह है कि हम तुलसी के रूपकों के महत्व को समझ लें और उनकी काव्यकुशलता को ठीक ठीक आँक भी लें। तो,

रूपक का महत्व

राम अवध को छोड़ कर बन को चल पड़े। हैं तो यहाँ तापस वेष में, परंतु भावना राजा की ही है। इसी से तीर्थराज प्रयाग में पहुँचते हैं तो उनको तीर्थराज का ऐसा साक्षात्कार होता है—

सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीत हितकारी ॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू ॥
छेत्रु अगमु गढ़ गाढ़ सुहावा। सपनेहु नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा ॥
सेन सकल तीरथ बर बीरा। कलुष अनीक दलन रन धीरा ॥
संगमु सिंघासन सुठि सोहा। छत्रु अखय बटु मुनि मन मोहा ॥
चँवर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होहि दुख दारिद भंगा ॥

सेवहि सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मन काम।
बंदी बेद पुरान गन, कहहिं, बिमल गुन ग्राम ॥

—अयोध्या, १०५

इसमें सिंहासन, क्षत्र और चँवर का जो रूप लिया गया है वह तो देखते ही बनता है। भला जहाँ ऐसा राजा होगा वहाँ दुःख दारिद्र्य रह कैसे सकता है। राजा जिस सुहावने, गाढ़े अगम गढ़ में बैठा है उस पर तो किसी अन्य का अनुशासन होने से रहा, किंतु एक दूसरा भी राजा है जो मंदिर में कौन कहे अरण्य में भी किसी को कुशल से नहीं रहने देता और वहाँ भी अपनी सेना खड़ी कर आक्रमण कर ही देता है। यह और कोई नहीं मदन महीप जू हैं जो मनोभव के रूप में बहुत ही विख्यात और घट घट व्यापी भी हैं। तुलसी की इस कला को भी मन मारकर परखिए। कारण कि—

बिरह बिकल बलहीन मोहिं, जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग, मदन कीन्ह बगमेल ॥
देखि गयउ भ्राता सहित, तासु दूत सुनि बात।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब, कटकु हटकि मनजात ॥

बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिए जनु तानी ॥
कदलि ताल बर ध्वजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका ॥
बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना ॥
कहुँ कहुँ सुन्दर बिटप सुहाए। जनु भट बिलग बिलग होइ छाए ॥
कूजत पिक मानहुँ गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते ॥
मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी ॥
तीतर लावक पदचर जूथा। बरनि न जाइ मनोज बरूथा ॥
रथ गिरि सिला दुंदुभी झरना। चातक बंदी गुन गन बरना ॥

संकट में पड़ गया था और नाना प्रकार के तर्क वितर्कों से आहत हो रहा था वह अकंटक हो गया और मानों उसकी रक्षा के हेतु ही ये दो यामिक उसको प्राप्त हो गए। किंतु क्या इतने ही से पूरा पड़ गया? संसार के सभी जीव तो प्रजा के रूप में थे नहीं। इस व्यवस्था से उनका क्या कल्याण हुआ? तुलसी जताना चाहते हैं कि जो राम से राम के नाम को बड़ा ठहराया गया है वह अक्षरशः सत्य है। अवध की स्थिति राम के रहते हुए बिगड़ गई, किंतु उनके अभाव में उनके नाम ने ही जो काम किया वह किसे नहीं भाया? इस पाँवरी का प्रभाव पामर कैकेयी पर क्या पड़ा, इसका पता नहीं। नहीं, पता है और यही कि ग्लानि के मारे वह गल गई। अरे, इन्हें पादुका कौन कहता है? यह तो मानों रामनाम के रकार और मकार हैं, जिनके अनुष्ठान से जीव का कल्याण होता है। उसका सारा यत्न सफल होता है। प्रजा-वर्ग का कल्याण हो गया। अब राजवर्ग को लीजिए। भरत का जो स्नेह है उसकी रक्षा कहाँ हो सकती है? यदि भरत को इनका आधार नहीं मिलता तो उन पर कितनी और कैसी कुदृष्टि पड़ती, इसको कोई भी समझ सकता है। उनके स्नेह का अनुपम जो रत्न है वह इसी पादुका के दृढ दुर्ग में सुरक्षित हुआ और इसी में पककर वह पारद बना जिसकी तुलना आज तक न हो सकी। तुलना क्या, वर्णन भी न हो सका। रही कुल की बात। सो तो प्रत्यक्ष ही है। इस कुल के लिये तो इनने किवाड़ का काम किया और कर्महीन इस कुल को दो हाथ मिल गए, जिससे सभी के काम सध गए। तो क्या यहीं इसकी इति हो गई? तुलसीदास कहते हैं, जी नहीं। सेवा जैसा जो उत्तम धर्म है उसकी तो ये निर्मल आँख ही हैं। जिसने इनको देख लिया उसने सेवा के मर्म को समझ लिया और यदि विश्व में सेवा जैसे धर्म की स्थापना हो गई, तो फिर कहना ही क्या, और क्या पाना शेष रह गया। सभी कुछ तो सहज ही सध गया। लोक परलोक, राजा प्रजा सब बन गए।

अवध में पादुका ने जो सद्भाव भरा वह तो मन की आँखों में फिर गया, पर राम ने जो कुछ बन में किया वह अभी चित्त में नहीं उतरा। लोककल्याण के लिये असुरसंहार तो दूर रहा, उनकी घरनी भी घर में नहीं रही। पता चला तो चढ़ दौड़े। क्षितिज पर दृष्टि पड़ी तो मयंक दिखाई दिया और उसने कुछ ऐसा उद्दीप्त किया कि राम अपने सहा-

यकों की मंडली में बोल उठे और तुलसी ने चट उसे लिपिबद्ध कर दिया। लिखते हैं—

> पूरब दिसा बिलोकि प्रभु, देखा उदित मयंक।
> कहत सबहि देखहु ससिहि, मृगपति सरिस असंक॥

भला राम जैसे वीर को इस 'सरिस' से संतोष हो सकता था? उपमा दूर से दिखाकर रह जाती है। अपने आप रूप धारण नहीं कर पाती। किंतु भाव की मूर्ति तो रूपक में ही खरी उतरती है। निदान राम ने फिर सतर्क होकर कहा—

> पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥
> मत्त नाग तम कुम्भ विदारी। ससि केसरी गगन बन चारी॥

यहाँ तक तो पुरुषसिंह ने सिंह को देखा और देखा बनचारी शशि केसरी को। किंतु सरस देखना तो इसके आगे हुआ। जब उसने यह देखा कि यह केसरी मत्त नागों के तमकुंभ को यों ही नहीं फाड़ता, उसे तो अपनी सुंदरी रात्रि का शृंगार भी करना होता है और ऐसा शृंगार करना रहता है कि गजमुक्ताओं के बिना उसका काम ही नहीं सधता। निदान आकाश मे तारे क्या हैं? उसी तमकुंभ के मुक्ताफल तो। जब चंद्र अंधकार को फोड़कर उसमें से अपनी प्रिया के लिये गजमुक्ता निकालता है तब क्या रामचंद्र भी अपनी प्रिया के लिये ऐसा कुछ नहीं कर सकता? किया और ऐसा किया कि मत्त तम का विनाश हो गया। तारा का उदय हुआ और सुंदरी का शृंगार भी बन गया।

गोस्वामी तुलसीदास के भावमय रूपकों के विषय में और अधिक न कहकर अब कुछ दूसरे वर्ग के रूपकों पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। मृगेंद्र का रूपक तो आ ही चुका। अब मृगांक की विधि देखिए—

> रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर,
> दिन दिन बिकल सकल सुख राँक सो।
> नाना उपचार करि हारे सुर सिद्धि मुनि,
> होत न बिसोक ओत पावै न मनाक सो॥
> राम की रजाय तें रसायनी समीर सुनु,
> उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो।

जातुधान बुट पुटपाक लंक जातरूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो ॥
—कवितावली, सुंदर, २५

रसायन से तुलसीदास ने जो काम लिया है, वह राजरोग को दूर करने में समर्थ है, कुछ भरपेट भोजन देने में नहीं। उसके हेतु तो नाना पकवान ही तृप्तिकर होता है। इसी से तो तुलसी को कहना पड़ा—

हाट बाट हाटक पिघलि चली घी सो घनो,
कनक कराही लंक तलफति ताय सों।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब,
पागि पागि ढेरी कीन्हीं भली भाँति भाय सों॥
पाहुने कृसानु पवमान सों परोसो,
हनुमान सनमानि के जेंवाये चित्तचाय सो।
तुलसी निहारि अरिनारि दै दै गारि कहैं,
बावरे सुरारि बैर. कीन्हों रामराय सों॥
—कवितावली, सुंदर, २४

तुलसीदास के इस रूपक में 'गारी' का जो विधान हो गया है वह किसी किसी की दृष्टि में चिंत्य भी हो सकता है, किंतु थोड़ा कष्ट करने से अवगत होगा कि तुलसीदास ने यहाँ भी 'गारि नाग सुनि अति अनुरागे' एवं 'समय सुहावनि गारि बिराजा' को ही लक्ष्य में लिया है। अरिनारि की गालियों से पाहुने कृसानु को आनंद रस प्राप्त हुआ, इसमें संदेह नहीं, और यह भी प्रकट ही है कि जो 'बैर कीन्हो राम राय सो' का उल्लेख हुआ है वह भी इसी गाली का अंग है, जिसे एक प्रकार की व्याजस्तुति ही समझिए। 'बावरे सुरारि' रावण से बैर करते नहीं बना, यही तो इसका प्रस्तुत अर्थ है। इसकी व्यंजना भी प्रकारांतर से यही होगी कि कैसा बढ़िया बैर किया कि आगे चलकर सबकी गति हो गई। संबंध शुभ और मंगलप्रद रहा।

तुलसीदास का एक और भी विलक्षण रूपक लीजिए। यहाँ तुलसी का कुछ और ही रंग है। बड़े ही सद्भाव से स्निग्ध वाणी में उपदेश देते हैं—

सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी।
समनि-सोक-संताप-पाप-रुज, सकल-सुमंगल-रासी॥
मरजादा चहुँ ओर चरन बर सेवत सुरपुर बासी।
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिवलिंग अमित अबिनासी॥
अतर अयन अयन भल, थल फल, बच्छ वेद-बिस्वासी।
गल कंबल बरुना बिभाति, जनु लूम लसति सरितासी॥
दंडपानि भैरव निसान, मलरुचि खलगन भयदा सी।
लोल दिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा सी॥
मनिकर्निका-बदन-ससि-सुन्दर, सुरसरि सुख-सुषमा सी।
स्वारथ-परमारथ-परिपूरन पंचकोस महिमा सी॥
विस्वनाथ पालक कृपालु चित, लालति नित गिरिजा सी।
सिद्ध सची सारद पूजहिं, मन जोगवति रहति रमा सी॥
पंचाच्छरी प्रान, मुद माधव, गव्य सुपंचनदा सी।
ब्रह्म जीव सम राम नाम जुग आखर-बिस्व बिकासी॥
चारितु चरित करम कुकरम करि मरत जीवगन घासी।
लहत परमपद पय पावन जेहि, चहत प्रपंच-उदासी॥
कहत पुरान रची केसव निज कर-करतूति-कला सी।
तुलसी बसि हरपुरी राम जपु जो भयो चहै सुपासी॥

—विनय, २२

काशी को मोक्षदापुरी कहते हैं। उसमें अनुराग भी लोगों का न्यून नहीं है, पर उसके स्वरूप को हृदय में रमाया कैसे जाय? तुलसीदास ने देखा कि धेनु का स्वरूप तो सभी लोगों की आँखों में बसा होता है और लोग कामधेनु को जानते भी हैं बड़े ढब से। अतएव काशी को कलि की कामधेनु बना दो। लोक में ऐसी धेनु कहाँ, जिससे मन की सारी कामना पूजे। तुलसीदास साहस के साथ कहते हैं कि निराश होने की आवश्यकता नहीं। देखते क्यों नहीं। काशी है क्या? इसी को कलिकाल में कामधेनु क्यों नहीं समझ लेते? इससे कौन सी कामना अधूरी रह जायगी? निदान इस काशी का रूप कामधेनु के रूप में अंकित हुआ और तुलसी ने यह निश्चय किया कि बस हरपुरी में बस रहो। राम को जपो और काशी कामधेनु का सेवन करो। तुलसी-दास ने जीवन में जो कुछ देखा वह इतना ही नहीं था। उन्होंने रूपक

से कुछ और भी काम लिया। वाच्य के रूप में जो बात खटकती है वही व्यंग्य के रूप में हृदय में अपना घर बना लेती है और लक्ष्य भी ठीक बैठ जाता है। तुलसीदास ने रूपक के द्वारा इसकी साधना भी की है। एक छोटा सा उदाहरण है—

तुलसी जो नर देत हैं, जल में हाथ उठाय।
प्रतिग्राही जीवै नहीं, दाता नरकै जाय॥

—दोहावली, ५३३

दोहे में देखने में कोई खलने या खटकने की बात नहीं है, किंतु समझने पर गंगापुत्रों के लिये यह बहुत ही कटीला है। जो लोग बंसी लगाते अथवा कटिया से मछली फँसाते हैं उनकी गति नरक नहीं तो और क्या होगी और मछली तो उस दान को लेकर बचती ही नहीं, नष्ट हो जाती है। दान है उत्तम पदार्थ, किंतु तभी जब दाता और प्रतिग्राही में योग्यता और विवेक हो। अन्यथा उसका परिणाम दुःखद ही होता है। तुलसीदास जानते हैं कि मनमीन बड़ा चंचल है, उससे पार पाना कठिन है। अतएव अपने कौतुकी राम से प्रार्थना करते हैं—

कृपा-डोरि बंसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
हिय बिधि बेधि हरहु मेरो दुःख कौतुक राम तिहारो॥

इस रूपक को दृष्टि में रखकर उस मछली के व्यंग्य रूपक को देखें और फिर कहें कि तुलसीदास किस समय किस ढब से क्या कहना जानते हैं और कब और कैसे अपना लक्ष्य सटीक साधते हैं। सबकी अवस्थिति तो सामने आ गई, पर तुलसी की अभी आँख से ओझल ही है। लीजिए, आप ही यह भी बता जाते हैं—

बिरचि हरि भगति को बेस बर टाटिका,
कपट दल हरित पल्लवनि छावौं।
नाम लगि लाय लासा ललित बचन कहि,
ब्याध ज्यौं बिषय बिहंगनि बझावौं॥

—विनय, २०८

तुलसी का यह निवेदन भी ठीक वैसा ही है जैसा 'रामचरित मानस' का—

बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधरच धोरी॥

—बाल, १७

कहने को तो तुलसीदास ने अपने को ही ऐसा कहा है, किंतु वास्तव में लक्ष्य रहा है सदा साधुवेष ही।

व्याध का उपमान तुलसी के 'मानस' में बालि के प्रसंग में भी उपमा आया है। इसके द्वारा तुलसीदास ने अपने मनोगत भावों को बड़े ढंग से व्यक्त किया है। इनकी एक दूसरी उपमा लीजिए—

कुटिल करम लै जाय मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जिनि छिन छोह छाँड़िये कमठ अंड की नाईं॥

—विनय, १०३

'कर्म' और 'कृपा' को तुलसीदास ने कहाँ और किस रूप में लिया है, इसके अध्ययन को यदि छुट्टी न मिले तो इसी को ठीक से समझ लें और तुलसी के मर्म को पहिचान लें। कमठ कहीं भी रहे, उसे अपने अंडे की चिंता रहती ही है। वह वहीं से उसका पालनपोषण करता रहता है। तुलसीदास ने इसे इस रूप में बराबर लिया है और इसीको कृपा का रूप भी माना है। गुड्डी पर भी तुलसीदास की दृष्टि बराबर रही है और इसके नाना रूपों को उन्होंने दरसाया भी खूब है। कहीं लक्ष्मण के चित की वृत्ति को दिखाया है तो कहीं गृद्ध के उपमान के रूप में उसे जुटाया है और कहीं माताओं की स्तब्धता को बताया है। कहते हैं—

भरत गति लखु मातु सब रहीं ज्यों गुड़ी बिनु बाय।

—लंका, १४

कहना तो यह चाहिए कि तुलसी के सभी स्थलों की पतंगों को एकत्र किया जाय तो उसकी सारी प्रक्रिया आप ही प्रकट हो जाय और चंग कला भी प्रत्यक्ष हो जाय। परंतु हम तुलसी की उपमा को कुछ और ही रूप मे देखना चाहते है और उसके द्वारा बताना यह चाहते हैं कि तुलसीदास ने उपमा से भी बड़ा गहरा काम लिया है।

पात्रों की कुंजी उनकी उपमा ही है। 'ब्रह्म जीव बिच माया जैसी' की तो बात छोड़िए। तुलसीदास कुछ सोच समझकर ही लिखते हैं—

जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥
सेवहिं लषन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं॥
—अयोध्या, १४२

इसमें 'लषन' को जो अविवेकी पुरुष का उपमेय बनाया गया है वह सहसा बेतुका प्रतीत होता है और खटक भी खूब जाता है, परंतु यदि पूरे चरित को लिया जाय तो यह उनके चरित में अक्षरशः खरा उतरता है। लक्ष्मण सीता और राम के सेवक हैं और सेवा उसी रूप में करते हैं जैसे अविवेकी पुरुष शरीर की सेवा करता है। 'मानस' में न जाने कितने स्थल ऐसे आते हैं जहाँ इस विवेकहीनता के कारण ही राम को उन्हें बरजना पड़ता है। यहाँ तक कि राम जब सीता को छोड़ कर मृगवध में निरत होते हैं तब लक्ष्मण को सचेत कर कहते हैं—

सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि विवेक बल समय विचारी॥

कारण यह कि 'फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई।' कहा तो समझाकर, पर लक्ष्मण ने किया क्या? और जब राम ने इनसे कहा कि मेरी बात की उपेक्षा कर जो तुम यहाँ आ गए सो अच्छा नहीं हुआ, हो न हो निशिचरों ने कुछ जाल रचा हो, तो इनसे कुछ कहते तो बना नहीं, हाँ इतना अवश्य दीनता के साथ कह दिया—

गहि पद कमल अनुज कर जोरी। कहेउ नाथ कछु मोहिं न खोरी॥

सुगम होगा यदि इतना और भी जान लें कि इसी उपमा के द्वारा तुलसी ने राजा और रानियों के जोगाने में भी भेद दिखा दिया है। सुनिए—

राम सुना दुख कान न काऊ। जीवन तरु जिमि जोगवइ राऊ॥
पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती। जोगवहिं जननि सकल दिन राती॥
—अयोध्या, २०१

बस जहाँ कहीं आपको तुलसी में 'जोगवत' दिखाई दे वहाँ सतर्क होकर देख लें कि वास्तव में तुलसी क्या कहना चाहते हैं और उनकी उपमा वहाँ अपना क्या करतब दिखाती है। भाव दृष्टि से तुलसीदास की उपमा कम चोखी नहीं होती। जनक रंगभूमि में जुटे हुए राजा

लोगों से कुछ कड़ी बात कहते हैं तो सभी वीर लज्जावंती का रूप धारण कर लेते हैं और पक्के छुईमुई बन जाते हैं—

जनक बचन छुए बिरवा लजारू के से बीर रहे सकल सकुचि सिर नाइ के।

—गीतावली, बाल, ८२

भाव नहीं, यहाँ तो अनुभाव की बहार है। जनकवचन से तो इनकी यह गति हुई। उधर भरतवचन से चित्रकूट की सभा की स्थिति कुछ और ही हो जाती है। सभासहित मुनि विदेह हो गए, किंतु उनकी मति अबला सी ही रही। तुलसीदास लिखते हैं—

भरत महामहिमा जलरासी। मुनिमति ठाढ़ि तीर अबला सी॥
गा चह पार जतनु हिय हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥

—अयोध्या, २५७

स्तब्धता के साथ यदि चंचचता का दर्शन करना हो तो भरत की दशा को लीजिए और भर आँख देखिए कि—

फेरति मनहुँ मातृकृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जलप्रवाह जल अलि गति जैसी॥

—अयोध्या, २३४

पानी का भौंरा यों ही चंचल होता है। वही यदि जलप्रवाह में पड़ जाय तो उसकी चंचलता कितनी अधिक हो जाती है इसको उसको देखने वाले ही जान सकते हैं। सच है, प्रकृति में कोई पदार्थ नहीं जो तुलसी के लिये नगण्य हो और अपनी गतिविधि से काव्य की शोभा न बढ़ा सकता हो।

और यदि विवशता की व्यंजना प्रिय हो तो मंदोदरी की उक्ति को लीजिए। किस विषाद से कहती है—

कंत बीस लोचन बिलोकिए कुमंत फल,
ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की सी झोपड़ी।

—कविता०, सुंदर, २७

फिर भी बीस आँखो से रावण को कुछ भी दिखाई न दिया।

और राम ? उनकी शोभा का कहना ही क्या—

कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों।
मरकत सयल पर लरत दामिनि कोटि सो जुग भुजग ज्यों॥

—अरण्य, १२

चाहें तो इसे 'अभूत उपमा' कह लें। दामिनि को तुलसीदास ने यहाँ पिंगल जटा के उपमान के रूप में लिया है, जिससे उनकी सच्ची सूझ का पता चलता है। बालों से बिजुली का जो लगाव है उसको लोग जानते ही हैं। विद्युत् गति में स्फूर्ति की व्यंजना है, जिससे राम की फुर्ती और उमंग का बोध होता है और साथ ही भविष्य के संग्राम का द्योतन भी।

उत्प्रेक्षा और रूपक के प्रसंग में बीच बीच में उपमा जो कौशल दिखाती रही है वह है तो महत्व का, किंतु वहाँ उतना प्रबल नहीं। उसकी प्रबलता को देखना हो तो रामकथा को देखिए। तुलसीदास किस हुलास से कहते हैं—

राम कथा कलि पन्नग भरनी। पुनि विवेक पावक कहुँ अरनी॥
राम कथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवन मूरि सुहाई॥
सोइ बसुधा तल सुधा तरंगिनि। भय भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि॥
असुर सेन सम नरक निकंदिनि। साधु बिबुध कुल हित गिरिनंदिनि॥
संत समाज पयोधि रमा सी। बिस्व भार भर अचल छमा सी॥
जम गन मुँह मसि जग जमुना सी। जीवन मुकुति हेतु जनु कासी॥
रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी॥
सिव प्रिय मेकल सैल सुता सी। सकल सिद्धि सुख संपति रासी॥
सदगुन सुरगन अंब अदिति सी। रघुबर भगति प्रेम परिमित सी॥

—बाल, ३६

रामकथा की इस बालोपमा में जो रूपक और उत्प्रेक्षा का विधान हो गया है वह उसके उत्कर्ष का कारण है। तुलसीदास का मन जितना 'सी' में रमा है उतना किसी में नहीं। तो भी यह कहना ही होगा कि रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमा सभी ने जो काम मिलकर किया है वह उल्लेख के योग्य है। 'सकल सिद्धि सुख संपति रासी' में वही बोल भी उठा है।

राम कथा के साथ ही रामचरित को भी लीजिये। तुलसीदास स्त्री और पुरुष के भेद को समझते हैं और बूझते है कथा और चरित के भेद को भी। अप्रस्तुत प्रस्तुत को रमणीय और सुबोध बनाने के निमित्त ही लाया जाता है, कुछ यों ही मैदान मारने किंवा करतब दिखाने के हेतु नहीं। यहाँ 'सी' नहीं 'से' है और है 'के' के उपरांत ही। हाँ, राम चरित को लख तो लीजिए और इस 'के' तथा 'से' के महत्व को जान तो जाइए। लीजिए—

रामचरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू॥
जग मंगल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के॥
सद्गुरु ग्यान बिराग जोग के। बिबुध बैद भव भीम रोग के॥
जननि जनक सिय राम प्रेम के। प्रिय पालक परलोक लोक के॥
सचिव सुभट भूपति बिचार के। कुंभज लोभ उदधि अपार के॥
काम कोह कलिमल करि गन के। केहरि सावक जन मन बन के॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद-घन दारिद दवारि के॥
मंत्र महामनि विषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥
हरन मोह तम दिनकर कर से। सेवक सालि पाल जलधर से॥
अभिमत दानि देव तरुवर से। सेवत सुलभ सुखद हरिहर से॥
सुकवि सरद नभ मन उडुगन से। राम भगत जन जीवन धन से॥
सकल सुकृत फल भूरि भोग से। जग हित निरुपधि साधु लोग से॥
सेवक मन मानस मराल से। पावन गंग तरंग माल से॥

कुपथ कुतरक कुचालि कलि, कपट दंभ पाखंड।
दहन राम गुन ग्राम जिमि, इंधन अनल प्रचंड॥
रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन कुमुद चकोर चित, हित बिसेषि बड़ लाहु॥

—बाल, ३७

कितना व्यापक, कितना गंभीर और कितना उदार है यह चरित! और साथ ही प्रचंडता भी कुछ अल्प नहीं है। संक्षेप में, सबको सुखद तो है ही, विशेष प्राणियों के लिये विशेष लाभप्रद भी है।

रामकथा और रामचरित का उल्लेख तो हो गया, परंतु अभी राम का रूप दृष्टिगोचर नहीं हुआ। सो उसे भी देख लें और देख लें राम और लक्ष्मण की भिन्नता को भी। तुलसीदास किस कुशलता से बताते हैं—

राज समाज बिराजत रूरे। उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे॥
जिन्ह कै रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥
देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रस धरे सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप बेखा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुखदाई॥

नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत श्रृंगार धरि, मूरति परम अनूप॥

बिदुषन प्रभु बिराट मय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥
जोगिन्ह परम तत्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥
हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुख दाता॥
रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया॥
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कबि कोऊ॥
जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥

राजत राज समाज महँ, कोसल-राज-किसोर।
सुंदर स्यामल गौर तनु, बिस्व बिलोचन चोर॥

—बाल, २४७

उल्लेख की व्याप्ति कहाँ तक है, इसका ठीक ठीक निर्णय तभी संभव है जब तुलसी का व्यापक अध्ययन हो ले। राम को यहाँ लोगों ने अपनी अपनी भावना के अनुरूप देखा है और देखकर ही वे तृप्त अथवा खिन्न हो गए हैं। इसी राम को आगे चलकर फिर भी लोगों, विशेषकर देवताओं, ने अपने अपने ढंग से देखा है, किंतु उन्हें देखने से संतोष नहीं हुआ है। उस समय किसी के मन में अपना कोई अभाव

उल्लेख

खटका है तो किसी को अपनी विषमांगता पर ही हर्ष हुआ है और किसी ने किसी शाप ही को मंगलप्रद मान लिया है। भावार्थ यह कि सबको कुछ न कुछ अपनी वासना के अनुकूल प्राप्त हुआ है और किसी किसी को तृप्ति भी मिली है। किसी को पछताना भी पड़ा है। संक्षेप में, अपनी अपनी पूँजी और अपनी अपनी करनी और अपनी अपनी लालसा यहाँ भी सबके साथ रही है और रही है इसलिये कि सभी अपने अपने भाव में राम के सौंदर्य को व्यक्त करें। तुलसी का यह उल्लेख भी दर्शनीय है। कारण कि यहाँ बड़ों बड़ों के जी में बड़ी बड़ी बातें हो रही हैं, किंतु जनसमाज में हर्ष ही हर्ष है। राम दूलह के रूप में असवार हैं। उन पर लोगों की दृष्टि पड़ी तो—

सकर राम रूप अनुरागे। नयन पंच दस अति प्रिय लागे॥
हरि हित सहित रामु जब सोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥
निरखि राम छबि बिधि हरषाने। आठै नयन जानि पछिताने॥
सुरसेनप उर बहुत उछाहू। बिधि तें डेवढ़ सुलोचन लाहू॥
रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना॥
देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं॥
मुदित देव गन रामहि देखी। नृप समाज दुहु हरष बिसेखी॥

—बाल, ३२२

तुलसीदास ने एक तथ्य को दृढ़ करने तथा मर्मभेदी बनाने के विचार से नाना उपमानों को प्रस्तुत किया है और उनकी लड़ी सी लगा दी है। कहीं कहीं तो हम उनको माला के रूप में पाते हैं, पर प्रायः ऐसा होता नहीं है। हमारी समझ में इन सभी स्थलों को उल्लेख के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। उल्लेख का मूल संकेत है उरेहना अर्थात् किसी वस्तु को चित्रित करके दिखा देना। गोस्वामी तुलसीदास ने किया यह है कि जहाँ कहीं किसी सिद्धांत, किसी नीति, किसी मर्यादा या किसी सौंदर्य का उल्लेख किया है वहाँ एक दो अप्रस्तुतों से ही संतोष नहीं किया है। नहीं, उसकी योग्यता के अनुसार उसके अप्रस्तुतों की वृद्धि की है और उनकी संख्या भी बराबर बढ़ती रही है। प्रमाण के लिये इतना पर्याप्त होगा—

कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके। तेहि कि दरिद्र परसमनि जाके॥
परद्रोही की होइ निसंका। कामी पुनि कि रहहि अकलंका॥

बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें। करम कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें॥
काहू सुमति कि खल सँग जामी। सुभ गति पाव कि परत्रिय गामी॥
भव कि परहिं परमात्मा बिंदक। सुखी कि होंहि कबहुँ हरि निंदक॥
राजु कि रहै नीति बिनु जाने। अघ कि रहहिं हरि चरित बखाने॥
पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावै कोई॥
लाभु कि कछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना॥
हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिय न रामहिं नर तन पाई॥
अघ कि बिना तामस कछु आना। धर्म कि दया सरिस हरिजाना॥
एहि बिधि अमित जुगुति मन गुनेऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनेऊँ॥

—उत्तर, ११२

तुलसीदास के प्रमुख अलंकारों में एक ही अलंकार ऐसा रहा जिसका उल्लेख अभी नहीं हुआ। वह है दृष्टांत। दृष्टांत की कोटि के अलंकारों का ध्येय होता है किसी बात को पुष्ट करना और यथातथ्य मन में बिठा देना। व्यास लोग कथा बाँचते समय जब तक कोई दृष्टांत नहीं देते तब तक उन्हें संतोष ही नहीं होता। दृष्टांत, उदाहरण और अर्थांतरन्यास में थोड़ा सा अंतर बताया गया है। दृष्टांत और उदाहरण में केवल वाचक का भेद माना जाता है। नहीं तो होता है दोनों में ही बिंब प्रतिबिंब भाव। हाँ, अर्थांतरन्यास में अवश्य ही सामान्य से विशेष को अथवा विशेष से सामान्य को पुष्ट करते हैं। इसमें सामान्य से सामान्य और विशेष से विशेष का समर्थन नहीं होता। प्रतिवस्तूपमा और निदर्शना भी इसी कोटि के अलंकार हैं, जो थोड़े से भेद के कारण स्वतंत्र मान लिए गए हैं। प्रतिवस्तूपमा में 'धर्म' पर दृष्टि रहती है और निदर्शना में उपमान की अपेक्षा। अर्थात् दृष्टांत में कुछ विशेषता होने पर ही ये अलंकार सिद्ध होते हैं। प्रतिवस्तूपमा में जो उपमा है उसी को यदि दृष्टांत के प्रसंग में ग्रहण करें तो इसे प्रतिबिंबोपमा कह सकते हैं। भाव यह कि यह सब उपमा का ही खेल है। विशेषता यह है कि इसमें सादृश्य की नहीं, समर्थन की भावना प्रबल होती है। इसी से इसकी आवश्यकता भी नीति, सदाचार और तथ्यनिरूपण में जितनी पड़ती है उतनी अन्यत्र नहीं। तुलसीदास ने इन अलंकारों को भी अपनाया है और इनसे काम भी पूरा लिया है। इनमें भी उदाहरण

दृष्टांत

को ही विशेष महत्व दिया है, क्योंकि वाचक के प्रस्तुत होने के कारण यह विबप्रतिबिंब भाव उपस्थित करने और उसे हृदयग्राही बनाने में और भी समर्थ होता है। तुलसीदास ने इन अलंकारों से सबसे अधिक काम लिया है 'विनयपत्रिका' में। कारण कि यही उनका मुख्य सिद्धांत ग्रंथ है और इसी में उनको बार बार उद्बोधन की आवश्यकता भी पड़ी है। मन का रोना जितना यहाँ रोया गया है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। कहते हैं—

मेरो मन हरि, हठ न तजै।
निसि दिन नाथ, देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाव निजै॥
ज्यो जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै॥
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यो जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ लजै॥
हौ हार्‌यो करि जतन बिबिध बिधि, अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

—विनय, ८६

हठ छोड़ता नहीं और उसकी टेक है अनहोनी। इसी से तुलसी का कहना है—

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकन की॥
धूम समूह निरखि चातक ज्यो तृषित जानि मति घन की॥
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड छाँह आपने तन की॥
टूटत अति आतुर अहार बस छति बिसारि आनन की॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौ गति मन की॥
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की॥

—विनय, ९०

फलतः निराश होकर झंखते हैं—

माधव, मोह फाँस क्यो टूटै।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै॥

घृत पूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिंब दिखावै।
ईंधन अनल लगाइ कलप सत औटत नास न पावै॥
तरु कोटर महँ बस बिहँग, तरु काटो मरै न जैसे।
साधन करिय बिचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे॥
अंतर मलिन, बिषय मन अति, तन पावन करिय पखारे।
मरै न उरग अनेक जतन बलमीक बिबिध बिधि मारे॥
तुलसिदास हरि-गुरु-करुना-बिनु बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई॥

—विनय, ११५

निदान राम से विनय करते हैं—

जैसो हौं तैसो हौं राम, रावरो जन जनि परिहरिये।
कृपासिंधु कोसलधनी सरनागत-पालक, ढरनि आपनी ढरिये॥
हौं तो बिगरायल और कौ, बिगरो न बिगरिये।
तुम सुधारि आए सदा सब की सब बिधि, अब मेरियो सुधरिये॥
जग हँसिहै मेरे संग्रहे, कत एहि डर डरिए?
कपि केवट कीन्हें सखा जेहि सील सरल चित तेहि सुभाव अनुसरिए॥
अपराधी, तउ आपनो तुलसी न बिसरिए।
टूटियो बाँह गरे परै, फूटेहूँ बिलोचन पीर होति हित करिए॥

—विनय, २७१

और उधर कौसल्या से बिलख कर कह रही हैं—

"कीजै कहा जीजी जू!" सुमित्रा परि पाँय कहै
"तुलसी सहावे बिधि सोई सहियतु है।
रावरो सुभाव राम जन्म ही तें जानियत
भरत की मातु को कि ऐसो चहियतु है?
जाई राजघर, ब्याहि आई राजघर माँहि,
राज-पूत पाए हूँ न सुख लहियतु है।
देह सुधागेह ताहि मृगहू मलीन कियो,
ताहु पर बाहु बिनु राहु गहियतु है।"

—कविता०, अयोध्या, ४

उदाहरण, अर्थांतरन्यास और दृष्टांत के जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे तुलसी की प्रकृति का पता चल गया होगा। तुलसीदास इस कोटि के अलंकारों से जो काम लेते हैं उसे संक्षेप में

भनिति बिचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सवाँरी। सोह न बसन बिना बर नारी॥
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही॥
जदपि कवित रस एकौ नाही। राम प्रताप प्रगट एहि माँही॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पन पावा॥
धूमौ तजै सहज करुआई। अगर प्रसंग सुगंध बसाई॥
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। राम-कथा जग मंगल करनी॥

मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कबिता सरित की ज्यौं सरित पावन पाथ की॥
प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी॥

प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम जस संग।
दारु बिचारु कि करइ कोउ, बंदिअ मलय प्रसंग॥
स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥

—बाल, १५

इसमें तुलसीदास ने वस्तु अथवा वर्ण्य विषय का जो महत्व दिखाया है उनकी अवहेलना हो नहीं सकती। उसके संबंध में कुछ निवेदन करने के पहले तुलसी की 'निदर्शना' के बारे में भी कुछ कह देना चाहिए। 'सुजन मन भावनी' और 'सुहावनि पावनी' में प्रतिवस्तूपमा है तो 'प्रिय लागिहि' में निदर्शना। काव्य की दृष्टि से निदर्शना में जो रमणीयता है वह इस कोटि के दूसरे किसी अलंकार में नहीं। निदर्शना का रम्य रूप देखना हो तो सीता के प्रसंग को ले लें। सीता की माता स्नेहवश बिलखा कर कहती हैं—

निदर्शना

सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे॥

कोउ न बुझाइ कहइ गुर पाहीं। ए बालक अस हठ भल नाहीं ॥
रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा ॥
सो धनु राज कुँवर कर देहीं। काल मराल कि मंदर लेहीं ॥
भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधिगति कछु जात न जानी ॥
—बाल, २६१

सखी मृदुवाणी में समाधान करती है कि तेजस्वी पुरुष की अवस्था नहीं देखी जाती। कारण कि—

कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजस सकल संसारा ॥
रबि मंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवन तम भागा ॥

मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरिहर सुर सर्ब।
महा मत्त गजराज कहुँ, बस कर अंकुस खर्ब ॥

काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हे ॥
देबि तजिअ संसय अस जानी। भंजब धनुष राम सुनु रानी ॥
—बाल, २६२

इसी स्थिति में स्वयं सीता के हृदय में जो बीतती है वह है—

नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितुपन सुमिरि बहुरि मन छोभा ॥
अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी ॥
सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध समाज बड़ अनुचित होई ॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ॥
बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिय हीरा ॥
सकल सभा कै मति भई भोरी। अब मोहिं संभु चाप गति तोरी ॥
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी ॥
—बाल, २६३

और जब सीता राम के साथ वन-गमन का आग्रह करती हैं तब राम भी इसी निदर्शना से काम लेते हैं और बहुत ही समझा-बुझा कर कहते हैं—

हंस गवनि तुम नहिं बन जोगू। सुनि अपजस मोहिं देइहि लोगू ॥
मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली ॥
नव रसाल बन बिहरन सीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला ॥
—बाल, २६४

तुलसी के प्रमुख अलंकारों से कविता का कितना और कैसा शृंगार हुआ है इसका बोध तो कुछ न कुछ हो ही गया होगा। इसी प्रसंग में इसी को और भी स्पष्ट करने के विचार से इतना और कहा जाता है कि तुलसीदास ने अनन्वय और असम तथा व्यतिरेक और प्रतीप से भी विशेष कार्य लिया है। उपमा के प्रकरण में कहा गया था कि तुलसीदास ने उपमानों की उपेक्षा की है। प्राकृत जनों की उपमा राम और सीता जैसे अलौकिक जनों से कैसे दी जा सकती है? निदान तुलसी ने जहाँ उपमान की अवमानना के लिये व्यतिरेक और प्रतीप का उपयोग किया है वहीं उपमेय के उत्कर्ष के निमित्त अनन्वय और असम का। असम का प्रयोग 'कवितावली' में बहुत हुआ है और नाना प्रकार से तुलसीदास ने इसके द्वारा यह सिद्ध करना चाहा कि राम के सदृश भक्तवत्सल और कोई है ही नहीं। आशा है अनन्वय का यह उदाहरण पर्याप्त होगा—

अनन्वय और असम

तेरे बेसाहे बेसाहत औरनि, और बेसाहि कै बेचन हारे।
व्योम रसातल भूमि भरे नृप, क्रूर कुसाहिब सेंतिहु खारे॥
तुलसी तेहि सेवत कौन मरै? रज ते लघु को करै मेरु ते भारे?
स्वामी सुसील समर्थ सुजान सो तोसो तुही दशरत्थ दुलारे॥

—कविता, उत्तर, १२

और असम का यह—

सूर सिरताज महाराजनि के महाराज,
जाको नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो।
साहब कहाँ जहान जानकीस सो सुजान,
सुमिरे कृपालु के मराल होत खूसरो॥
केवट पसान जातुधान कपि भालु तारे,
अपनायो तुलसी सो धींग धूमधूसरो।
बोल को अटल, बाँह को पगार, दीनबन्धु,
दूसरे को दानी, को दयानिधान दूसरो?

—कवितावली, उत्तर, १६

तुलसीदास ने यदि अलंकार की दृष्टि से किसी काव्य की रचना की है तो बरवै रामायण की। मीलित-उन्मीलित, तद्गुण-अतद्गुण जैसे चमत्कारी अलंकार यहाँ अपनी अनुपम छटा में मिलेंगे। यहाँ हम कुछ इस ओर भी संकेत कर देना चाहते हैं कि तुलसीदास ने श्लेष और यमक को किस रूप में अपने काव्य में लिया है, और परिसंख्या तथा अत्युक्ति को किस ढंग से चलता किया है। चलता करने का अर्थ यह नहीं कि तुलसी में परिसंख्या या अतिशयोक्ति है ही नहीं। नहीं, है, किंतु तुलसी का उसमें अनुराग नहीं। तुलसी कविता को भटैती से भिन्न समझते हैं। यही कारण है कि जब राजा दशरथ रनिवास में विवाह का वर्णन करते हैं तब तुलसी उन्हें कवि के रूप में नहीं, भाट के रूप में पाते हैं। तुलसी लिखते हैं—

चमत्कारी अलंकार

जनक राज गुन सील बड़ाई। प्रीति रीति संपदा सोहाई।
बहु बिधि रूप भाट जिमि बरनी। रानी सब प्रमुदित सुनि करनी॥

—बाल, ३५९

उधर राम की प्रशंसा में जब जामवंत कुछ कहते हैं तब पवन-कुमार हनूमान भी कुछ और भी आगे की कह जाते हैं। राम सुन तो लेते हैं, पर कुछ कहते नहीं हैं। प्रत्युत अनसुनी सी कर देते हैं। देखिए हनूमान कितनी दूर की सुनाते हैं—

प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥
तव रिपु नारि रुदन जलधारा। भरेउ बहोरि भयेउ तेहि खारा॥
सुनि अति उकुत पवनसुत केरी। हरषे कपि रघुपति तन हेरी॥

—लंका, १

प्रायः कवियों की परिपाटी सी रही है कि वे रिपु-नारि-रुदन में नायक का उत्कर्ष दिखाते आए हैं, किंतु यह तुलसी को प्रिय नहीं। तुलसी की रिपु नारियाँ इतना रोती ही नहीं कि आँसू का पारावार ही उमड़ पड़े। उनके लिये तो बस इतना ही पर्याप्त है कि प्रभुप्रताप से जो जल सूख गया वही फिर रिपुनारियों के नेत्रों से उमड़ आया और राम-रस से आप्लावित होने के कारण खारा हो गया। किंतु सुजान राम जिस उक्ति में बिहँस पड़ते हैं वह कुछ और ही है। सुनिए—

कह हनुमंत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति, सोइ स्यामता अभास॥

—लंका, १२

अस्तु; काव्य मीमांसकों का कहना है कि परिसंख्या में रमणीयता और भी आ जाती है, यदि वह श्लेष पर टिकी हो। तुलसीदास ने रामचंद्र के राज्य में इसको भी निभा दिया है—

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिं सुनिअ अस, रामचंद्र के राज।

—उत्तर, २२

तुलसी में श्लेष कई अर्थों में लेकर खड़ा नहीं हुआ है, अर्थात् उसके प्रयोग में तुलसी की दृष्टि अर्थ पर उतनी नहीं रही है जितनी कि पात्र पर। तुलसी श्लेष का प्रयोग गूढ़ गिरा, व्यंग्य और काकु के निमित्त करते हैं, कुछ चमत्कार और पांडित्य के हेतु नहीं। अतएव तुलसी का कोई छंद ऐसा नहीं जिसका दोहरा-तेहरा अर्थ हो। हाँ, सबसे अधिक चमत्कार का लोभ आपको दिखाई देगा 'सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषण सहित' में ही। पर वह इससे आगे और नहीं बढ़ेगा। फिर आपको ऐसा दूसरा चमत्कार मिलेगा—

श्लेष

'रावण सिर सरोज बनचारी, चलि रघुबीर सिलीमुखधारी'

में। किंतु यहाँ भी 'सिलीमुख' का ही अर्थ भ्रमर और बाण दोनों है। अन्यथा किसी और शब्द में श्लेष नहीं है। विचारने की बात है कि तुलसीदास ने यहाँ रावण के दस सिर को अपना लक्ष्य बनाया है और उसका रस लेने के विचार से ही राम का बाणसमूह चला भी है। निदान—

'तासु तेज समान प्रभु आनन, हरखे देखि संभु चतुरानन'

की विधि भी यहाँ इसी उपमान में बैठ गई है।

उधर तुलसीदास ने नारदमोह लीला में 'हरि' शब्द के श्लेष में कितना हास्य भरा है उसको कोई भी व्यक्ति समझ सकता है। उसको जानना बस इतना भर है कि 'हरि' का अर्थ विष्णु ही नहीं बंदर भी

होता है। अतः शिवजी के गण बड़े ही ढब से महामुनि नारद से कहते हैं—

नीकि दीन्ह हरि सुन्दरताई।

और—

रीझिहि राजकुँरि छबि देखी। इनहिं बरिहि हरि जान बिसेखी॥

—बाल, १३६

इसी प्रकार तुलसीदास ने 'मोर' शब्द की निरुक्ति भी बढ़िया निकाल ली है। 'मोर' बना तो 'मयूर' से है, किंतु तुलसीदास कहते हैं कि इसको 'मोर' कहने का कारण कुछ और ही है। सुनिए—

तनु बिचित्र कायर बचन, अहि अहार मन घोर।
तुलसी हरि भये पच्छधर, ताते कहत सब मोर॥

—दोहावली, १२७

भला ऐसे विकट प्राणी पर हरि की कृपा न होती तो कोई भी उसे मोर या मेरा कहता?

और लगने और लागने की लाग भी तो कुछ और होती है। देखिए रानी कैकेयी की परम प्रिय सयानी सखियाँ उसे समझाती हुई कहती हैं—

जौं नहिं लगिहहु कहें हमारे। नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारे॥

—अयोध्या, ५०

यमक के साथ ही अनुप्रास का विधान तुलसी में अधिक नहीं। पर जहाँ है अच्छा और ढंग का है। अवधूत शिव पर तुलसी की जैसी कृपा है वह तो व्यक्त ही है। तुलसी की भक्ति तो देखिए। किस न्याय से लिखते हैं—

अनुप्रास

नाँगो फिरै कहै माँगतो देखि न खाँगो कछू, जनि माँगिए थोरो।
राँकनि नाकप रीझि करै, तुलसी जग जो जुरै जाचक जोरो॥
"नाक सँवारत आयो हौं नाकहिं, नाहिं पिनाकिहि नेकु निहोरो।"
ब्रह्म कहै "गिरिजा, सिखवो, पति रावरो दानि है बावरो भोरो॥"

—कविता०, उत्तर, १५३

साथ ही इतना और भी—

सीस बसै बरदा, बरदानि, चढ्यो बरदा, बरन्यौ बरदा है।
धाम धतूरो विभूति को कूरो, निवास तहाँ शव लै मरे दाहै॥
व्याली कपाली है ख्याली, चहूँ दिसि भाँग की टाटिन को परदा है।
रॉक सिरोमनि काकिनिभाग विलोकत लोकप को करदा है॥

—वही, १५५

सच है, तुलसी चमत्कार के कवि नहीं हैं, पर चमत्कार के क्षेत्र में कहीं चूकते भी नहीं हैं। प्रमाण के लिय इस कथन को ही ले लीजिये—

अवधपुरी सोहै एहि भाँती। प्रभुहिं मिलन आई जनु राती॥
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी॥
अगर धूप जनु बहु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी॥
मंदिर मनि समूह जनु तारा। नृप गृह कलस सो इंदु उदारा॥
भवन वेद धुनि अति मृदु बानी। जनु खग मुखर समय जनु सानी॥
कौतुक देखि पतंग भुलाना। एक मास तेइँ जात न जाना॥
मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानै कोइ।
रथ समेत रबि थाकेउ, निसा कवन बिधि होइ॥

—बाल, २००

रात्रि को कामना हुई कि प्रभु का दर्शन करे। चल भी पड़ी, पर भानु के कारण उसकी विधि न बनी। विवश तो हो गई, किंतु ध्येय से विचलित नहीं हुई। उसने संध्या का रूप धारण कर लिया। उधर भानु को अपनी सुधि नहीं रही और वहीं पूरे मास भर जम रहे। भानु ही नहीं, इंदु भी उसी रूप में बने रहे। सारांश यह कि तुलसीदास ने रात दिन और सूर्य चंद्रमा को साथ साथ लुभा दिया और संध्या की ऐसी छवि उतारी कि होली का दृश्य प्रस्तुत हो गया। पतंग मास भर जहाँ का तहाँ रहा तो तुलसीदास ने पतंग भी मास भर पहले का दिखाया! इस प्रकार एक मास ब्याज में मार लिया। इसे तुलसीदास का चमत्कार कहिए अथवा कला, पर है किसी भी दृष्टि से अनूठी, अनुपम और रमणीय ही। समयानुकूल अप्रस्तुत विधान में तुलसी कितने दक्ष, निपुण और कुशल हैं और उनकी प्रतिभा कल्पना के क्षेत्र में कितनी प्रखर है आदि बातों को और भी अधिक बढ़ाकर कहने से कोई लाभ नहीं। कारण कि—

तुलसि बिमल जसु बिमल बिधु, सुमति चकोर कुमारि।
उदित बिमल जन हृदय नभ, एक टक रही निहारि॥

बस, तुलसी की कौमुदी को एक टक निहारने के अतिरिक्त और कोई दूसरा चारा नहीं। 'रस विशेष' की यही पुकार है।

१०—वर्ण्य विचार

गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य वस्तु किंवा विषय अथवा चरित को वहुत महत्व दिया है और 'रामचरितमानस' में तो इसकी स्थापना

वस्तु

भी कस कर की है। इससे सामान्यतः सहसा यह धारणा हो जाती है कि तुलसी में नाना प्रकार की प्राकृत वस्तुओं के वर्णन का सर्वथा अभाव होगा। किंतु है यह वास्तव में निपट अनारी बात। कारण कि तुलसीदास ने जिस राम के चरित को लिया है वह राम सचमुच घट घट में रमा और कण कण में बसा राम है। घर और वन का कोई कोना उससे अछूता नहीं। हाँ, है तो वह राजकुमार और जन्म भी लेता है राजनगरी में ही, किंतु उसके चरित का विकास होता है वन में—ऋषि मुनियों के साथ ही नहीं, कोल किरातों और वानर भालुओं के बीच भी। सारांश यह कि उसका जीवन स्वयं इतना व्यापक और उदार है कि उसको लेकर चलने में किसी की अवहेलना हो नहीं सकती। यह तो हुई चरित की बात। तुलसी के लिखने का ढर्रा भी ऐसा ही रहा है कि इसकी डगर से कोई भी छूट नहीं सकता। चरित को केवल चरित के रूप में नहीं लिया गया है, अपितु मानस का उससे जो लगाव है उसको लक्ष्य में रख कर उस चरित के ललित और अद्भुत रूप को उभारकर लोकजीवन का उद्धार किया गया है, और यह प्रत्यक्ष दिखाया गया है कि धर्म, आचार और व्यवहार किस प्रकार लोक जीवन में मंगल का विधान करते हैं और काव्य किस प्रकार सरस शास्त्र के रूप में घर घर फैलाया जा सकता है। प्रत्यक्षीकरण की इसी प्रेरणा से 'रामचरितमानस' में संवादों की योजना हुई है। वैसे तो 'मानस' के चार संवाद हैं ही, किंतु सच पूछिये तो रामचरितमानस में संवाद ही संवाद हैं। स्वयं कवि भी संयोजक के अतिरिक्त संवाद का एक अंग अथवा वक्ता भी है। रामचरितमानस का प्रतिपाद्य विषय है राम का प्रभु होना, ऐसा प्रभु होना जिसकी प्रभुता के परे कुछ है ही नहीं। प्रमुख संवादों के वक्ता इसका प्रतिपादन करते हैं सो कोई बात

नहीं। उनका तो कार्य ही यह है। परंतु 'मानस' की विशेषता तो यह है कि उसके सभी पात्र जैसे तैसे जहाँ तहाँ राम के इसी रूप के प्रतिपादन में मग्न हैं, जिसका सुलभ परिणाम यह है कि समस्त 'मानस' में तुलसी का अध्यात्म बिखर जाता है और समय समय पर देश, काल तथा पात्र के अनुसार कुछ न कुछ कहते रहने का उन्हें अवसर मिलता जाता है। अध्यात्म के अतिरिक्त यह भी समझ लेना होगा कि रामचरितमानस में राजकुल की प्रधानता है। राम और रावण का कहना ही क्या ? निषाद, सुग्रीव, जामवंत और हनूमान भी सामान्य कुल के जीव नहीं, सभी अपने अपने कुल के राजा हैं। अस्तु, इसका निष्कर्ष निकला कि रामचरितमानस में नीति की प्रचुरता है—समाज नीति, धर्म नीति और राजनीति, किसी भी नीति की। रामचरितमानस के पात्र इसी से जब कभी कुछ विशेष परिस्थिति में कहते या करते हैं तब नीति का उल्लेख करते है और उसकी उद्धरणी सी कर जाते हैं। इसी का परिणाम है कि उसमें नीति की प्रचुरता भी पर्याप्त है। इतना ही नहीं, जन्म से लेकर मरण तक के, राज मंदिर से लेकर पर्णकुटी तक के, सारे कृत्य उसमें समा गये हैं और जीवन का कोई अंग अछूता नहीं रह गया है।

महाकाव्य

महाकाव्य का लक्षण बताते समय संस्कृत के आचार्यों ने बहुत से विषयों का उल्लेख किया है और कवियों की सुविधा के लिये उनका निर्देश तक कर दिया है। साहित्य दर्पणकार महापात्र विश्वनाथ का कहना है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥३१५
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥३१६
शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ॥३१७
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥३१८
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ३१९

एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नाति स्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥३२०
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥३२१
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥३२२
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनि स्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्र पुत्रोदयादयः ॥३२३ ?
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥३२४
नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्गनाम तु ।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥३२५
प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः ।
छन्दसा स्कन्धके नैतत्क्वाचिद्गलितकैरपि ॥३२६
अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन्सर्गाः कुडवकाभिधाः ।
तथापभ्रंशयोग्यानिच्छन्दांसि विविधान्यपि ॥३२७
भाषा विभाषा नियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम् ।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥३२८-१६

तुलसीदास ने किसी आचार्य को अपना गुरु वा आचार्य मानकर काव्य नहीं किया है। उनका मार्ग निराला है और ऐसा निराला है कि उसमे कोई असमंजस नहीं, कोई खभार नहीं, सबकी उचित व्यवस्था है। भाव और विचारों में ही नहीं, पद्धति और रीति में तुलसीदास ने सबको समेट लिया है। उन्होंने अपने महाकाव्य का ढर्रा अपने आप निकाला है और उसे सर्गबद्ध न करके सोपानबद्ध कर दिया है और साथ ही रामायण के साथ ही साथ 'आगम' और 'पुराण' की परिपाटी को भी अपना लिया है। इससे हुआ यह है कि महाकाव्य की सीमित भूमि से निकलकर और भी इधर उधर विचरने का स्वतंत्र मार्ग निकल आया है और तुलसीदास ने उन वस्तुओं का भी वर्णन कर दिया जिनका उल्लेख किसी आचार्य ने नहीं किया था। तुलसी की यह व्यापकता जब 'रामचरितमानस' में इतनी है तब अन्य ग्रंथों में कुछ

और भी होगी, इसमें संदेह क्या ? तुलसी का कोई ग्रंथ ऐसा नहीं जिसमें पिष्टपेषण मात्र हो। 'मंगल' हो, 'नहछू' हो, 'कवित्त' हो, 'गीत' हो, 'विनय' हो, 'बरवा' हो, 'दोहा' हो, कुछ भी क्यों न हो उसकी विशेषता भी सर्वदा अलग है और उसका विषय भी औरों से कुछ भिन्न ही। अस्तु, निधड़क हमारा कहना यह है कि तुलसी का वर्ण्य विषय बहुत व्यापक और दूर तक फैला हुआ है। हाँ, सर्वत्र उसका फैलाव समान नहीं है। वह कहीं गूढ़ है, कहीं सूक्ष्म है, कहीं विस्तृत। जहाँ जैसा देश है, वहाँ वैसा वेष भी।

भाषा

विषय ही नहीं, भाषा के क्षेत्र में भी तुलसी की यही स्थिति है। दृश्य काव्यों में तो संस्कृत के कवियों ने प्राकृत को स्थान दिया है, किंतु महाकाव्यों में उनका नाम तक नहीं लिया है। और लिया है तो उनमें महाकाव्य की रचना के रूप में। कहने को संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की बानगी एक साथ ही किसी महाकाव्य में मिल जाय, परंतु परिपाटी तो इनकी बिलगाव की ही रही है और आचार्यों ने उनका अलग अलग विधान भी किया है। महात्मा तुलसीदास ने ऐसा नहीं किया है। उन्होंने 'रामचरितमानस' के आरंभ में जहाँ 'संस्कृत', 'प्राकृत' और 'भाषा' के कवियों को प्रणाम किया है वहीं इन भाषाओं में प्रणयन भी। संस्कृत और प्राकृत में प्राकृत का अर्थ भाषा ही था। आगे चल कर प्राकृत जब वर्गविशेष की संस्कृत हो गई और उसका लोक भाषा से कोई संबंध नहीं रह गया, तब उसमें रचना करना मूड़ मारने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहा, और यदि रहा भी तो कोरा पांडित्य प्रदर्शन। निदान तुलसी ने प्राकृत को नहीं लिया, लिया प्राकृत जन की भाषा को। उन्होंने 'प्राकृत जन' का गुणगान नहीं किया, किया उनके शील और स्वभाव का उपदर्शन। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि तुलसी ने प्राकृतपन को त्याग दिया। नहीं, उन्होंने जहाँ तहाँ उसके रूप की भी रक्षा की और अपने समय की किसी भी काव्यप्रणाली को अपने से अलग नहीं रहने दिया। फिर चाहे वह पंडितों की हो, चाहे ग्रामीणों की; सूफियों की हो, चाहे वैष्णवों की; कवियों की हो, चाहे भाटों की। लिया, सबको लिया और बड़े ढंग से लिया। तुलसीदास का यह क्षेत्र भी उतना ही व्यापक, विस्तृत और गंभीर है जितना वस्तु, भाव तथा विचार का।

(गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि संग्रह की रही है—लोकसंग्रह की भी, शब्दसंग्रह की भी और तत्वसंग्रह की भी। उन्होंने सबको परखा, तौला और यथास्थान सबको स्थान भी दिया। भाषा के क्षेत्र में भी उनकी यही स्थिति है।) संस्कृत को छोड़कर भाषा में रचना करना शिष्ट लोगों को उस समय रुचता नहीं था। ऐसा करने में कुछ हेटी दिखाई देती थी और संकोच के मारे साहस भी नहीं हो पाता था। और इसी से तुलसीदास को भी अपने पक्ष के प्रतिपादन में कुछ न कुछ लिखना भी पड़ा है। यहाँ तक कि उनका एक दोहा बहुत ही प्रचलित और प्रसिद्ध हो गया है। कहते हैं कि किसी पंडित के समाधान में ही उन्होंने इसकी रचना की थी—

> का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच।
> काम जो आवै कामरी का लै करै कुमाँच।
>
> —दोहा०, ५७२

किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि 'कुमाँच' की कोई उपयोगिता ही नहीं, सब कुछ कामरी से ही सध जाता है। तुलसीदास जानते थे कि संस्कृत को छोड़ देने से लोक का कल्याण नहीं हो सकता। उसे तो भाषा के साथ साथ ले चलना होगा। इसी से उन्होने रामचरितमानस में उसका उचित सत्कार किया और मंगलाचरण तथा स्तुति में उसे प्रमुख स्थान दिया। उसका आदर किया, उसका स्वागत किया, उसकी शब्दावली ली। तात्पर्य यह कि जो कुछ उससे ले सके, लेने से विमुख कभी न हुए और उसका फल भी यह हुआ कि उनकी इस रचना का जितना प्रसार और स्वागत हुआ उतना किसी भी उनके अन्य ग्रंथ का नहीं।

संस्कृत के संबंध में अधिक कहना व्यर्थ सा प्रतीत होता है। 'विनय पत्रिका' में भी देववाणी की यही स्थिति रही है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि देवता लोग देववाणी ही से रीझते हैं और कभी भाषा का आदर नहीं करते। नहीं, रामचरितमानस में स्वयं देवता लोग एवं उनके ईश सुरपति भी संस्कृत को छोड़ भाषा में ही, राम की प्रशंसा में, अपनी वाणी खोलते हैं ऋषि मुनियो में कोई भाषा में स्तुति करता है तो कोई देववाणी में। इसका प्रयोजन यही है कि प्रेम और प्रसंग को देखो, भाषा तथा भाव को परखो और देश तथा काल के अनुसार

उनका उपयोग भी करो। उनकी यही नीति ब्रजभाषा और अवधी के प्रति भी रही है। 'रामचरितमानस' में अवधी को लेकर चले हैं तो 'गीतावली' और 'विनयपत्रिका' में ब्रजभाषा को। 'कवितावली' में है तो ब्रजभाषा ही, किंतु उसकी परंपरा वही है जो उस समय कवित सवैयों में थी। तुलसीदास ने गीत को गीत की भाषा के रूप में रचा है, कवित को कवित की भाषा के रूप में और पदों को पदों की भाषा के रूप में, सोहर को सोहर के रूप में। आशय यह कि देश के अनुसार भेष बना है और भूषा भी वैसी ही ली गई है। तुलसीदास की भाषा, भाव के अनुकूल ही नहीं, पात्र के अनुकूल भी हुई है और हुई है देशकाल के अनुसार भी। 'श्रीकृष्ण गीतावली' और 'गीतावली' की भाषा तो एक ही है, किंतु दोनों का रस अलग अलग है। 'श्रीकृष्ण गीतावली' में जितनी उक्तियाँ, फबतियाँ और मुहावरे हैं उतने 'गीतावली' में नहीं। ऐसे ही अन्य ग्रंथों के संबंध में भी समझ लेना चाहिए। उनकी भाषा के मर्म को पहिचानने के लिये एक उदाहरण लीजिए। प्रसंग रक्तरंजित रणभूमि का है। लिखते हैं—

जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहिं। भूत पिचास बधू नभ नंचहि॥
भट कपाल करताल बजावहिं। चामुंडा नाना बिधि गावहि॥

यहाँ तक भाषा का जो ढंग है वह आगे चलकर कुछ और ही रूप धारण कर लेता है। देखिए—

जंबुक निकर कटक्कट कट्टहि। खाहिं हुहाहिं अघाहि दपट्टहि॥
कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोल्लहि। सीस परे महि जय जय बोल्लहिं॥
बोल्लहिं जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावहीं।
खप्परन्हि खग्ग अलुज्झि जुज्झहिं सुभट भटन्ह ढहावहीं॥

रणभूमि की इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए आगे का वर्णन लीजिए—

बानर निसाचर निकर मर्दहि राम बल दर्पित भये।
संग्राम अंगन्ह सुभट सोवहि राम सर निकरन्हि हये॥

एवं —

रावन हृदय बिचारा, भा निसिचर संघार।
मैं अकेल कपि-भालु बड़ु, माया करउँ अपार॥

—लंका, ८८

इसमें द्वित्व के कारण जो ओज आ गया है उसको नाद के पारखी भलीभाँति परख सकते हैं और कोई भी इसे जान सकता कि यह प्रणाली वीरता के प्रसंग में क्यों बरती जाती है। 'कटक्कट कट्टहिं' में जहाँ उनके काटने की विकटता है वहीं 'खाहि हुआहि अघाहिं दपट्टहि' में उनकी प्रकृति का पूरा परिचय भी। रण में आहत वीर जो दो खंड हो जाते हैं तो वीरता के दर्प में भरे होने के कारण उनका मुंड तो जय-जयकार करता है और रुंड उन्मत्त की दशा में इधर उधर दौड़ता, उलझता, जूझता, और ले दे के किसी को गिर पड़ता है। इसको वीरता की पराकाष्टा समझिए। और यह स्मरण रखिए कि ये वीर विरोधी दल के हैं। किंतु तुलसी जानते हैं कि रावण दल में वीरता का अभाव नहीं। अतएव उसके प्रदर्शन में चूकते भी नहीं। मरता क्या नहीं करता का यह अच्छा उदाहरण है। इधर बानरों में भी उत्साह कम नहीं है। वे भी निशाचरों को रगड़ते हैं और राम के बाण तो सुभटों को सुला ही देते हैं। इसको देखकर रावण का हृदय कैसा बैठ जाता है यह दोहे की भाषा से आप ही प्रकट हो जाता है। 'मैं अकेल' में कितना हताश हो गया है इसे भी देख लें और तुलसी की भाषा-शक्ति को सदा के लिये पहिचान भी लें। इसके विषय में और कहना कुछ असंगत सा प्रतीत होता है। कारण कि तुलसी की इस शक्ति को सभी जानते तथा मानते, पहिचानते भी हैं। अतएव कहना अब यह रहा कि अरबी फारसी शब्दों के प्रति तुलसी की नीति क्या है। सो यह भी स्पष्ट है कि तुलसीदास अरबी फारसी शब्दों को अपनाते हैं और अपनाते है हिंदी रूप मे ही। यहाँ भी उनका सिद्धांत है कि जो सुरसरि मे पड़ा वह सुरसरि की धारा मे मिलकर सुरसरि हो गया, और यदि नही पड़ा तो वह दूध की माखी की भाँति अग्राह्य है।

तुलसीदास ने अरबी फारसी शब्दों को किसी कोष से नहीं लिया है। जो शब्द प्रभुता के साथ व्यवहार मे चल पड़े थे और देश में फैल गए थे उन्हीं को उन्होंने ग्रहण किया और किया प्रायः राजा के प्रसंग

में ही। उन्होंने राम को 'गरीब निवाज' तो बनाया पर बादशाह राम नहीं। कारण कि तुलसी शब्दपारखी थे, मर्मवेदी थे, और थे ऋत के ज्ञाता भी। उनका एक कवित्त लीजिए और देखिए कि तुलसीदास किस ढंग से अरबी फारसी शब्दों को लेते तथा उससे क्या प्रभाव डालते हैं—

> जाहिर जहान में जमानो एक भाँति भयो,
> बेचिये बिबुध-धेनु रासभी बेसाहिए।
> ऐसेऊ कराल कलिकाल में कृपालु तेरे,
> नाम के प्रताप न त्रिताप तन दाहिए॥
> तुलसी तिहारो मन बचन करम, तेहि
> नाते नेह-नेम निज ओर तें निबाहिए।
> रंक के निवाज रघुराज राजा राजनि के
> उमरि दराज महाराज तेरी चाहिए॥
>
> —कविता०, उत्तर, ७६

'जाहिर जहान' में जो उठान उठी है वह 'उमरि दराज' में घुमड़ पड़ी है, जिससे यह खुल गया है कि तुलसी ऐसा चाहते क्यों हैं।

'सरीक' से 'सरीकता' और लायक से 'अलायक' बना लेना तुलसी का धर्म था। कोई भी भाषा, यदि वह सचमुच वाणी है और अपने बलबूते पर ही बढ़ रही है तो वह किसी भी शब्द को उसकी शक्ति के कारण ग्रहण करती है और उस पर अपना कड़ा अनुशासन रखती है। यदि वह ऐसा नहीं करती है तो इसका अर्थ है कि वह अपने पुनीत राज्य में अराजकता को बयाना देती है। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि तुलसीदास ने बाहरी शब्दों को ठेठ बनाकर लिया है और ठेठ शब्दों को गँवारी से उठाकर नागरी बना दिया है। तुलसीदास की रचना में जो लोग यह दोष निकालते हैं कि उनकी ब्रजभाषा में अवधी और अवधी में ब्रजभाषा के शब्द पाए जाते हैं, वे भाषा, भाव और रस के भेद को नहीं जानते। वे तो शब्द को ब्रह्म के रूप में नहीं, जड़ के रूप में पहिचानते हैं और जहाँ के तहाँ से उसको टसमस होने नहीं देना चाहते।

तुलसी की प्रकृति को देखते हुए उनकी प्रकृतिदृष्टि के विषय में भी थोड़ा कह लेना चाहिए। तुलसी ने प्रकृति को देखा और अपनी आँख से ही देखा है। किंतु देखा है उसे राम के नाते ही। राम से अलग उनकी दृष्टि कहीं पड़ती नहीं, जमती नहीं, रमती नहीं। जहाँ कहीं पड़ती है राम ही को जोहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि तुलसीदास में प्रकृति की वह छटा नहीं जो अपने आप में पूर्ण और कविहृदय का आलंबन होती है। तो भी उसकी जो छाया तुलसी के 'मानस' मे पड़ी है वह ऐसी छविमयी और मूर्तिमयी है कि उसकी उपेक्षा हो नहीं सकती। वह बुलाती है, रमाती है और दिखाती है अपने आने का दृश्य भी है भी वह भूमि ही, भूमा नहीं, भूमिका ही। हाँ, उसी भूमिका में विभु का उदय और मंगल का विधान है। और वही मायापुरुष की लीलाभूमि बनती है, जिसके संयोग में वह खिलती और वियोग में झुलस जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने प्रभु के जगमय रूप को भी बड़े चाव से देखा है। 'सिया राम मय सब जग जानी' की भावना के साथ ही राम के विश्व रूप का साक्षात्कार कीजिए और मंदोदरी की इस विनती पर विचार कीजिए—

प्रकृति

कंत राम बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ उर धरहू॥

बिस्वरूप रघुबंस मनि, करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना वेद कर, अंग अंग प्रति जासु॥

मंदोदरी ने विश्व को जो भगवान् के रूप में देखा है उसका नख-शिख-वर्णन यह है—

पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच वनमाला॥
जासु प्रान अस्विनी कुमारा। निसि अरु दिवसु निमेष अपारा॥
श्रवन दिसा दस वेद बखानी। मरुत स्वास निगम निज-बानी॥
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥
आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥
रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा॥
उदर उदधि अध गो जातना। जगमय प्रभु की बहु कलपना॥

अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान॥
—लंका, १५

उधर स्वयं इसी राम का कहना है—

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी॥
निज सिद्धांत सुनावौं तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही॥
मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सबतें अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुति धारी। तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी॥
तिन्ह महुँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहुँ तें अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचहु प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥
सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति अस सावधान सुनु काग॥

प्रिय का जो तारतम्य गोचर हुआ है उसका कारण किसी के प्रति पक्षपात नहीं अपितु यह है—

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥
कोउ सर्वज्ञ धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहु जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥
एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोह बराबर दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजहिं मोहिं मन बच अरु काया॥
पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ॥
—उत्तर, ८६-८७

पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि तुलसीदास का मुख्य उद्देश्य है रामचरित के द्वारा विविध रूप में भक्ति का निरूपण करना ही। इस

निरूपण के निमित्त तुलसीदास ने जो चार 'सुठि सुंदर संवाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि' की योजना की है उसका ध्येय रहा है 'प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।' किंतु इतने से ही तुलसी को संतोष कहाँ? उन्होंने तो प्रायः 'मानस' के सभी प्रमुख पात्रों से यही कार्य लिया है और सभी लोगों ने जैसे तैसे राम का गुणगान और उनके परम रूप का बखान किया है।

स्तुति

रामचरितमानस में बहुत सी स्तुतियाँ की गई हैं और की गई हैं नाना प्रकार से, नाना कोटि के जीवों के द्वारा। इनमें भी सबसे महत्त्व की स्तुति है वंदी वेषधारी वेद की। उसके पद पद से तुलसी का अभिमत टपकता है और तुलसी के अध्यात्म में अवगाहन के लिये यह पर्याप्त है। इसमें संसार विटप भी है और ब्रह्म भी, किंतु प्रतिष्ठा है सगुण रूप ही की और अंतिम कामना है चरण अनुराग की ही—उस 'चरण अनुराग' की, जो दुष्टों के दलन और साधुओं के परित्राण के निमित्त वन में इधर उधर फिरता है और नाना प्रकार के कष्ट उठाता हुआ जिससे संपर्क में आता उसको सद्गति देता है। वेद क्या यह तुलसीदास की ही मर्मवाणी है—

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज बल हने॥
अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनत पाल दयाल प्रभु संयुक्त सक्ति नमामहे॥
तव विषयमाया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुनन्हि भरे॥
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे।
भव खेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे॥
जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो स्मरामहे॥

जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी।
नख निर्गता मुनि बंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी॥
ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वंद मुकुन्द राम रमेस नित्य भजामहे॥
अव्यक्त मूल मनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंघ साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर वेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥
जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जसु नित गावहीं॥
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर माँगहीं।
मन बचन कर्म विकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥

—उत्तर, १३

वेदों का जाना था कि शंभु भगवान का आना हुआ और अंत में उन्होंने श्रीरंग से यह वरदान माँगा—

बार बार बर माँगौं, हरसि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति, सदा सतसंग॥

—उत्तर, १४

अध्यात्म

तुलसीदास भक्ति और सत्संग इन दोनों को बहुत महत्त्व देते हैं। भक्तियोग के संबंध में उनका मत वही है जो उनके राम का। भक्ति का स्वरूप क्या है, उसका साध्य और उसके साधन क्या हैं इनका विचार भी तुलसीदास ने अपने 'मानस' में भलीभाँति कर दिया है। ईश्वर और जीव में क्या भेद है इसके जाने विना भक्ति हो नहीं पाती। जानने का कार्य ज्ञान से होता है और ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है। अतएव गुरु की प्रतिष्ठा भी अनिवार्य है। संक्षेप में तुलसीदास का अध्यात्म यह है। उनके राम का यह कहना है—

"थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मन मति चित लाई॥
मै अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचै जग गुन बस जाके। प्रभुप्रेरित नहिं निज बल ताके॥
ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। त्रिन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिय सो जीव।
बंध मोच्छपद सर्ब पर माया प्रेरक सीव॥

—अरण्य, ६

यह तो हुई तत्वदृष्टि। इसमें जीव, माया, विद्या, अविद्या आदि का विचार हुआ। अब भक्ति का प्रसंग आता है और राम बताते हैं कि भक्ति का स्वरूप क्या है, और वह किस प्रकार इष्ट होती है—

"धर्म ते बिरति जोग से ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मै भाई। सो मम भगति भगत सुखदायी॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला॥
भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
येहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भगति दृढाही। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिं कहँ जानै दृढ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥

बचन करम मन मोरि गति, भजनु करहिं निहकाम।
तिन्हके हृदय कमल महुँ, करौं सदा बिश्राम॥

—अरण्य, १०

विरति

कहने को 'धर्म तें बिरति' का उल्लेख तो हो गया पर इसका स्पष्ट रूप कोई सामने नहीं आया। प्रसंग चल ही रहा था कि सूपनखा आ गई। गई तो विरही राम को देखकर नारद आ पड़े और उन्होंने राम से जिज्ञासा की—

तब विवाह मैं चाहौं कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ॥

राम ने जो समाधान किया वह विरति की मूल जड़ी है। कहते हैं-

सुनु मुनि तोहिं कहौं सह रोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥
करौं सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी ॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तह राखै जननी अरगाई ॥
प्रौढ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहिं पाछिलि बाता ॥
मोरे प्रौढ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी ॥
जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहु कहुँ काम क्रोध रिपु आही ॥
येह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायहु ग्यान भगति नहि तजहीं ॥

काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि ॥

स्त्री को मायारूप कहकर छोड़ नहीं दिया उसकी व्याख्या भी कृपा कर स्वयं ही कर दी। लीजिये—

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता ॥
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोखै सब नारी ॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इनहिं हरष प्रद बरषा एका ॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई ॥
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहिं दहै सुख मंदा ॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई ॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी ॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना ॥

अवगुन मूल सूल प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।
ता ते कीन्ह निवारन मुनि, मै यह जिय जानि ॥

—अरण्य, ३८

'सहरोसा' कितना सटीक उतरा है। तुलसीदास को आज इस विरति के कारण बहुतों का रोष सहना पड़ता है। परंतु कीजिएगा क्या ? प्रसंग ही ऐसा है। राम नारद को सचेत करते हैं कि यदि आप फिर रोष में आकर कोई शाप दे देंगे, तो इसकी कोई चिंता नहीं। पर बात आपसे पक्की ही कही जायगी। नारद अब तो कामवासना से मुक्त हो चुके थे। जैसे यह उनके ही मन की बात कही गई थी। फलतः 'मुनि तन पुलक नयन भरि आये।'

विरति से तुलसीदास का तात्पर्य कभी कोरे वैराग्य से नहीं है। भक्त से राम क्या चाहते हैं और कैसा भक्त उन्हें परम प्रिय होता है इसको भी उन्होंने खोलकर कह दिया है। स्वयं राम विभीषण से कहते हैं—

सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥
जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करौं सद्य तेहि साधु समाना॥
जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहि आन निहोरे॥

सगुन उपासक पर हित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम, जिन्हके द्विज पद प्रेम॥

—सुंदर, ४८

अंत में भरत ने राम से संतों की महिमा जानने की इच्छा की है और राम ने अपने श्रीमुख से संत और असंत के भेद को बिलग कर उनके सामने रख दिया है। संक्षेप में—

निंदा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद-कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय, गुन मंदिर सुख कुंज॥

—उत्तर, ३८

एवं—

पर द्रोही पर-दार-रत, पर-धन पर अपवाद।
ते नर पाँवर पाप मय, देह धरे मनुजाद॥

—वही, ३९

अंत में संत और असंत का भेद दिखाकर सार यह बताते हैं कि—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निर्नय सकल पुरान वेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥
काल रूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥
अस विचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहिं संसृति दुख जाने॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहि सुर नर मुनि नायक॥
संत असंतन्ह के गुन भाषे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे॥

सुनहु तात माया कृत, गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह भेद न देखिअहि, देखिअ सो अबिबेक॥

—वही, ४१

कहने को संत और असंत का भेद फरिया दिया गया परंतु वास्तव में आदेश यह दिया गया कि इस द्वंद्व के चक्कर में न पड़ो। गुण की बात तो यह है कि सभी को माया का प्रपंच समझो और अपनी दृष्टि को राममय बना दो। भेदबुद्धि से परे हो जाओ और अभेद में परमात्मा का साक्षात्कार करो। कारण कि—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

सारांश यह कि—

नर तन भव बारिधि कहुँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ नावा। दुर्लभ साजु सुलभ करि पावा॥

जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति, आत्माहन गति जाइ॥

जौ परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदय दृढ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावै कोऊ। भगति हीन मोहि प्रिय नहि सोऊ॥
भगति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहि प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपटु करै द्विज सेवा॥

औरो एक गुपुत मत, सबहिं कहौं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर, भगति न पावै मोरि॥

—उत्तर, ४४-४५

तुलसी ने शंकर की भक्ति को राम भक्ति की कसौटी ठहरा कर जो पुण्य कार्य किया है उसकी भूरि भूरि प्रशंसा होती है। उसको दोहराने की आवश्यकता नहीं। तुलसी ने सबको समेट कर राममय कर दिया है और राम को फैलाकर सब में रमा दिया है, सर्वमय कर दिया है। इसी को दृढ़ करने की दृष्टि से शंकर के मुँह से कहलाया गया है—

उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहि जगत, केहि सन करहिं बिरोध॥

—उत्तर, ११२

जिस भक्ति का इतना बखान हुआ और जिसके निरूपण में इतना श्रम किया गया उसकी स्थिति क्या है? क्या तुलसीदास ने उसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहने दिया है? नहीं,

भक्तिभेद

ऐसी बात नहीं है। तुलसी का अधिकारभेद कहाँ नहीं है? सबको एक ही ढंग की भक्ति नहीं मिलती। किसी को भेद भक्ति मिलती है तो किसी को प्रेम भक्ति, किसी को अविरल भक्ति मिलती है तो किसी को अनपायनी। मिलती ही नहीं, माँगी भी जाती है अलग अलग ही, जिसका अर्थ है कि भक्त अपनी भावना, वासना और संस्कृति के अनुरूप भक्ति की याचना करता और राम के उस रूप को अपना इष्ट बनाता है जो उसके मन में

ही नहीं रोम रोम में रमा होता है। शिव ने 'अनपायनी' भक्ति की याचना की यह तो पहले ही आ चुका है। सनकादि भी 'अनपायनी' भक्ति के ही भूखे हैं, यह उनकी इस प्रार्थना से प्रकट होता है—

परमानंद कृपायतन, मन पर पूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी, देहु हमहिं श्रीराम ॥

—उत्तर, ३४

यहाँ 'अनपायनी' 'प्रेम भगति' का विशेषण है, तो इसका अर्थ हुआ कि प्रेम भक्ति ही अनपायनी है। यह भक्ति 'नारि-तप-पुंज' को भी दी जाती है, जो प्रभु की आज्ञा पाकर बदरीवन को चली जाती है। तुलसीदास का कहना है—

बदरी बन कहुँ सो गई, प्रभु आग्या धरि सीस।
उर धरि राम चरन जुग, जे बंदत अज ईस ॥

—किष्किंधा, २५

बदरीबन जाने का अर्थ यही हुआ कि उसको मुक्ति नहीं मिली। तुलसीदास ने भक्ति के सामने मुक्ति को तुच्छ ठहराया भी है।

प्रेम भक्ति का प्राणी किस रूप में रहता है इसको सुतीक्ष्ण के रूप में देखना चाहिए। प्रेमातिरेक के कारण उनकी दशा यह हो जाती है कि—

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं बूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा ॥

इतना ही नहीं अपितु—

कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई ॥

उनका यह नृत्य प्रभु को इतना भाता है कि—

प्रभु देखहि तरु ओट लुकाई।

तुलसीदास कहते हैं—

अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।

किंतु यह नृत्य रुका और—

मुनि मग माँझ अचल होइ वैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा ॥

इसके उपरांत—

तब रघुनाथ निकट चलि आये। देखि दसा निज जन मन भाये॥
मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥
भूप रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिबर जैसे॥
आगे देखि राम तनु स्यामा। सीता अनुज सहित सुख धामा॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिवर बड़ भागी॥
भुज बिसाल गहि लिए उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई॥
मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला। कनक तरुहि जनु भेंट तमाला॥
राम बदनु बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा॥

तब मुनि हृदय धीर धरि, गहि पद बारहि बार।
निज आश्रम प्रभु आनि करि, पूजा बिबिध प्रकार॥

—अरण्य, ४

आवभाव और आदर सत्कार के अनंतर राम जो वर माँगने को कहते हैं तो मुनि वर माँगना नहीं चाहता, क्योंकि उसने कभी किसी वर की कामना की ही नहीं। जिसने राम को चेता लिया उसे किसी वर की आवश्यकता ही क्या ? अतएव उसने रामरुचि पर ही अपने को छोड़ दिया। राम ने—

अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना। होहु सकल गुन ज्ञान निधाना॥

का वर दिया तो यह खुल पड़ा और बड़े भाव से कहा—

प्रभु जो दीन सो बरु मै पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा॥

अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इन्दु इव, बसहु सदा येह काम॥

—वही, ५

'मानस' के पात्रों में निषाद और सुतीक्ष्ण ये ही ढीठ दिखाई देते हैं और राम को इनकी चतुराई पर रीझना और खिहँसना पड़ता है।

सनकादि के प्रसंग में 'प्रेम भगति अनपायनी' का उल्लेख हुआ है और यहाँ 'अविरल प्रेम भगति' का। तो क्या तुलसीदास ने प्रेमभक्ति को ही दो भागों में विभक्त किया है ?

प्रेमभक्ति के प्रसंग में हमें वसिष्ठ का यह कथन कभी नहीं भूलना चाहिए कि—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

—उत्तर, ४६

और साथ ही यह भी देख लेना चाहिए कि 'मानस' में जो 'एक तापस' का प्रसंग आया है वह सुतीक्ष्ण की दशा के मेल में है अथवा नहीं। हमारी दृष्टि में तो तुलसीदास भी इसी पंथ के पथिक हैं।

रह गई 'भेद भगति' सो उसके बारे में तुलसीदास का कहना है—

सुनि सुत बचन प्रीति अति बाढ़ी। नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी॥
रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितै पितहि दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना॥
तातें उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥
बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दसरथ हरषि गए सुरधामा॥

—लंका, ११२

यही भेदभक्ति शरभंग के प्रसंग में भी आती है और वहाँ भी तुलसीदास लिखते हैं—

सीता अनुज समेत प्रभु, नील जलद तनु स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर, सगुन रूप श्रीराम॥

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा बैकुंठ सिधारा॥
तातें मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ॥

—अरण्य, २३

इस भेदभक्ति को और भी हृदयंगम करना है तो कागभुसुंडि के इस कथन को लें—

हरि सेवकहिं न व्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि बिद्या ॥
तातें नास न होइ दास कर। भेद-भगति बाढ़ै बिहंग बर ॥

—उत्तर, ७९

भेदभक्ति से तुलसीदास का तात्पर्य क्या है और प्रेमभक्ति से उसका संबंध क्या है तथा भक्ति के साथ तुलसीदास ने जो भेद, प्रेम, अविरल और अनपायनी का विशेषण लगाया है उसमें कुछ तथ्य है अथवा नहीं इसकी भी जाँच होनी चाहिए। तुलसीदास ने जिन व्यक्तियों के लिये अनपायनी भक्ति का प्रयोग किया है उनमें से कोई हरिधाम, सुरधाम वा वैकुंठ नहीं गया—न शिव गए, न सनकादि गए, न हनूमान गए और न 'तप पुंज' नारी ही गई। अतएव इसकी स्थिति तो स्पष्ट है। किंतु 'अविरल' का मर्म मिलना कुछ कठिन है। कारण कि इस भक्ति मे कागभुसुंडि भी हैं, गीध भी है और हैं मुनिजन भी। इनमें कागभुसुंडि तो नित्य रामचरितमानस की कथा में लीन रहते हैं और मुनि लोग यह वर माँगते हैं कि श्रीराम सीता और अनुज लक्ष्मण के साथ नित्य हमारे हृदय में निवास करें और कहते हैं—

अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा ॥
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता ॥
अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं ॥

—अरण्य, ७

अगस्त्य मुनि ने इसमें अपना जो पक्ष दिखाया है वह कागभुसुंडि के सर्वथा मेल में है। अतएव इसका उससे कोई विरोध नहीं। यदि कहीं अड़चन दिखाई देती है तो गीध के प्रसंग में ही। तुलसीदास कहते हैं—

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा ॥
स्याम गात-बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी ॥

—अरण्य, २९

इससे विदित होता है कि यह गीध की स्तुति विष्णु की स्तुति है और विष्णु भी राम के भक्त हैं और अविरल भक्ति की कामना करते हैं। इसके साथ ही इतना और जान लेना चाहिए कि इस भक्ति में दंभ

को स्थान नहीं। यही कारण है कि गुरु ने एक बार शूद्ररूपी काग-भुसुंडि को बुलाकर चेताया—

> सिव सेवा कै फल सुत सोई। अविरल भगति राम पद होई॥
> रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पावर कै केतिक बाता॥
> जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥
> हर कहँ हरिसेवक गुर कहेऊ। सुनि खगनाथ हृदय मम दहेऊ॥
> अधम जाति मैं बिद्या पाए। भएउँ जथा अहि दूध पिआए॥
>
> —उत्तर, १०६

कागभुसुंडि भी इसके फलस्वरूप राम के अविरल भक्त हो गए और परमार्थ के साथ ही व्यवहार में भी लीन रहे और सबके कल्याण के लिये रामचरितमानस की कथा भी कहते रहे। अस्तु, कहा जा सकता है कि अविरल भक्ति में लोकसंग्रह और समन्वय की भावना विहित है। रही भेद भक्ति, सो इसके संबंध में इतना कह देना पर्याप्त है कि बिना भेद के भक्ति होती भी नहीं। अतएव यह भेदबुद्धि तो सभी भक्तियों में बनी रहेगी और जिसमें भेदभक्ति होगी उसमें आलंबन के प्रति प्रीति भी होगी ही। किंतु वह प्रेमदशा तक पहुँचकर सबको सुतीक्ष्ण बना दे यह अनिवार्य नहीं। भेदभक्ति के साधक स्वर्ग और वैकुंठ को प्राप्त होते हैं; किंतु प्रेमभक्ति के साधक तो बस प्रेम ही में निमग्न रहते हैं और सदा आनंद रस में ही निमज्जन करते हैं। यही कारण है कि तुलसीदास ने राम के रूप की बहुत चर्चा की है और उनके सौंदर्य को ऐसा दिखाया है कि देखते ही लोग मुग्ध हो जाते हैं। जिस किसी ने राम को देखा राम में उसका अनुराग हो गया और राम का वह भक्त बना।

तुलसीदास ने राम को जहाँ कहीं लिया है प्रसाधन के साथ लिया है और उनकी शोभा का उसे भी अंग बनाया है। यह प्रसाधन देश, काल और अवसर के अनुरूप होता रहा है। तुलसीदास ने इसमें कहीं पुनरुक्ति नहीं की है और की भी है तो सूक्ष्म भेद को निभाते हुए ही। सभी प्रसंगों को लेकर चलना ठीक नहीं। यहाँ हमारा ध्येय है यह दिखाना कि राम के प्रसाधन, वेषभूषा अथवा सज्जा से हमें

प्रसाधन

तुलसी की रुचि और उस समय की परिपाटी का भी बहुत कुछ पता हो जाता है। अतएव पहले दूलह राम की शोभा देखिए—

स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥
जावक जुत पद कमल सुहाए। मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए॥
पीत पुनीत मनोहर धोती। हरति बाल रबि दामिनि जोती॥
कल किंकिनि कटिसूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर॥
पीत जनेउ महाछबि देई। कर मुद्रिका चोरि चितु लेई॥
सोहत ब्याह साज सब साजे। उर आयत उरु भूषन राजे॥
पिअर उपरना काखा सोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती॥
नयन कमल कल कुंडल काना। बदनु सकल सौंदर्य निधाना॥
सुंदर भृकुटि मनोहर नासा। भाल तिलक रुचिरता निवासा॥
सोहत मौरु मनोहर माथें। मंगलमय मुकुता मनि गाथें॥

—बाल, ३३२

और फिर राजा राम की अतुलित छबि। इसमें आपको जैसा व्यापक, पुष्ट, अलंकृत और विस्तृत नखशिख का मनोरम रूप दिखाई देगा वैसा अन्यत्र नहीं। लोचनलाभ लेना है तो आँख खोल छबिपान कीजिए—

देखो रघुपति-छबि अतुलित अति।
जनु तिलोक सुखमा सकेलि बिधि राखी रुचिर अंग अंगनि प्रति॥
पदुमराग रुचि मृदु पदतल, धुज अंकुस कुलिस कमल यहि सूरति।
रही आनि चहुँ बिधि भगतनि की जनु अनुराग भरी अंतरगति॥
सकल सुचिह्न सुजन सुखदायक ऊरधरेख बिसेष बिराजति।
मनहुँ भानु-मंडलहि सँवारत धर्‌यो सूत बिधि-सुत बिचित्र मति॥
सुभग अँगुष्ठ अंगुली अबिरल, कछुक अरुन नख-ज्योति जगमगति।
चरन पीठ उन्नत नत-पालक, गूढ़ गुल्फ, जंघा कदलीजति॥
काम-तून-तल सरिस जानु जुग, उरु करि-कर करमहि बिलखावति।
रसना रचित रचन चामीकर, पीत बसन कटि कसे सरसावति॥
नाभी सर त्रिबली निसेनिका, रोमराजि सैवल छबि पावति।
उर मुकुतामनि-माल मनोहर मनहुँ हंस-अवली उड़ि आवति॥

हृदय पदिक भृगु-चरन-चिह्न-बर, बाहु बिसाल जानु लगि पहुँचति।
कल केयूर पूर-कंचन-मनि, पहुँची मंजु कंज-कर सोहति॥
सुजव, सुरेख, सुनख अंगुलि जुत, सुंदर पानि मुद्रिका राजति।
अँगुलित्रान कमान बान छबि सुरनि सुखद असुरनि-उर सालति॥
स्याम सरीर सुचंदन-चर्चित, पीत दुकूल अधिक छबि छाजति।
नील जलद पर निरखि चंद्रिका दुरनि त्यागि दामिनि जनु दमकति॥
यज्ञोपवीत पुनीत बिराजत गूढ जत्रु बनि पीन अंस तति।
सुगढ़ पुष्ट उन्नत कृकाटिका कंबु कंठ सोभा मन मानति॥
सरद-समय-सरसीरुह-निंदक मुख-सुखमा कछु कहत न बानति।
निरखत ही नयननि निरुपम सुख, रबिसुत, मदन, सोम-दुति निदरति॥
अरुन अधर द्विजपाँति अनूपम ललित हँसनि जनु मन आकरषति।
बिद्रुम-रचित बिमान मध्य जनु सुर मंडली सुमन-चय बरषति॥
मंजुल चिबुक मनोरम हनुथल, कल कपोल नासा मन मोहति।
पंकज-मान-बिमोचन लोचन चितवनि चारु अमृत-जल सींचति॥
केस सुदेस गँभीर वचन बर, स्रुति कुंडल-डोलनि जिय जागति।
लखि नव नील पयोद रवित सुनि रुचिर मोर जोरी जनु नाचित॥
भौंहें बंक मयंक-अंक रुचि कुंकुम रेख भाल भलि भ्राजति।
सिरसि हेम-हीरक-मानिक मय मुकुट-प्रभा सब भुवन प्रकासति॥
बरनत रूप पार नहिं पावत निगम सेष सुक संकर भारति।
तुलसिदास केहि बिधि बखानि कहै यह मन बचन अगोचर मूरति॥

—गीतावली, उत्तर, १७

इस नखशिख में राम के अंग अंग की शोभा व्यक्त की गई है और कृपाकर उसमें यह भी घोषित कर दिया गया है कि किस अंग की शोभा किस आभूषण से अलंकृत हो रही है। राजवेश का यह विन्यास क्या मननीय नहीं है। क्या यह तुलसीकालीन राजवेश कहा जा सकता है। तुलसी का अध्ययन कुछ इस दृष्टि से भी होना चाहिए।

शिल्प

जानकारी के लिये और सुगम होगा जो यहीं यह भी देख लिया जाय कि विवाहमंडप कैसा बना है और राम की राजधानी है कैसी। इससे शिल्प का बोध होगा और रुचि का ज्ञान भी। उधर दूत अवध-पुर भेज दिए गए तो इधर राजा जनक ने—

बहुरि महाजन सकल बोलाये । आइ सबन्हि सादर सिर नाए ॥
हाट बाट मंदिर चहुँ पासा । नगरु सँवारहु चारिहु पासा ॥
हरपि चले निज निज गृह आये । पुनि परिचारक बोलि पठाए ॥
रचहु बिचित्र बितान बनाई । सिर धरि बचन चले सचुपाई ॥
पठये बोलि गुनी तिन्ह नाना । जे बितान बिधि कुसल सुजाना ॥
बिधिहिं बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा । बिरचे कनक कदलि के खंभा ॥

हरित मनिन्ह के पत्र फल, पद्मराग के फूल ।
रचना देखि बिचित्र अति, मनु बिरचि कर भूल ॥

बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे । सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे ॥
कनक कलित अहि बेलि बनाई । लखि नहिं,परइ सपरन सोहाई ॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाए । बिच बिच मुकुता दाम सुहाए ॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा । चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥
किए भृंग बहुरंग बिहंगा । गुंजहिं कूजहिं पवन प्रसंगा ॥
सुर प्रतिमा खंभन्ह गढ़ि काढी । मंगल द्रव्य लिए सब ठाढ़ी ॥
चौकें भाँति अनेक पुराई । सिंधुर मनि मय सहज सोहाई ॥

सौरभ पल्लव सुभग सुठि, किए नील मनि कोरि ।
हेम बौरु मरकत घवरि, लसत पाटमय डोरि ॥

रचे रुचिर बर बंदनिवारे । मनहुँ मनोभव फंद सँवारे ॥
मंगल कलस अनेक बनाए । ध्वज पताक पट चँवर सोहाए ॥
दीप मनोहर मनिमय नाना । जाइ न बरनि बिचित्र बिताना ॥

—बाल, २९२-९४

मणियों के वर्ण तथा कोर क्रिया पर ध्यान दीजिए और इस शिल्प कला के साथ ही अवधपुरी की भी रुचिरता को निहार लीजिए—

जात रूप मनि रचित अटारी । नाना रंग रुचिर गच ढारी ॥
पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर । रचे कँगूरा रंग रंग बर ॥
नव ग्रह निकर अनीक बनाई । जनु घेरी अमरावति आई ॥
महि बहु रंग रचित गच काँचा । जो बिलोकि मुनिबर मनु नाचा ॥
धवल धाम ऊपर नभ चुंबत । कलस मनहुँ रवि ससि दुति निंदत ॥
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं । गृह गृह प्रति मनि दीप बिराजहिं ॥

मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी विद्रुम रची।
मनि खंभ भीति बिरंचि बिरची कनक मनि मरकत खची॥
सुंदर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे॥

चारु चित्रसाला गृह, गृह प्रति लिखे बनाइ।
राम चरित जे निरख मुनि, ते मन लेहिं चोराइ॥

सुमन बाटिका सबहिं लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई॥
लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिं सदा बसंत की नाई॥
गुंजत मधुकर मुखर मनोहर। मारुत त्रिबिध सदा बह सुंदर॥
नाना खग बालकन्हि जिआए। बोलत मधुर उड़ात सुहाए॥
मोर हंस सारस पारावत। भवनन्हि पर सोभा अति पावत॥
जहँ तहँ देखहिं निज परिछाहीं। बहु बिधि कूजहिं नृत्य कराहीं॥
सुक सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जनपालक॥
राज दुआर सकल बिधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू॥

—उत्तर, २७-२८

वर्णन तो और भी आगे तक चला गया है, किंतु यहाँ उसकी विविधता पर विचार करने का विचार नहीं है। रामचरितमानस में अनेक अवसरों पर ऐसे वर्णन हुए हैं। तुलना की दृष्टि से उनका अध्ययन लाभप्रद होगा। तो भी उसकी उपयोगिता यहाँ अधिक नहीं है। अतएव उसे यहीं छोड़ 'बहु विधि कूजहिं नृत्य कराहीं' को दृष्टि में रख कर कुछ प्रकृति के विषय में भी कह दिया जाता है। परंतु ऐसा करने के पहले हमें यह दिखा देना है कि तुलसीदास ने किसी के स्वभाव को कैसा निभाया है। मृगया का दृश्य देखिए—

प्रकृति

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू॥
बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं। मनहु क्रोध बस उगिलत नाहीं॥
कोल कराल दसन छबि छाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई॥
घुरघुरात हय आरौ पाएँ। चकित बिलोकत कान उठाएँ॥

नील महीधर सिखर सम, देखि बिसाल बराहु।
चपरि चलेउ हय सुटुकि नृप, हाँकि न होइ निबाहु॥

आवत देखि अधिक रव बाजी । चलेउ बराह मरुत गति भाजी ॥
तुरत कीन्ह नृप सर संधाना । महि मिलि गयउ बिलोकत बाना ॥
तकि तकि तीर महीस चलावा । करि छल सुअर सरीर बचावा ॥
प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा । रिस बस भूप चलेउ सँग लागा ॥
गएउ दूरि घन गहन बराहू । जहँ नाहिन गज बाजि निबाहू ॥
अति अकेल बन बिपुल कलेसू । तदपि न मृग मग तजै नरेसू ॥
कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा । भागि पैठ गिरि गुहा गभीरा ॥
अगम देखि नृप अति पछिताई । फिरेउ महा बन परेउ भुलाई ॥

खेद खिन्न छुद्धित तृषित, राजा बाजि समेत ।
खोजत व्याकुल सरिस सर, जल बिनु भयउ अचेत ॥

—बाल, १६१–६२

यह तो रही कोल प्रकृति की चर्चा । मृगया में उस मृग की बचने की क्रिया कब और कैसे होती है इसको अंकित करने में तुलसी ने जिस दक्षता का परिचय दिया है वह फिर फिर देखने की वस्तु है केवल सराहने की नहीं ।

तुलसीदास ने शुद्ध प्रकृति का वर्णन प्रायः अलंकार और उद्दीपन के रूप में ही किया है, आलंबन के रूप में उन्होंने उसे जहाँ तहाँ ही लिया है । प्रकृति शिक्षक के रूप में ही उनके सामने अधिक आई है । इसका प्रमुख कारण है उनका संकल्प और साध्य ही, न कि प्रकृति की रमणीयता में उनकी अरुचि । 'मानस' की अपेक्षा 'गीतावली' में प्रकृति पर तुलसी की अधिक दृष्टि रही है और उसका वर्णन भी फलतः अच्छा ही हुआ है । तुलसी के प्रकृतिवर्णन को संक्षेप में एकत्र देखना हो तो 'पंपासर' का वर्णन देखिए । उस पर उनकी दृष्टि पड़ती है तो उनके हृदय में उसकी जो छाया प्रतिफलित होती है, वह है—

संत हृदय जस निर्मल बारी । बाँधे घाट मनोहर चारी ॥
जहँ तहँ पियहिं बिबिध मृग नीरा । जनु उदार गृह जाचक भीरा ॥

पुरइन सघन ओट जल, बेगि न पाइअ मर्म ।
माया छन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म ।

सुखी मीन सब एक रस, अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्म सीलन्ह के दिन, सुख संजुत जाहिं॥

बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा॥
बोलत जल कुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥
चक्रवाक बक खग समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई॥
सुन्दर खग गन गिरा सोहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाए। चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाए॥
चंपक बकुल कदंब तमाला। पाटल पनस पनास रसाला॥
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना। चंचरीक पटली कर गाना॥
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ॥
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥

फल भर नम्र बिटप सब, रहे भूमि नियराय।
पर उपकारी पुरुष जिमि, नवहिं सुसंपति पाइ॥

—अरण्य, ३३-३४

और यदि वृक्षों की शोभा देखनी हो तो चित्रकूट में पहुँच जाइए और देखिए यह कि—

नाथ देखिअहिं बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला॥
जिन्ह तरुबरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु बिसालु देखि मनु मोहा॥
नील सघन पल्लव फल लाला। अबिरल छाँह सुखद सब काला॥
मानहुँ तिमिर अरुनमय रासी। बिरची बिधि सँकेलि सुखमा सी॥

—अयोध्या, २३७

वट वृक्ष का जैसा सजीव, रमणीय और सटीक दर्शन आपको यहाँ हुआ वैसा अन्यत्र क्या कहीं मिलेगा ? तुलसीदास ने सच्ची प्रकृति की दृष्टि से चित्रकूट ही को लिया है और उसका वर्णन भी बड़े ही ढंग से किया है। सो तुलसीदास ने चित्रकूट को प्रायः संभोग की दृष्टि से देखा है। कारण कि यह राम और सीता की विहारभूमि है। तुलसीदास ने स्त्री के नखशिख को बहुत बचा कर लिया है। 'मानस' में रूपकातिशयोक्ति के रूप में प्रकृति में उसको व्यक्त किया है। कारण कि वहाँ मर्यादा का बड़ा कठोर बंधन है। उनकी चित्तवृत्ति 'विनय

पत्रिका' में सर्वथा स्वच्छंद रही है और अपने मनमाने रूप से अपने मन की राम से मनवाने में निमग्न रही है। अतः उसके एक पद में उन्होंने वसंत ऋतु में ही नारी का साक्षात्कार किया है और 'उमाकांत' से प्रार्थना की है कि कृपाकर उसके प्रपंच से भक्त की रक्षा करें, जिससे उसके हृदय में राम का सुखद निवास हो। अच्छा होगा, इसे भी देख लें—

देखो देखो बन बन्यो आज उमाकंत। मनो देखत तुमहिं आई ऋतु बसंत ॥
जनु तनु दुति चंपक-कुसुम माल। बर बसन नील नूतन तमाल ॥
कल कदलि जंघ, पद कमल लाल। सूचति कटि केहरि, गति मराल ॥
भूपन प्रसून बहु बिबिध रंग। नूपुर किंकिनि कलरव बिहंग ॥
कर नवल-बकुल पल्लव रसाल। श्रीफल कुच, कंचुकि लता जाल ॥
आनन सरोज, कच मधुप पुंज। लोचन बिसाल नव नीलकंज ॥
पिक-बचन चरित बर बरहिं कीर। सित सुमन हास लीला समीर ॥
कह तुलसिदास सुनु सिव सुजान। उर बसि प्रपंच रचै पंचबान ॥
करि कृपा हरिय भ्रमफंद काम। जेहि हृदय बसहिं सुखरासि राम ॥

—विनय, १४

चाँचर

गोस्वामी तुलसीदास ने ऋतुराज में चाँचर भी मचा ली है। ऋतुराज का आगमन देखकर लक्ष्मण राम से वन की होली का वर्णन करते हुए कहते हैं—

चित्रकूट पर राउर जानि अधिक अनुराग।
सखा सहित जनु रतिपति आयउ खेलन फाग ॥

झिल्लि झाँझ, झरना डफ, नव मृदंग निसान।
भेरि उपंग भृंग रव, ताल कीर कलगान ॥

हंस कपोत कबूतर बोलत चक्क चकोर।
गावत मनहुँ नारिनर मुदित नगर चहुँ ओर ॥

चित्र बिचित्र बिबिध मृग डोलत डोंगर डाँग।
जनु पुर-बीथिन बिहरत छैल सँवारे स्वाँग ॥

नचहिं मोर, पिक गावहिं सुर बर राग बँधान।
निलज तरुन तरुनी जनु खेलहिं समय समान ॥

भरि भरि सुंड करिनि करि जहँ तहँ डारहिं बारि।
भरत परसपर पिचकनि मनहुँ मुदित नर नारि॥
पीठि चढ़ाइ सिसुन्ह कपि कूदत डारहिं डार।
जनु मुँह लाइ गेरु, मसि भए खरनि असवार॥
लिए पराग सुमन-रस डोलत मलय समीर।
मनहुँ अरगजा छिरकत, भरत गुलाल अबीर॥
काम कौतुकी यहि बिधि प्रभु-हित कौतुक कीन्ह।
रीझि राम रतिनाथहिं जग बिजयी बर दीन्ह॥
दुखवहु मोरे दास जनि, मानेहु मोरि रजाइ।
भलेहि नाथ, माथे धरि आयसु चलेउ बजाइ॥
मुदित किरात किरातिनि रघुबर-रूप निहारि।
प्रभुगुन गावत नाचत चले जोहारि जोहारि॥
देहिं असीस प्रसंसहिं मुनि, सुर बरषहिं फूल।
गवने भवन राखि उर मूरति मंगल मूल॥
चित्रकूट कानन छबि को कवि बरनै पार।
जहँ सिय लषन सहित नित रघुबर करहिं बिहार॥
तुलसिदास चाँचरि मिस कहे राम-गुन-ग्राम।
गावहिं सुनहिं नारि नर पावहिं सब अभिराम॥

—गीतावली, अयोध्या, ४७

तुलसी ने चाँचर के बहाने जो कुछ कर दिखाना चाहा है वह तो उनकी उक्त रचना से ही स्पष्ट है। हम यहाँ कहना यह चाहते हैं कि यदि उस रचना पर सामाजिक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्वतः अवगत होगा कि उस समय होली खेलने की परिपाटी क्या थी और स्वांग भी कैसे रचे जाते थे।

हाँ, तो होली का रंग भी तभी खरा उतरता है जब 'हिंडोल' का आनंद भी पूरा मिल चुका हो। इसी से तो सखी सखी से कहती है—

आली री, राघौ के रुचिर हिंडोलना झूलन जैए।
फटिक-भीति सुचारु चहुँ दिसि, मंजु मनि मय पौरि॥
गच काँच लखि मन नाच सिखि जनु, पाँचसर सु फँसौरि।
तोरन बितान पताक चामर धुज सुमन फल घौरि॥

प्रतिछाँह-छबि कबि साखि दै प्रति सौं कहै गुरु हौंरि।
मदन जय के खंभ से रचे खंभ सरल बिसाल ॥
पाटीर-पाटि बिचित्र भँवरा बलित वेलनि लाल।
डाँडो कनक कुंकुम-तिलक रेखैं सी मनसिज-भाल ॥
पटुली पदिक रति-हृदय जनु कलधौत-कोमल-माल।
उनये सघन घनघोर, मृदु झरि सुखद सावन लाग ॥
बग पाँति सुरधनु, दमक दामिनि, हरित भूमि विभाग।
दादुर मुदित, भरे सरित सर, महि उमँग जनु अनुराग ॥
पिक मोर मधुप चकोर चातक सोर उपवन बाग।
सो समौ देखि सुहावनो नवसत सँवारि सँवारि ॥
गुन-रूप-जोबन सींव सुंदरि चली झुडनि झारि।
हिंडोल-साल बिलोकि सब अंचल पसारि पसारि ॥
लागी असीसन राम-सीतहि सुख-समाजु निहारि।
झूलहि झुलावहिं ओसरिन्ह गावैं सुहो गौड़-मलार ॥
मंजीर—नूपुर—बलय—धुनि जनु काम-करतल तार।
अति मुचत स्रमकन मुखनि बिथुरे चिकुर बिलुलित हार ॥
तम तडित उडुगन अरुन बिधु जनु करत व्योम बिहार।
हिय हरषि प्रसून निरखति बिबुध-तिय तृन तूरि ॥
आनन्द जल लोचन, मुदित मन, पुलक तनु भरिपूरि।
सब कहहिं अविचल राज नित, कल्यान मंगल भूरि ॥
चिरजियौ जानकिनाथ जग तुलसी सजीवनि मूरि।

—गीतावली, उत्तर, १८

और इतने से संतोष न हुआ तो—

झुंड झुंड झूलन चलीं गज गामिनि बर नारि।
कुसुंभि चीर तनु सोहहिं भूषन बिबिध सँवारि ॥
पिक बयनी मृग लोचनी सारद ससि सम तुंड।
राम-सुजस सब गावहिं सुसुर सुसारँग गुंड ॥
सारग गुंड मलार सोरठ सुहव सुघरनि बाजहीं।
बहु भाँति तान-तरंग सुनि गंधरब किन्नर लाजहीं ॥

अति मचत छूटत, कुटिल कच छवि अधिक सुंदर पावहीं।
पट उड़त, भूषन खसत, हँसि हँसि अपर सखी झुलावहीं।।

—गीतावली, उत्तर, १६-४

तुलसीदास ने विविध विषयों पर विविध रूपों में जो कुछ लिखा है उसका दिग्दर्शन कराने की दृष्टि से इतना और भी निवेदन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि उन्होंने तिथियों को

ज्योतिष

लेकर भी रचना की है। अधिक नहीं, बस एक ही। तुलसीदास ने 'भाव कुभाव अनख आलसहूँ' को रामभजन में ही नहीं, उसके प्रकार में भी ठीक समझा है और सभी प्रकार की रुचियों के लिये कहीं न कहीं, किसी न किसी रचना में, कुछ न कुछ उसका प्रबंध भी अवश्य कर दिया है। तुलसी में जो गणित है उसको इसी का परिणाम समझना चाहिए। उपमान के रूप में ही नहीं स्वयं 'दोहावली' के कुछ दोहो में भी उनकी ज्योतिष की पूरी विधि दिखाई देती है। दोहावली के जो पाँच (४५६-६०) दोहे लगातार ज्योतिषियों के काम के आते हैं उनको तुलसीरचित मानने में कुछ हिचक होती है। कारण कि उनमें न तो राम का नाम है और न तुलसी की छाप। ये हैं भी उनकी प्रकृति के प्रतिकूल ही। हाँ, तुलसी का यह दोहा अवश्य तुलसी की छाप के साथ है और है सीतापति की भगति के साथ भी। देखिए—

सुधा साधु सुरतरु सुमन, सुफल सुहावनि बात।
तुलसी सीतापति भगति, सगुन सुमंगल सात।।४६१

इसमें तुलसीदास ने सप्त सकार को लिया है। ठीक वैसे ही जैसे लोग पंच वकार या षड् भकार को लेते हैं। भगति में 'स' आता नहीं था। राम में भी वह नहीं आता है। पर सीता में तो वह है ही। निदान 'सीतापति भगति' में सातवाँ सकार भी प्राप्त हो गया और तुलसी का 'सगुन' पूरा हुआ।

इसी प्रकार का एक पद भी प्रस्तुत किया जाता है जो तुलसीदास की इस व्यापक दृष्टि का द्योतक है—

श्रीहरि गुरु पद कमल भजहु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि सुख-निधान भगवान॥

परिवा प्रथम प्रेम बिनु राम मिलन अति दूर।
जद्यपि निकट हृदय निज रहे सकल भरि पूरि॥
दुइज द्वैत-मति छाँड़ि चरहिं महि-मंडल धीर।
बिगत मोह माया मद हृदय बसत रघुबीर॥

तीज त्रिगुन-पर परम पुरुष श्रीरमन मुकुंद।
गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानंद॥
चौथि चारि परिहरहु बुद्धि मन चित अहंकार।
बिमल बिचार परमपद निज सुख सहज उदार॥

पाँचइ पाँच परस, रस, शब्द, गंध अरु रूप।
इन्ह कर कहा न कीजिए बहुरि परब भवकूप॥
छठि षड्वर्ग करिय जय जनकसुता पति लागि।
रघुपति-कृपा-बारि बिनु नहिं बुताइ लोभागि॥

सातैं सप्त धातु-निर्मित तनु करिय बिचार।
तेहि तनु केर एक फल, कीजै पर-उपकार॥
आठईं आठ-प्रकृति-पर निर्विकार श्रीराम।
केहि प्रकार पाइय हरि हृदय बसहिं बहु काम॥

नवमी नव द्वार पुर बसि जेहि न आपु भल कीन्ह।
ते नर जोनि अनेक भ्रमत दारुन दुख लीन्ह॥
दसहुँ दसहुँ कर संजम जो न करिय जिय जानि।
साधन बृथा होइ सब मिलिहि न सारंगपानि॥

एकादसी एक मन बस कैसहु करि जाइ।
सोइ ब्रत कर फल पावै आवागमन नसाइ॥
द्वादसि दान देहु अस अभय होइ त्रैलोक।
परहित-निरत सो पारन बहुरि न ब्यापत सोक॥

तेरसि तीन अवस्था तजहु भजहु भगवंत।
मन-क्रम-बचन-अगोचर, व्यापक, व्याप्त, अनंत॥

चौदसि चौदह भुवन अचर चर रूप गुपाल।
भेद गये बिनु रघुपति अति न हरहिं जगजाल॥

पूनों प्रेम भगति-रस हरिरस जानहिं दास।
सम सीतल गत-मान ज्ञानरत विषय उदास ॥
त्रिबिध सूल होलिय जरै, खेलिय अस फागु।
जो जिय चाहसि परम सुख तो यहि मारग लागु ॥
श्रुति-पुरान-बुध-संमत चाँचरि चरित मुरारि।
करि बिचार भव तरिय, परिय न कबहुँ जमधारि ॥
संसय-समन दमन-दुख सुखनिधान हरि एक।
साधु कृपा बिनु मिलहिं न करिय उपाय अनेक ॥
भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन।
तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख हरन ॥

—विनय, २०३

तुलसीदास ने साधना की जो तिथिचर्या और फाग खेलने का जो विधान किया है वह तो है ही, साथ ही 'भव सागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन' का 'शुद्ध' भी विचारणीय है।

कहरवा

तुलसीदास ने इस 'शुद्धता' का सदा बहुत विचार रखा है। यहाँ तक कि वे 'कहार जैसे' अश्लील पटु व्यक्ति के लिये भी एक पद रच देते हैं और उसमें उपदेश भी कुछ कबीरी ढंग से ही देते हैं। लीजिए तुलसी का 'कहरवा' है—

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिं तो भव बेगारि महँ परिहै छूटत अति कठिनाई रे ॥
बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहि दिहल करि कुटिल करमचंद नंद मोल बिनु डोला रे ॥
बिषम कहार मार-मदमाते, चलहिं न पाउँ बटोरा रे।
मंद बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे ॥
काँट कुराय-लपेटन लोटत ठाँवहिं ठाँउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेट लगाऊ रे ॥
मारग अगम संग नहि संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास भवत्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे ॥

—विनय, १८९

तुलसीदास के इस निर्गुण की भी एक परंपरा है। जायसी ने भी इस ढंग की एक रचना की है। तुलसी ने किस अवसर पर इसकी रचना की इसका पता नहीं, पर प्रतीत होता है कि उन्होंने कहारों के हेतु भी कभी इसकी रचना की और एक सामान्य यात्रा को महायात्रा का रूप दे दिया।

आशा है इतना निदर्शन तुलसी की व्यापक वृत्ति के दिग्दर्शन में पर्याप्त होगा। विषय को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं। तो भी संक्षेप में यहाँ इतना और कह दिया जाता है कि तुलसी ने सभी प्रकार से सभी के जीवन को राममय बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। और इसीसे उनकी रचना का फैलाव बहुत दूर तक, कहीं व्यास और कहीं समास-रूप से हुआ है। हाँ, यदि तुलसीदास ने कृपणता से कहीं काम लिया है तो भोज्य पदार्थों के प्रदर्शन में ही। सो भी इस रूप में कि अभाव किसी को खटकता भी नहीं। समय की सूझ तुलसी में इतनी है जितनी और किसी में नहीं। लेना और छोड़ना, संग्रह और त्याग पहिचान से होता है और वह पहिचान तुलसी की निजी पहिचान है।

रीति नीति

तुलसीदास ने नीति और उपदेश को प्रकट, प्रच्छन्न, काकु और व्यंग्य आदि सभी रूपों में लिया है। इनको लेकर कितना बतबढ़ाव हो? तो भी इतना तो कहना ही होगा कि 'दोहावली' का इस दृष्टि से विशेष महत्व है। रामचरितमानस में तो नीति और उपदेश का प्रत्यक्ष विधान है ही। उद्धरण भी उसमें उनका प्रकट और स्मृति के रूप में ही हुआ है। इसी से कहीं कहीं वह बहुतों को खटकता भी बहुत है। परंतु यदि पात्रों की प्रकृति पर दृष्टि रखकर उसके स्वरूप पर ध्यान दिया जाय तो उसकी खटक आप ही बहुत कुछ दूर हो जाती है। उसका निराकरण स्वयं हो जाता है। उदाहरण के रूप में सूपनखा की वह प्रसिद्ध फटकार लीजिए जिसमें नीति की झड़ी है। वह रावण को चपेटती है—

बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोस कै सुरति बिसारी॥
करसि पान सोवसि दिनु राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती॥

राजु नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥
बिद्या बिनु बिवेक उपजाए। श्रम फल पढ़े किए अरु पाए॥
सग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति असि सुनी॥
रिपु रुज पावक पाप प्रभु, अहि गनिय न छोट करि।
अस कहि बिबिध बिलाप, करि लागी रोदन करन॥

—अरण्य, १५

इसके संबंध में हमारा नम्र निवेदन है कि इसे उस दृष्टि से देखिए जिस दृष्टि से संस्कृत रूपकों में शकारि अथवा 'राष्ट्रिय' अथवा राज-श्याला का विधान होता है। सूपनखा की यह राष्ट्रियता ठीक उसी कोटि की है और उसका शास्त्रज्ञान भी उसी ज्ञानबंधुता का प्रतिफल जो राजा के लगाव कारण भगिनी या श्याला में होता है। शकारि होता तो मूर्ख है पर 'श्याला' होने के नाते राजा का कृपापात्र बन जाता है और इधर उधर की डींग मारना ही उसका मुख्य कार्य होता है। नैहर में स्त्री की जो स्थिति होती है और ऐसी स्त्री की जो 'पुंवत् प्रगल्भा' हो वही सूपनखा की है। यह विधवा थी और रहती थी रावण के यहाँ स्वतंत्र क्या, स्वच्छंद रूप में ही। इसी से जब यह क्रोध में आती है और वैर के कारण मदांध हो जाती है तब आदि और अंत में तो ठिकाने की बात कह जाती है पर बीच में अपना ज्ञान भी झाड़े बिना नहीं रहती। तुलसीदास ने कहा भी है—'बैर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू।' बैर यहाँ है और प्रेम राम में—सीता के वियोग और लक्ष्मण के शोक में। यहाँ प्रलाप है तो वहाँ विलाप।

तुलसीदास के उपदेश के दो स्थल 'कवितावली' से लिए जाते हैं और इनके द्वारा यह दिखाया जाता है कि तुलसीदास का उपदेश किस ढंग से क्या कराना चाहता है। नाना प्रकार के संकल्पों में जीव अपने आप को किस प्रकार खो देता है इसे देखना हो तो तुलसी का यह कवित पढ़ें और गुनें भी—

काल्हि ही तरुन तन, काल्हि ही धरनि धन,
काल्हि ही जितौंगो रन, कहत कुचालि है।
काल्हि ही साधौंगो काज, काल्हि ही राजा समाज,
मसक ह्वै कहै 'भार मेरे मेरु हालिहै'।

तुलसी यही कुमति घने घर घालि आई,
घने घर घालति है, घने घर घालिहै।
देखत सुनत समुझत हू न सूझै सोई,
कबहूँ कह्यो न 'कालहू को काल काल्हि है' ॥

—कवितावली, उत्तर, १२०

कल की चिंता छोड़कर आज क्या करना चाहिए और किसे किस वस्तु का साधन और किसको अपना साध्य बनाना चाहिए, इसको जानना हो तो तुलसी का यह उद्घोष सुनें—

जाय सो सुभट समर्थ पाइ रन रारि न मंडै।
जाय सो जती कहाय विषय-वासना न छंडै ॥
जाय धनिक बिनु दान, जाय निर्धन बिनु धर्महिं।
जाय सो पंडित पढ़ि पुरान जो रत न सुकर्महिं ॥

सुत जाय मातु-पितु-भक्ति बिनु, तिय सो जाय जेहि पति न हित।
सब जाय दास तुलसी कहै, जौ न राम पद नेह नित ॥

—कवितावली, उत्तर, ११६

कृष्ण चरित

तुलसीदास प्राकृत जन को तो ले नहीं सकते थे, किंतु उन्होंने जो कुछ लिया है वह प्राकृत जन के निमित्त ही। राम प्राकृत जन नहीं थे, किंतु उनकी लीला रही सदा प्राकृत ही। जहाँ अद्भुत हुई कुछ के हेतु हुई, सबके सामने नहीं। राम के साथ ही तुलसी ने कृष्ण को भी लिया, किंतु केवल उस कृष्ण को नहीं, जो रासरसिक अथवा मधुर रस के सर्वस्व समझे जाते हैं। उन्होंने उस कृष्ण को सराहा जिसने सबको सिद्ध किया और कभी किसी में आसक्त नहीं हुआ। तुलसीदास ने जो—

कै बड़ कै लघु मीत भल, सम सनेह दुख होइ।
तुलसी ज्यो घृत मधु सरिस, मिले महा विष होइ ॥

—दोहा०, ३२३

कहा है उसमें कुछ इसका भी संकेत हो तो आश्चर्य नहीं। तुलसीदास कृष्णचरित को किस रूप में समाज में प्रचलित देखना चाहते थे

इसको उनकी 'श्रीकृष्णगीतावली' में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त भी तुलसीदास के कुछ छंद प्राप्त होते हैं। उनका एक सवैया है—

जोग कथा पठई ब्रज को, सब सो सठ चेरि की चाल चलाकी।
ऊधोजू, क्यों न कहै कुबरी जो बरी नट नागर हेरि हलाकी॥
जाहि लगै पर जानै सोई, तुलसी सो सुहागिनि नंदलला की।
जानी है जानपनी हरि की, अब बाँधियैगी कछु मोटि कला की॥

—कवितावली, उत्तर, १३४

तुलसीदास ने अपेक्षाकृत ऊधो को अधिक लिया है और लिया है 'छपद' के रूप में ही विशेष रूप से। कहते हैं—

पठयो है छपद छबीले कान्ह कैहूँ कहूँ,
खोजि कै खवास खासी कूबरी सी बाल को।
ज्ञान को गढ़ैया, बिनु गिरा को पढ़ैया, बार-
खाल को कढ़ैया सो बढ़ैया उर-साल को॥
प्रीति को बधिक, रसरीति को अधिक, नीति-
निपुन, बिबेक है, निदेस देस काल को।
तुलसी कहे न बनै, सहे ही बनैगी सब,
जोग भयो जोग को, बियोग नंदलाल को॥

—वही, १३५

'खोज कै खवास खासो कूबरी सी बाल को' में 'खासो खवास' पर ध्यान दीजिए और 'जोग भयो जोग' को भी आँख से ओझल न होने दीजिए, फिर तुलसी के कवित्त को परखिए और इस बात पर विचार कीजिए कि 'श्रीकृष्णगीतावली' में तुलसीदास ने उतनी तत्परता से योग का खंडन उसी ढंग से क्यों नहीं किया जिस ढंग पर कि सूर आदि ने किया था। बात यह है कि तुलसी ने अपने मत का प्रतिपादन और सिद्धांत का निरूपण 'रामचरितमानस' में संवादों के द्वारा इतना कर दिया था कि उसको और कर दिखाने की कोई आवश्यकता न थी। इसी से तुलसीदास ने प्रसंग को निभाया और अपने ढंग से कुछ दिखाया भी है। उनका एक पद है—

दीन्ही है मधुप सबहि सिख नीकी।
सोइ आदरौ आस जाके जिय बारि बिलोवत घी की ॥
बूझी बात कान्ह कुबरी की, मधुकर कछु जनि पूछौ।
ठाली ग्वालि जानि पठए, अलि, कह्यो है पछोरन छूछौ ॥
हमहूँ कछुक लखी ही तब की औरेबैं नंदलला की।
ये अब लही चतुर चेरी पै चोखी चालि चलाकी ॥
गए कर तें, घर तें, आँगन तें ब्रजहू ते ब्रजनाथ।
तुलसी प्रभु गयो चहत मनहुँ तें सो तो है हमारे हाथ ॥"

—श्रीकृष्णगीतावली, ४३

गोपियाँ बिसूरती हैं, झँखती हैं, पछताती हैं, झेंपती हैं, चिंतित होती हैं और अंत में यही समझ कर रह जाती हैं कि अपना मन प्रियतम में है और प्रियतम का मन कूबरी में! फिर बने तो कैसे बने? पटे तो कैसे पटे? कहना कुछ चाहती हैं, किंतु डर है कि मुँह से कुछ और ही न निकल पड़े। निदान तटस्थ रहना ही ठीक है। सुनिए किस विषाद से कहती हैं—

कान्ह, अलि भये नये गुरु ज्ञानी।
तुम्हरे कहत आपने समुझत, बात सही उर आनी ॥
लिए अपनाइ लाइ चन्दन तन, कछु कटु चाह उड़ानी।
जरी सुँघाइ कूबरी कौतुक करि जोगी बघा-जुड़ानी ॥
ब्रज बसि रास-बिलास, मधुपुरी चेरी सो रति मानी।
जोग-जोग ग्वालिनी बियोगिनि जान-सिरोमनि जानी ॥
कहिबे कछू कछू कहि जैहै, रहौ, आलि, अरगानी।
तुलसी हाथ पराए प्रीतम, तुम्ह प्रिय-हाथ बिकानी ॥

—श्रीकृष्णगीतावली, ४७

प्रायः लोग तर्क किया करते हैं कि गोपियाँ तड़पती तो इतना हैं, पर कभी मथुरा जाने में उनका क्या जाता है जो नहीं जाती? समाधान मान बताकर किया जाता है। परंतु तुलसी की गोपियाँ कहती हैं—

सब मिलि साहस करिय सयानी।
ब्रज आनियहि मनाइ पाँय परि कान्ह कूबरी रानी॥
बसैं सुबास, सुपास होहि सब फिरि गोकुल रजधानी।
महरि महर जीवहिं सुख-जीवन खुलहि मोद-मनि-खानी॥
तजि अभिमान अनख अपनो हित कीजिय मुनिबर बानी।
देखिबो दरस दूसरेहु चौथेहु बड़ो लाभ लघु हानी॥
पावक परत निषिद्ध लाकरी होति अनल जग जानी।
तुलसी सो तिहुँ भुवन गाइबी नंदसुवन सनमानी॥

—वही, ४८

यह भली बात सबको भा जाती है और कहा जाता है—

कही है भली बात सबके मन मानी।
प्रिय सम प्रिय सनेह-भाजन सखि प्रीति-रीति जग जानी॥
भूषन भूति गरल परिहरि कै हरमूरति उर आनी?
मज्जन पान कियो कै सुरसरि कर्मनास-जलछानी?
पूँछ सों प्रेम, बिरोध सींग सो यहि बिचार हितहानी।
कीजै कान्ह-कूबरी सों नित नेह करम मन बानी॥
तुलसी तजिय कुचालि आलि अब सुधरै सबइ नसानी।
आगे करि मधुकर मथुरा कहँ सोधिय सुदिन सयानी॥

—वही, ४६

इस सयानी बात पर ध्यान तो दीजिए। गोपियाँ कहती हैं कि ऊधो आगे आगे मथुरा को चले और उनके पीछे पीछे गोपियाँ। ऊधो समझाने क्या आए थे, मानों कृष्ण की ओर से उन्हें विदा कराने आए थे। फिर ऊधो बेचारे इस बला का सामना कहाँ तक करते! ऊधो बूझते नहीं, बस बुझाना भर चाहते हैं। अंत में गोपियाँ भी खीझकर कहती हैं—

कौन सुनै अलि की चतुराई।
अपनिहि मति बिलास अकास महँ चाहत सियनि चलाई॥
सरल सुलभ हरि भगति-सुधाकर निगम पुराननि गाई।
तजि सोइ सुधा मनोरथ करि करि को मरिहै री माई॥

जद्यपि ताको सोइ मारग प्रिय जाहि जहाँ बनि आई।
मैन के सदन, कुलिस के मोदक कहत सुनत बौराई॥
सगुनछीर-निधि-तीर बसत ब्रज तिहुँ पुर बिदित बड़ाई।
आक दुहन तुम्ह कह्यौ सो परिहरि हम यह मति नहिं पाई॥
जानत हैं जदुनाथ सबन की बुधि बिबेक जड़ताई।
तुलसिदास जनि बकहि, मधुप, सठ, हठ निसि दिन अँबराई॥

—वही, ५१

निदान स्थिति यह हुई कि—

मोको अब नैन भये रिपु माई।
हरि बियोग तनु तजेहि परमसुख एराखहि सोइ है बरियाई॥
बरु मन कियो बहुत हित मेरो बारहिबार काम दव लाई।
बरषि नीर ये तबहिं बुझावहि स्वारथ निपुन अधिक चतुराई॥
ज्ञान परसु दै मधुप पठायो बिरह बेलि कैसेहु कठिनाई।
सो थाक्यो बरह्यो एकहि तक देखत इनकी सहज सिंचाई॥
हारत हू न हारि मानत, सखि, सठ सुभाव कंदुक की नाईं।
चातक जलज मीनहुँ ते भोरे समुझत नहिं उन्हकी निठुराई॥
ए हठ-निरत दरस लालच बस परे जहाँ बुधिबल न बसाई।
तुलसिदास इन्ह पर जो द्रवहिं हरि तौ पुनि मिलौ बैरु बिसराई॥

—वही, ५६

'तौ पुनि मिलौं बैर बिसराई' के साथ इस प्रसंग को समाप्त कीजिए और एक ठकुराई का रूप भी देख लीजिए—

कोउ सखि नई चाह सुनि आई।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति सो मदन मिलिक करि पाई॥
घन-घावन, बगपाँति पटोसिर, बैरख-तड़ित सोहाई।
बोलत पिक नकीब, गरजनि मिस मानहुँ फिरति दोहाई॥
चातक मोर चकोर मधुप सुक सुमन समीर सहाई।
चाहत कियो बास वृन्दावन बिधि सो कछु न बसाई॥
सीव न चाँपि सको कोऊ तब जब हुते राम कन्हाई।
अब तुलसी गिरिधर बिनु गोकुल कौन करिहि ठकुराई॥

—वही, ३२

तुलसीदास के समय में शासन-व्यवस्था क्या थी इसको भी तुलसीदास ने बता दिया। जो लोग कहते हैं कि तुलसीदास में समय का लेश नहीं उनको तुलसीदास का अध्ययन समय के साथ करना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि तुलसीदास ने अपने समय को सूक्ष्म दृष्टि से देखा, समझा, परखा और उसको सन्मार्ग दिखाया है। दिखाया ही नहीं, बहुत कुछ सन्मार्ग पर लाया भी है।

देशकाल

उपर्युक्त पद में 'मिलिक' और 'बैरख' के साथ ही 'नकीब' का विधान भी दर्शनीय है। उस समय मुगल शासन की ओर से कोई राज्य किसी राजा को किस रूप में मिलता था और उसकी घोषणा किस प्रकार की जाती थी इसका यह एक प्रस्फुट उदाहरण है।

सारांश यह कि सभी दृष्टियों से विचार करने पर तुलसी के विमल यश के संबंध में, उन्हीं की भाषा में हमारा भी यही कहना है—

नव बिधु बिमल तात जस तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अँथइहि कबहू ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूजा॥
कोक तिलोक प्रीति अति करही। प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू॥
पूरन राम सुप्रेम पियूषा। गुर अवमान दोख नहिं दूषा॥
राम भगति अब अमिय अघाहू। कीन्हिहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥
—अयोध्या, २०६

'कीन्हेहु सुलभ सुधा वसुधाहू' के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। देखने की आँख और सुनने के कान से कुछ छिपा नहीं। हाँ, कैकेयी के करतब के संबंध में कुछ असमंजस अवश्य है। तुलसी ने अभिलाष, असमंजस और पश्चात्ताप को बड़ी निपुणता, तल्लीनता, तन्मयता, और तादात्म्य के साथ दिखाया है। परंतु परिस्थिति वह नहीं रही। देश तो वही रहा, पर काल नहीं। कालचक्र का प्रभाव अथवा समय के साथ बदलती हुई प्रवृत्ति ही कैकेयी की वह करनी है जिससे तुलसी का 'विमल यश' कभी ग्रसित नहीं होगा। कारण कि वह भी उसी 'नव वधू' की भाँति विमल है। अध्ययन से उसकी कौमुदी भी फैलेगी,

इसमें संदेह नहीं। फैलाव के साथ दोष भी फैलता ही है। पूर्णचंद्र में जैसा कलंक गोचर होता है वैसा नवल विधु में नहीं। हाँ, उसके संबंध में भी भिन्न भिन्न रुचि के भिन्न भिन्न व्यक्तियों की ठीक वैसी ही धारणा रहेगी जैसी कि स्वयं 'रामचरितमानस' में भिन्न भिन्न पात्रों की, भिन्न भिन्न रूपों में रही है और राम के पूछे जाने पर प्रकट हुई है। निष्कर्ष यह कि 'जाकी रही भावना जैसी' की उक्ति यहाँ भी चरितार्थ होगी ही, फिर इसकी इतनी चिंता क्यों ?
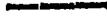
११—तुलसी प्रशस्ति

गोस्वामी तुलसीदास विश्व के उन सौभाग्यशाली पुरुषों में हैं जिनकी प्रतिष्ठा उनके जीवनकाल में ही परिपूर्ण हो जाती है। उनके जीते जी उनकी धाक जैसी जमी थी उनकी रचनाओं से ही सिद्ध है। अतएव उनके निजी संकेतों को छोड़कर देखना यह है कि अन्य सूत्रों से इसकी पुष्टि कहाँ तक होती है। सो भाषा के अनन्य भक्त कवि व्यासजी को ही सबसे पहले लीजिए और यह समझ रखिए कि व्यासजी का देहावसान तुलसीदासजी के जीते जी हो गया था। व्यासजी ने स्पष्ट रूप से कहीं तुलसी का उल्लेख नहीं किया है। हाँ, कृपा कर अपनी रचनाओं में उन्होंने इसका संकेत अवश्य किया है। एक पद के विषय में उनकी रचनाओं के संपादक श्री वासुदेव गोस्वामी का मत है—

यद्यपि इस प्रकार की चमत्कारपूर्ण घटनाओं की ऐतिहासिक समीक्षा करना अभिप्रेत नहीं है तथापि जिन व्यासजी के संबंध में हमें निर्णय करना है, वे दैवी चमत्कारों में पूर्ण विश्वास रखते थे, जैसा कि उनके 'साँची भक्ति नामदेव पाई' आदि पदों में वर्णित घटनाओं से प्रकट है। नामदेव के हाथ से भगवान के दूध पी जाने की चमत्कारपूर्ण घटना व्यासजी की साखी में भी वर्णित है—

> नामा के कर पय पियौ, खाईं ब्रज की छाक।
> 'व्यास' कपट हरि ना मिलैं, नीरस अपरस पाक॥

अतएव हमें इस हेतु तो उस घटना को मान ही लेना पड़ेगा। व्यासजी का उक्त घटना को संकेत करने वाला पद यह है—

> करौ भैया साधुन ही सो संग।
> पति-गति जाय असाधु संग तें, काम करत चित भंग॥
>
> हरि तें हरिदासिन की सेवा, परम भक्ति कौ अंग।
> जिनके पद तीरथमै पावन, उपजावत रस-रंग॥

जिनके बस दसरथ-सुत मार्यौ, माया कनक कुरंग।
तिनके कहत 'व्यास' प्रभु सुमर्यौ, सत्वर धनुष-निषंग॥
(व्या० २१७)

यहाँ पर व्यासजी के 'प्रभु' वृंदावन विहारी श्री कृष्ण हैं, न कि विष्णु, क्योंकि व्यासजी ने अपने कितने ही पदों में नारायण या विष्णु को अपने प्रभु राधावल्लभ से पृथक् कहा है। कृष्ण के इस प्रकार धनुष बाण धारण करने की कथा अन्य किसी साधु के संबंध में प्रचलित न होने के कारण इस पद में गोस्वामी तुलसीदास से संबंधित इस चमत्कारिक घटना के संकेत को अभिप्रेत समझना चाहिए।

—भक्त कवि व्यासजी, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, पृ० १८८

'दसरथ सुत' का उल्लेख इस कथन को और भी पुष्ट करता है और इस विषय को खुलकर कहना चाहता है कि व्यासजी तुलसी की साधुता के समर्थक और प्रशंसक थे। इस विषय में उनका एक दूसरा पद भी विचारणीय है। हमारी समझ में इसमें भी तुलसीदास का संकेत है। ध्यान से पढ़ें। कहते हैं—

अब साँचेहू कलिजुग आयौ।
पूत न कह्यौ पिता कौ मानत, करत आपनौ भायौ॥
बेटी बेचत संक न मानत दिन-दिन मोल बढ़ायौ।
याही ते बरषा मंदि होति है, पुन्य तें पाप सवायौ॥
मथुरा खुदत, कटत वृंदावन, मुनिजन सोच उपायौ।
इतनौ दुःख सहिबे के काजैं, काहे कौ 'व्यास' जिवायौ॥

—वही, २६२

व्यास की इस मर्म वाणी में 'मुनिजन' का प्रयोग विशेष महत्व का है। 'मुनिजन' का वास्तविक तात्पर्य चाहे जो हो पर इतना तो प्रमाण-सिद्ध है कि तुलसीदास अपने जीवनकाल में वाल्मीकि मुनि के अवतार माने जा चुके थे और महामुनि की भाँति माने भी जा चुके थे। इसके संबंध में स्वयं उन्हीं का उद्घोष है—

जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस
खाए टूक सब के बिदित बात दुनी सो।

मानस बचन काय किए पाप सति भाय
राम को कहाय दास दगाबाज पुनी सो ।
राम नाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप
तुलसी से जग मानियत महामुनी सो ।
अति ही अभागो अनुरागत न राम पद
मूढ़ एतो बड़ो अचरज देखि सुनी सो ॥

व्यासजी के पश्चात् 'अनन्य' कवि की दृष्टि तुलसी की ओर विशेष मुड़ी है। उन्होंने तुलसीदास के संबंध में जो कुछ लिखा है उसकी अवहेलना अब तक होती रही और आगे कब तक होती रहेगी यह कहना हिंदी परिशीलन की गतिविधि को देखते हुए अत्यंत कठिन है। सो भी उनका उद्‌गार है—

चौपाई

जय जय तुलसीदास गुसाईं। सिया-राम दृग दाईं बाईं ॥
रघुबर की बर कीरति गाई। जै अनन्य तिनके मन भाई ॥८४॥

छंद

भाई अनन्य मनहिं सुकीरति बिमल रघुबर राय की।
अति विचित्र चरित्र बानी प्रगट कीनी भाय की ॥
कुटिल कलि के जीव तिनपै अति अनुग्रह तुम कर्‌यो।
त्रिबिध ताप सँताप हिय को दया करि सबको हर्‌यो ॥८५॥

जै जै श्री तुलसी तरु जंगम राजई।
आनंद बन के माँहि प्रगट छबि छाजई ॥
कविता-मंजरी सुंदर साजै।
राम-भ्रमर रमि रह्यो तिहि काजै ॥८६॥

रमि रहे रघुनाथ-अलि ह्वै सरस सोधो पाइकै।
अति ही अमित महिमा तिहारी कहौं कैसे गाइकै ॥
तुलसी सु वृंदा सखी को निज नाम ते वृंदा सखी।
दासतुलसी नाम की यह रहसि मैं मन में लखी ॥८७॥

चौपाई

कोसल देस उजागर कीनौ। सबहिन को अद्भुत रस दीनौ ॥
छिन छिन उमगे प्रेम नवीनौ। उमड़ि घुमड़ि झर लाइ रँगीनौ ॥८८॥

छंद

रंग की बरखा करी बहु जीव सन्मुख करि लिए।
जनकनंदिनि-राम-छवि मैं भिजै दीने जन-हिये ॥
बस निरंतर रहत जिनके नाथ रघुबर-जानकी।
ते दासतुलसी करहु मो पर दया दंपति-दान की ॥८६॥

चौपाई

सुंदर सिया-राम की जोरी। वारौं तिहिं पर काम करोरी ॥
दोउ मिलि रंगमहल मैं सोहैं। सब सखियन के मन को मोहैं ॥९०॥

छंद

सकल सखियन में सिरोमनि दासतुलसी तुम रहौ।
करौ सेवन रुचिर रुचि सों सुजस की बानी कहौ ॥
दास यह तुव अनन्य तापर रीझि चरनन तर परी।
अहो तुलसीदास तुम्ह ही कृपा करि अपनी करी ॥९१॥

(ब्रजनिधि-ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्रथमावृत्ति सं० १९९०, पृ० २७४–६)

ध्यान देने की बात है कि 'अनन्य' कवि तुलसी के समकालीन और फलतः उनके ऋणी भी हैं। उनका एक पद पुकार कर कहता है कि वस्तुतः वस्तुस्थिति क्या है। 'अनन्य' किस उल्लास और विश्वास से स्वयं तुलसी से बोल पड़ते हैं—

तब ते कहाँ पतित नर रह्यौ।
जब ते गुर उपदेस दीन्ही नाम-नौका गह्यौ।
लोह जैसे परसि पारस नाम कंचन लह्यौ।
कस न कसि कसि लेहु स्वामी अज न चाहन चह्यौ।

उमरि आयौ बिरह बानी मोल महगे कह्यौ।
खीर नीर ते भयो न्यारो नर्क ते निर्बह्यौ।
मूल माखन हाथ आयौ त्यागि सरवर मह्यौ।
अनन्य माधौ दास तुलसी भव जलधि निर्बह्यौ।

[श्री गोसाईं चरित्र, पृ० ६५-६]

'अनन्य माधव' तुलसीदास के विषय में जो कुछ कहते हैं उसको प्रमाणकोटि में न मानना संगत नहीं ठहरता। नाभादास ने जो 'बाल्मीकि' 'तुलसी भयो' का उद्घोष किया उसकी यथार्थता संदिग्ध नहीं। 'अनन्य' उसी की साखी भरते हैं। और यह बताते हैं कि किस प्रकार तुलसी के उपदेश से उनका निस्तार हुआ।

यहाँ यह भी स्मरण रहे कि इस 'अनन्य' का अति संक्षिप्त परिचय है—

निकट रसूलाबाद के, ग्राम कोटरा नाम।
जहाँ अनन्य माधौ भए, विदित जासु गुन ग्राम॥

[वही, पृष्ठ ६४]

अतएव अवध प्रांत के इस प्राणी ने तुलसीदास के विषय में जो कुछ लिखा है उसकी किसी दशा में भी उपेक्षा नहीं हो सकती। 'सिया राम दृग दाईं बाईं' में और कुछ नहीं 'सिया राम मय सब जग जानी' का विलास है।

अति विचित्र चरित्र बानी प्रगट कीनी भाय की।

में चरित्र का संकेत 'रामचरितमानस' से हो तो इसमें संदेह क्या! इसके आगे जो—

कुटिल कलि के जीव तिनपै अति अनुग्रह तुम कर्‌यो।
त्रिविध ताप सँताप हिय को दया करि सबको हर्‌यो॥

कहा गया है उसमें नाभादास के 'कलिकुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि 'तुलसी' भयो।' का विधान है ही। साथ ही उसमें हैं—

मानियत महामुनी सो।

का समर्थन भी। परंतु इसके पश्चात् जो 'जै जै श्री तुलसी तरु जंगम राजई।' कहा गया है वह उस समय के प्रसिद्ध वेदांती श्री मधुसूदन सरस्वती के इस कथन का अनुवाद है—

आनन्दकानने ह्यस्मिन् जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

'अनन्य' रामभ्रमर के रस रहने से वहाँ तक प्रभावित हैं कि इसके आगे तुलसी के विषय में कुछ और कहने में अपने को असमर्थ पाते हैं। किस विवशता में कहते हैं—

अति ही अमित महिमा तिहारी कहौ कैसे गाइकै।

तुलसी की महिमा के गुणगान से विरत हो 'अनन्य' तुलसी के जीवन के विषय में जो कुछ कहते हैं उसकी गहरी गवेषणा होनी चाहिए। इससे स्यात् 'तुलसी' और 'तुलसीदास' का रहस्य भी खुल जाय और यह भी विदित हो जाय कि तुलसी का सखी संप्रदाय से भी कभी कुछ नाता था। कहते हैं—

तुलसी सु वृंदा सखी को निज नाम ते वृंदा सखी।
दास तुलसी नाम की यह रहसि मै मन में लखी॥

वृंदा ने तुलसी का रूप धारण किया और तुलसी ने तुलसीदास का। यही तो इसका रहस्य है।

तुलसी के अतीत को दृष्टिपथ में रखकर देखिए यह कि जो इसके आगे—

कोसल देस उजागर कीनौ। सबहिन को अद्भुत रस दीनो॥

कहा गया है उसका मर्म क्या है। 'कोसल देस उजागर कीनौ' का अर्थ यह तो लिया नहीं जा सकता कि अपनी रचनाओं से 'कोसल देस' को प्रकाशमान् कर दिया। कारण कि तुलसीदास ने कहीं 'कोसल देश' का विशेष कीर्तन नहीं किया है। हाँ, अवधपुरी का गुणगान उनमें अवश्य पाया जाता है। किंतु साथ ही 'चित्रकूट' और 'काशी' की महिमा भी उनके यहाँ कम नहीं है। निदान मानना पड़ता है कि

इसका निर्देश कुछ और ही है। हो सकता है कि इसमें तुलसीदास के आविर्भाव वा प्राकट्य का उद्घोष हो। अपनी पक्की धारणा तो यही है।

'अद्भुत' का अर्थ भी कुछ समझ लेना चाहिए। 'अनन्य' कहते हैं—

सबहिन को अद्भुत रस दीनौ।

यह 'अद्भुत' रस सचमुच सबको प्राप्त हो गया। किंतु 'अनन्य' का जी इससे नहीं भरा। तभी तो इसके आगे खुलकर कहते हैं—

बस निरंतर रहत जिनके नाथ रघुबर-जानकी।
ते दासतुलसी करहु मो पर दया दंपति-दान की॥

स्मरण रहे 'अनन्य' जिस 'दंपति दान' की याचना करते हैं उसका सच्चा स्वरूप है—

दोउ मिलि रंगमहल मैं सोहैं। सब सखियन के मन को मोहैं॥

किंतु यह रंगमहल ही सब कुछ नहीं है। अतएव उनकी हार्दिक कामना है—

सकल सखियन में सिरोमनि दासतुलसी तुम रहौ।

तुलसीदास 'सकल सखियन में' शिरोमणि होकर रहें तो रहें, पर करें क्या? 'अनन्य' उसी उद्रेक में इसको भी विदित कर देते हैं—

करौ सेवन रुचिर रुचि सो सुजस की बानी कहौ।

'रुचिर रुचि' से सेवा करना व्यक्तिगत साधना है। किंतु 'सुजस की बानी' कहना समष्टि को दृष्टि में रखकर समाज में फूलना फलना अतएव यहाँ तुलसीदास का 'लोक मंगल' अभीष्ट है। 'अनन्य' उसी पर रीझकर शरणागत होते हैं और खुलकर किस उल्लास में कह जाते हैं—

दास यह तुव अनन्य तापर रीझि चरनन तर परी।
अहो तुलसीदास तुम्ह ही कृपा करि अपनी करी॥

संक्षेप में तुलसीदास के संबंध में उनके चरणभक्त 'अनन्य' ने जो कुछ लिखा है वह यही है। इसकी मीमांसा में पड़ना तो दूर रहा।

तुलसीदास के अध्येताओं ने इधर ध्यान भी नहीं दिया यद्यपि 'ब्रजनिधि ग्रंथावली' में इसका प्रकाशन संवत् १९९० में हो गया था। और इस जन ने जहाँ तहाँ इसका उल्लेख भी कर दिया था।

तुलसी के समकालीन अनेक ग्रंथांश इधर प्रकाश में आने लगे हैं और उनको लेकर शोध का कार्य भी तीव्रता से आगे बढ़ रहा है। हम ऐसे ग्रंथांशों को महत्व की दृष्टि से नहीं देख पाते और फलतः उनको किसी न किसी आधुनिक प्रेरणा का फल समझते हैं। अतएव उनकी चर्चा से कोई लाभ नहीं। तथ्य की बात प्रत्यक्ष आ गई और इससे प्रगट हो गया कि तुलसीदास का अपने जीवनकाल में क्या महत्व था और देखे भी जाते थे किस महिमा की दृष्टि से। उनके उपरांत भी उनकी महिमा में प्रायः कविगण कुछ न कुछ कहते ही रहे और किसी किसी ने तो उन पर एक खंड ही रच डाला। आवश्यकता है उनके साधुसंग्रह की। अच्छा होगा थोड़े में कुछ उनकी बानगी भी ले ली जाय किंतु ऐसा करने के पहले जान यह लेना है कि तुलसीदास के रचित ग्रंथों के विषय में विख्यात क्या है। सो एक कवि का निवेदन है—

रामलला नहछू[1] त्यों विरागसंदीपिनी[2] हूँ,
बरवै[3] बनाई बिरमाई मति साईं की।
पारबती[4], जानकी[5] के मंगल ललित गाय,
रम्य रामआज्ञा[6] रची कामधेनु-गाईं की॥
दोहा[7], औ कवित[8], गीतबंध[9], कृष्ण[10] कथा कही,
रामायन[11], बिनै[12] माँह बात सब ठाईं की।
जग में सोहानी, जगदीश हूँ के मनमानी,
संत सुखदानी, बानी तुलसी गोसाईं की॥

गोस्वामी तुलसीदास की वाणी के जो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं उनका परिचय यही है।

इनके अतिरिक्त भी कतिपय ग्रंथ तुलसी कृत कहे जाते हैं जिनका लेखा अभीष्ट नहीं, हाँ, इस प्रसंग में 'बनादास' के इस कवित को दृष्टि में रखना चाहिये—

विनय की बड़ाई करौं कौन मुख लगाई नहिं
पाई मति शेष की निकाई है अनूप जू।
बरवै कवितावली दोहावली अनूठी आसै
बहुते गीतावली भरी है रामरूप जू॥
बनादास बरणौ छंदावली सलाकाराम
कामतरु रमायण सकल बोध खूम जू।
दोहा चौपाई छंद सोरठा बखानै कौन
थाह कैसे पावे ग्रंथ तुलसी कवि भूप जू॥

भाषा भी न जाने कितने कवियों ने तुलसी की 'बानी' के विषय में कुछ न कुछ कह अपने को धन्य किया है। श्री रामगुलाम द्विवेदी लिखते हैं—

जै जै श्री तुलसी की बानी।
बिसद बिचित्र चित्र पद मंडित भक्ति मुक्ति बरदानी॥
लीन्हो बेद पुरान शास्त्र मत मुनि जन ललित कहानी।
ज्ञान बिराग ब्रह्म सुख जननी करम धरम नय सानी॥
उदित भई जा दिन ते जग मैं तब तें बुधन बखानी।
अखिल अवनि मंडल परिपूरित को अस जो नहिं जानी॥
प्रगटी राम चरन रति जहँ तहँ भूरि विमुखता भानी।
'रामगुलाम' सुनत गावत हिय आवत सारंग पानी॥

श्री रामगुलाम द्विवेदीजी ने तुलसी की 'बानी' की जिस व्यापकता और सरसता का उल्लेख किया है उसी के विषय में एक दूसरे महानुभाव का मत यह है—

जयति जय जयति तुलसीस बानी।
कविन सुखदायी भाव अंगन भरी छरी भव सूल रस चाव खानी॥
पढ़त जेहि होत नर राममारग निरत लही जग जाचना आस हानी।
लोक परलोक सुख देति निज जनन की ताप हरि लेत आनंद खानी॥
पंच ऊपासना भाव चारौ भरी खरी सब भाँति वेदन पुरानी।
अंग मानस लिए सरजू भल भाव हिये दिए जगजीव के अभय जानी॥
कहाँ लौ कहै कवि देखि तेहि बरन छवि रही रस जगत आनंद सानी।
'द्विज वंदन' हिये बसै सकल प्रान जहाँ बसै खसै नाहिं कभी यह नेम ठानी॥

किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि तुलसीदास की 'बानी' यहीं तक सीमित है। नहीं, उसकी पहुँच बहुत दूर तक हृदय के कोने कोने में व्याप्त है और उसकी संजीवनी शक्ति से आज भी यह जीव जीवित है। 'महाराज' कवि कहते है—

अब लौ सब नेम धर्म संजम सिराय जाते,
माता पिता बालक को बेद न पढ़ावते।
आमिष अहारी बिभचारी होते भारी लोग,
कोऊ रघुनाथ जू की चरचा न चलावते।
छूटि जाते नेम धर्म आश्रम के चारो बर्न,
ऐसे कलिकाल मे कराल दुख पावते।
होते सब कुचालो सो सुचाली भनै 'महाराज',
जो पै कवि तुलसीदास भाषा न बनावते॥

यह तुलसीदास की 'भाषा' का ही तो प्रताप है कि इसी से आवेश में आकर किस उमंग और उल्लास में श्री अंबिकादत्त व्यास कहते हैं—

रहु रे कलंकी कलि कपटी कुचाली मूढ़,
भागु भागु नातो गहि पटकि पछारोगो।
तुलसी गुसाईं जू के काव्य के किला सो काढ़ि,
दोहरी दुनाली बंदूकन सो मारोंगौ।
कबि 'अंबादत्त' सोरठा के सैफ साफ करि,
छंदन के छुरां सों गरब गहि गारोंगो।
चारु चउपाइन के चोखे चोखे चाकू लेइ,
आजु तोहि टूक टूक काटि काटि डारोगो॥

कवि 'अंबादत्त' को कलि को टूक टूक कर डालने का जो इतना साहस हुआ है उसका कारण है तुलसीदास की रचना का प्रभुत्व। उसमें इतनी शक्ति है कि उसके सामने किसी कलि की चल नहीं सकती। 'तोष' कवि लिखते हैं—

यह खानि चतुष्फल की सुखदानि अनूपम, आनि हिये हुलसी।
पुनि संतन के मन भृंगन को अति मंजुल माल लसी तुलसी।
पुनि मानुष के तरिबे कहँ 'तोष' भई भवसागर के पुलसी।
सब कामन दायक कामदुहा सम राम कथा बरनी तुलसी॥

तुलसी की 'राम कथा' कुछ ऐसी ही है कि उसके गान से सब का इष्ट सध जाता है। श्री रामचरणजी का पक्ष है—

शुचि ज्ञान बिराग बिवेकमयी शम तोष दया दम शील बसी।
नवधा पर प्रेम परा भगति सब संतन के हिम में हुलसी।
शुभ चार पदारथ पूरि भए मह मोह नदी मद को पुलसी।
दृढ़ रामचरण अति प्रीति करै रघुबीर कथा बरणी तुलसी॥

इतना कहने से रामचरणजी को संतोष कहाँ! न जाने कितने कवियों ने 'राम कथा' को अपना विषय बनाया, परंतु सच तो यह है कि उनकी दृष्टि में राम रस घुला मिला है तुलसी की 'राम कथा' में ही। इसी से उनका निष्कर्ष है—

निगमागमसार शृंगार सब ग्रंथन को,
पियो है पुराण सबै जैसे वत्स माई के।
रस को शृंगार सार संत उर हार लसै,
कीन्ह्यौ है अहार ज्ञानी सदा सुखदाई के।
सिंधु जग जराज औ सोपान रामधाम के,
दशधा के साज सज्यौ मिलै हेतु सांई के।
'रामचरण' रामकथा कीन्ह्यौ है बखान सबै,
राम रस बाँटे पर्यो तुलसी गोसांई के॥

'राम रस' का स्वाद तुलसी को कैसे प्राप्त हुआ इसका भी रूपक देख लीजिए—

हरी भरी बाटिका सुधर्म की, विशाल अति,
जाके देखे छूटि जात सबै दुख द्वंद है।
व्यास, शुक, नारद, मुनीश, शेष शारदादि,
पाराशर, बालमीक, मालिन को वृन्द है॥
चार सम्प्रदाय की बनाई चार रौशैं 'रंग',
शास्त्र, वेद तरु पाँति, राजत स्वच्छन्द है।
चंचरीक 'तुलसी', सप्रेम ताके मध्य पैठि,
अजत्र निकास्यौ 'रामयश' मकरन्द है॥

किं बहुना। तुलसीदास की कविता के संबंध में संक्षेप में यह सुन लीजिए कि—

साधन की सिद्धि, ऋद्धि सगुन-अराधन की,
सुभग समृद्ध-वृद्धि सुकृत-कमाई की;
कहै 'रत्नाकर' सुजस कल कामधेनु,
ललित लुनाई रामरस रुचिराई की।
सज्जनि की बारी, चित्रसारी भूरि भावन की,
सरबस-सार सारदा की निपुनाई की;
दास तुलसी की नीकी कविता उदार चारु,
जीवन आधार औ सिंगार कविताई की।

यदि तुलसीदास की कविता में जीवन का आधार है तो इसमें आश्चर्य क्या। जो हिंदू ही नहीं अहिंदू भी उसका आदर सत्कार करते हैं। 'वनादास' ने अपने एक कवित्त में इसका निर्देश किया है। कहते हैं—

छन्द दोहा सोरठ कवित्त पद दण्डक जे उपमा न पाई कहुँ एकहू चौपाई को।
श्रुति औ पुराण देवबानी ते सयानी जानी मानी मन सबको निशानी मुक्ति दाई को।
हिन्दू औ तुरुक अँगरेजहू प्रमाण देत हिये माहिं राखै षट दरशन बड़ाई को।
वनादास चारि छूट फैली फल चारि देत हेत मनकामना न राखै दुचिताई को।

तुलसीदास की कविता के संबंध में सामान्यतः इतना निवेदन करने के पश्चात् देखना यह है कि उनकी विशेष रचना 'रामचरितमानस' के विषय में लोगों की धारणा क्या है। सो सबसे पहले वेनी कवि के इस वचन को कंठ कीजिए—

वेद मत सोधि सोधि बोध के पुरान सबै,
संत औ असंतन को भेद को बतावतो ?
कपटी कुराही कूर कलि के कुचाली जीव,
कौन राम नाम हूँ की चरचा चलावतो ?

'बेनी' कवि कहै मानो मानो हो प्रतीति यह,
पाहन हिये में कौन प्रेम उमगावतो ?
भारी भवसागर उतारतो कवन पार,
जो पै यह रामायण तुलसी न गावतो ॥

बेनी कवि ने रामायण की प्रशंसा जो आध्यात्मिक दृष्टि से की है उसे दृष्टि में रख कर देखें यह कि इसमें रीवाँ नरेश रघुनाथ सिंह को कितने पदार्थ गोचर होते हैं। आप का निर्णय है—

उपमा अनेक धुनि भाव रस उक्ति जुक्ति,
छंद औ प्रबंध सनबंध सिख देस काल।
ज्ञान जोग भक्ति अनुराग औ बिराग बिनै,
नीति परतीति प्रीति रीति भीति जगजाल।
लोक गति बेद गति चित्र गति पर गति,
ईस गति जाति राम रति तति सति हाल।
तुलसी जू एते गायो रामायन 'रघुराज',
बरबस कीन्हो निज बस दसरथ लाल ॥

तात्पर्य यह कि 'रामचरितमानस' में शास्त्र, काव्य, लोक परलोक, रीति, नीति आदि सभी कुछ है। जीवन के प्रकाश का कोई ऐसा अंग नहीं जिसका विधान 'रामचरितमानस' नहीं। अधिक विस्तार से कोई लाभ नहीं। पथप्रदर्शन के लिये इतना पर्याप्त है। हाँ, सारांश के रूप में इतना हृदयंगम कर लें कि आधुनिक कवि स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद की वाणी में तुलसी ने सार रूप में जो किया वह है—

"अखिल विश्व में रमा हुआ है राम हमारा।
सकल चराचर जिसका क्रीड़ा भूमि पसारा ॥"
इस शुभ सत्ता को जिसने प्रत्यक्ष किया था।
मानवता को सदय ज्ञानका रूप दिया था ॥
नाम निरूपण किया, रत्न से मूल्य निकाला।
अंधकार भव बीच नाम-मणि-दीपक वाला ॥

दीन रहा, पर चिन्तामणि वितरण करता था।
भक्ति सुधासे जो संताप हरण करता था॥
प्रभुका निर्भय सेवक था, स्वामी था अपना।
जाग चुका था, जग था जिसके आगे सपना॥
प्रबल प्रचारक था जो उस प्रभुकी प्रभुता का।
अनुभव था संपूर्ण जिसे उसकी विभुता का॥
राम छोड़ कर और की, जिसने कभी न आस की।
'रामचरितमानस-कमल' जय हो तुलसीदास की॥

और इसी से आज की भाषा में 'तुलसी की जय' का अर्थ है मर्यादा की जय! मानवता की जय!! जीव की जय!!!

———